पञ्चदशी

(तत्त्वोन्मीलन)

रमाकान्त शुक्ल

ग्रन्थ-परिचय

प्रस्तुत ग्रन्थ शाङ्कराद्वैत वेदान्त परम्परा के प्रवर आचार्य विद्यारण्य की प्रसिद्ध रचना 'पञ्चदशी' से सम्बद्ध है। इसमें अद्वैतवेदान्तीय परम्परा के तात्त्विक / दार्शनिक सिद्धान्तों का समीक्षण करते हुये पञ्चदशी को अभिप्रेत दार्शनिक तत्त्वों को मीमांसीत करने का प्रयास किया गया है। यह मीमांसा प्रास्थापिकी तथा पूर्व शकल से पृथक् उत्तर शकल के दश परिच्छेदों में वितत है।

मेरा विश्वास है कि, यह ग्रन्थ विद्यारण्य / पञ्चदशी की दार्शनिक मान्यताओं के जिज्ञासुओं के लिये तो उपयोगी सिद्ध ही होगा, साथ ही साथ भारतीय दर्शन की वेदान्त-परम्परा के सम्बोद्य मे भी इसकी अपनी भूमिका प्रतिष्ठित होगी।

ISBN : 81-87418-69-9

मूल्य : ४००

पञ्चदशी

तत्त्वोन्मीलन

लेखक

डॉ० रमाकान्त शुक्ल

2003

न्यू भारतीय बुक कार्पोरेशन

दिल्ली भारत

प्रकाशकः
न्यू भारतीय बुक कार्पोरेशन
दुकान न० १८, द्वितीय तल ५५७४ए,
चौधरी काशीराम मार्किट,
दुर्गा काम्प्लेक्स, न्यु चन्द्रावल,
दिल्ली—११०० ०७
E-mail deepak_nbbc@hotmail.com.

प्रथम संस्करण : २००३

मूल्य : ४००

ISBN. No. ८१-८७४१८-६९-९

मुद्रकः
अमर जैन प्रिंटिंग प्रेस
दिल्ली—११०००७

विषय-सूची

प्रकाशकः
न्यू भारतीय बुक कार्पोरेशन
दुकान न० १८, द्वितीय तल ५५७४ए,
चौधरी काशीराम मार्किट,
दुर्गा काम्प्लेक्स, न्यु चन्द्रावल,
दिल्ली—११०० ०७
E-mail deepak_nbbc@hotmail.com.

प्रथम संस्करण : २००३

मूल्य : ४००

ISBN. No. ८१-८७४१८-६९-९

मुद्रकः
अमर जैन प्रिंटिंग प्रेस
दिल्ली—११०००७

विषय-सूची

पञ्चदशी :
तत्त्वोन्मीलन
विवरणिका

पञ्चदशी : तत्त्वोन्मीलन 'संज्ञक यह ग्रन्थ आचार्य विद्यारण्य प्रणीत 'पञ्चदशी' की तात्त्विक (दार्शनिक) अङ्गीकृति को अपना आलोच्य बनाता है। विद्यारण्य शाङ्कर अद्वैत-वेदान्त के (चतुर्दश शदी के) एक प्रसिद्ध आचार्य रहे हैं—इससे हम सब विदित ही हैं। आचार्य विद्यारण्य की प्रसिद्धि शाङ्कर-परम्परा मे 'पञ्चदशी' के ही कारण विशेष रही। अनुष्टुप् सदृश लघु समवृत्त मे अद्वैत-वेदान्त के तत्वों का सरल भाषा मे मार्मिकोद्घाटन—पञ्चदशीकार जैसे प्रातिम आचार्य के द्वारा ही सम्भाव्य है।

'पञ्चदशी' के कतिपय प्रकरणो का अध्यापन भारत के अनेक विश्वविद्यालयों के संस्कृत-स्नातकोत्तर कक्षाओं मे पाठ्यक्रम के रूप मे किया जाता ही है, साथ ही न केवल शाङ्कर अद्वैत, अपितु वेदान्त-परम्परा के अध्ययन, अनुशीलन एवं शोध-सन्दर्भ मे भी इस ग्रन्थ का विशिष्ठ स्थान है। इसके अतिरिक्त भारतीय संस्कृति एवं भारतीय दर्शन की प्रबोधीय समग्रता मे भी इसकी अक्षुण्ण भूमिका है। इसकी इन विशेषताओं के कारण संस्कृत तथा भारतीय दर्शन का विद्यार्थी होने के फलस्वरूप मेरे मन मे यह चेतना जागृत हुयी कि, इस पर एक समीक्षात्मक ग्रन्थ का प्रणयन किया जाय। ग्रन्थ-लेखन के पीछे एक कारण यह भी रहा कि मेरी जानकारी मे (कतिपय टीकाओं के अतिरिक्त) हिन्दी मे 'पञ्चदशी' पर कोई ऐसा ग्रन्थ नहीं है, जो इसमे विचारित दार्शनिक तत्त्वों पर समग्रता मूलक प्रकाश प्रस्तुत करता हो।

इस ग्रन्थ के दो शकल (खण्ड) हैं– (१) पूर्व शकल एवं (२) उत्तर शकल।

पूर्वशकल :- इसमे दो परिच्छेद हैं। 'प्रथम परिच्छेद मे 'कृतित्व' शीर्षक के अन्तर्गत पञ्चदशी रचनाकार के सम्बन्ध मे अनेक सम्भावनाओं की चर्चा करते हुये अन्ततः इसका रचनात्व भारतीतीर्थ के सहयोगपूर्वक विघारण्य मे प्रतिपादित है। द्वितीय परिच्छेद का शीर्षक 'कृति' है। इसमें पञ्चदशी के पञ्चदशप्रकरणो मे मीमांसित विषयों के विवेचन-पूर्वक पञ्चदशी की भाषा-शैली पर प्रकाश डाला गया है।

'उत्तर शकल' का सम्बन्ध 'तत्त्व-मीमांसा' से है। इसमे पञ्चदशी को अभीष्ट शुद्ध, अनिर्वचनीय एवं चैतन्याभास—दार्शनिक तत्त्वों का विवेचन करने के लिये 'दश-परिच्छेद' किये गये हैं।

प्रथम परिच्छेय : यहाँ आत्मा/ब्रह्म तत्त्व का बृहद् पर्यालोचन है। इसमे प्रथमतः आत्म-तत्त्व का वैज्ञानिक महत्त्व तथा उपनिषदों मे आत्मा के स्वरूप आदि पर दृष्टि-पात किया गया है। इसके पश्चात् पञ्चदशी को इष्ट आत्मा (अथवा ब्रह्म) के व्यापक स्वरूप एवम् इन दोनो की एकता इत्यादि पर विस्तारपूर्वक विचार किया गया है।

द्वितीय परिच्छेद : इसमे अनिर्वचतीय तत्त्व की समीक्षा है। पूर्व मे अनिर्वचनीय माया तथा अविद्या के वेदों एवं वेदान्त-सम्प्रदायों मे प्राप्त स्वरूप को प्रकाश मे लाया गया है। इसके अनन्तर शाङ्कर मत के आचार्यों के विचारों की प्रसङ्गानुसार चर्चा करते हुये, विद्यारण्य को अभिप्रेत माया और अविद्या के रूप की सम्यक् व्याख्या की गयी है।

तृतीय परिच्छेद : इस परिच्छेद मे सृष्टि एवं द्वैत पर प्रकाश डाला गया है। 'सृष्टि' के अन्तर्गत पहले शाङ्कर वेदान्त को मान्य अजातवाद, दृष्टि-सृष्टि तथा 'सृष्टि-दृष्टि' का स्वरूप स्पष्ट करते हुये, अनन्तर पञ्चदशी को अभिमान्य सृष्टि के स्वरूप, इसके विकास और इसकी अनिर्वचनीयता इत्यादि का आलोकन किया गया है। 'द्वैत' मे ईश्वर तथा जीव द्वारा सृष्ट द्वैत-प्रपञ्च, इसका शास्त्रीय-अशास्त्रीय रूप एवम् इनकी असत्तात्व आदि का विवेचन उपलब्ध है।

चतुर्थ परिच्छेद : इसमे चैतन्याभास अर्थात् उपहित तत्त्व की समीक्षा है। ऐसे दो तत्त्व हैं— ईश्वर तथा जीव। 'ईश्वर' शीर्षक मे माया-प्रतिबिम्बित ब्रह्म की ईश्वर-रूपता और अन्तर्यामी, सूत्रात्मा एवं विराट् का ईश्वरत्व तथा विश्व के प्रति इसी मायोपहित चैतन्य की कारणता और इसके स्वरूप का मिथ्यात्वादि यहां विवेचित हैं।

पञ्चम परिच्छेद : इस परिच्छेद मे जीव की मीमांसा है। पञ्चदशी को अङ्गीकार्य अविद्या मे प्रतिबिम्बित चैतन्य अर्थात् जीव के स्वरूप, अज्ञान, आवरण, विक्षेप आदि इसकी सप्त अवस्थाओं आदि पर यहां विस्तृत विचार किया गया है। इसमे जीव को विदाभास के रूप मे प्रतिपादित करते हुये इसके कूटस्थ तथा साक्षी रूप पर भी प्रचुर चर्चा की गयी है। एकानेकत्व के साथ ईश्वर की भांति जीव के आभासिक रूप के असत्तात्व का भी यहाँ प्रतिपादन है।

षष्ठ परिच्छेद : यह परिच्छेद 'मुक्ति-संसाधन के लिये समर्पित है। 'मुक्ति-संसाधन' मे श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन का रूप, विद्या का परोक्ष एवम् अपरोक्ष प्रकार, ब्रह्म के अपरोक्ष-बोध मे अतीत, अनागत तथा वर्तमान अवरोधक कारण, इनके अपाकरणार्थ उपाय आदि का यहाँ विचार किया गया है। मुमुक्षु मे तत्त्व-ज्ञान के साथ साथ विरति और उपरति की आवश्यकता, निर्गुणोपासना एवं योग मे भी आत्मसाक्षात्कारिणी अर्हता—के स्वरूप का विशद प्रतिपादन करने का प्रयास किया गया है।

सप्तम परिच्छेद : यह परिच्छेद 'मुक्ति से सम्बद्ध है। इसमे अद्वैत वेदान्त की मुक्ति पर दृष्टि डालते हुये पञ्चदशी द्वारा स्वीकृत मुक्ति का विवेचन है। अनेक प्रकारक पूर्वपक्षीय शङ्काओं के उत्थापन एवं निराकरण पूर्वक ब्रह्म के परोक्ष तथा अपरोक्ष ज्ञान की स्थिति, जीवन्मुक्ति का स्वरूप, आनन्द-त्रय के विद्यानन्द के दुःख राहित्य, कामाप्ति, कृतकार्य और प्राप्य-प्राप्ति-इस आनन्द चतुष्टयी की मुक्ती मे लब्धि, जीवन्मुक्त होने पर भी जीव को इच्छा, अनिच्छा तथा परेच्छा-प्रारब्ध का भोग आवश्यक, प्रारब्ध भोगानन्तर-विदेह मुक्ति-प्रभृति विषय यहाँ के प्रतिपादन हैं।

अष्टम परिच्छेद : 'महावाक्य' शीर्षक से आबद्ध इस परिच्छेद मे चतुर्वेदों से सम्बद्ध ऐतरेयापनिषद् के 'प्रज्ञानं ब्रह्म' (ऐत. ५३), बृहदारण्यक के 'अहं ब्रह्मास्मि' (बृह. १/४/१०), छान्दोग्योपनिषद् के 'तत्त्वमसि' (छा. -६/८/७) तथा माण्डूक्योपनिषद्के 'अयमात्मा ब्रह्म' (मा.-२)- इन महावाक्यों पर नानाप्रकारकीपूर्वपक्षीय शङ्काओं की स्थापनाओं तथा उत्तर पक्षीय निराकरणो के साथ समीक्षण प्रस्तुत है।

नवम परिच्छेद : इसके विवेच्य का शीर्षक 'परमार्थ' है। इसमे वेदान्त तथा आगम संश्रयी दार्शनिक शाखाओं के परमार्थ की समीक्षात्मक चर्चा करके, शाङ्कर वेदान्त के परमार्थ को सृष्टि निरपेक्ष एवं सृष्टि-सापेक्ष

आलोकित करते हुये, पञ्चशी को अभीष्ट 'एकमेवाद्वितीयम्' परमार्थ की अनेक तथ्यों के उद्भासनपूर्वक चर्चा की गयी है। अन्ततः पञ्चदशी को इष्ट परमार्थ-प्रतिष्ठापन मे द्वैत की अवास्तविकता, मात्र अद्वैत का सत्यत्व तथा सदद्वैत की भावरूपता-इन तीन विन्दुओं का प्रतिपादन किया गया है।

दशम परिच्छेद : यह इस कृति का अन्तिम परिच्छेद है। यहां अध्यास, आभास, प्रतिबिम्ब तथा अवच्छेद का शाङ्कर वेदान्तानुकूल परिचय देते हुये, इनके ऊपर पञ्चदशी के अभिमत पर प्रकाश डाला गया है।

इस ग्रन्थ मे पूर्वपक्ष तथा उत्तरपक्ष की प्रस्तुति के साथ साथ दृष्टान्तों एवम् अन्य आचार्यों के विचारों का समीक्षण करते हुये, पञ्चदशी के स्थाप्य को उद्भासित करने का प्रयास किया गया है। इस बात का पूर्ण ध्यान रखा गया है कि, पञ्चदशी के सिद्धान्तों का निर्वचन मूल-पाठ संश्रयी अवश्य हो।

मेरा यह प्रयास मेरे सम्मद का विषय तभी बन सकता है, जब सुज्ञतत्त्वानुरागियों, जिज्ञासुओं एवम् अनुसन्धान कर्तृनिचय को इससे तोष की लब्धि हो।

सधन्यवाद !

विनिवेदक
डॉ. रमाकान्त शुक्ल,
प्रवाच एवम् अध्यक्ष,
संस्कृत-विभाग,
इन्दिरा कला संगीत
विश्वविद्यालय,
खैरागढ़ (छ. ग.)

प्रास्थापिकी

विश्व के रहस्यात्मक अस्तित्व को लेकर दर्शन-विद्या का प्रादुर्भाव माना जाना अनुपयुक्त नहीं प्रतीत होता। सृष्टि के आदि काल मे ही जब से मनुष्य मे सोचने समझने के बौद्धिक सामर्थ्य का उदय हुआ है, तब से वह जगत् एवं प्राणि-जीवन के अविर्भाव के विषय में विचार करता आ रहा है। ऋग्वेद के दशम मण्डल का निम्न (१२९७) मन्त्र-

को अद्धा क इह प्रवोचत्
कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः
अर्वाग् देवा अस्य विसर्जनेन
अथा को वेद यत् आ बभूव॥

मानव की एतद् विषयिणी जिज्ञासा की ही विज्ञप्ति है।

पश्चिम मे दर्शन-विद्या ने (फिलासफी के रूप मे) विज्ञान के साथ तादात्म्य रखकर और पृथक्-अस्तित्व के द्वार से भी जगत् के प्रत्यक्षा-प्रत्यक्ष रूप पर विचार किया। इसकी इस मीमांसा मे मनोविज्ञान से लेकर नीति, सौन्दर्य, तर्क एवं प्रमाण प्रभृति शास्त्रों के विचार्य विषय भी समाहित रहे। भारत के भी दार्शनिक चिन्तन मे तर्क एवं प्रमाण के साथ काव्य-शास्त्र तथा शब्द-शास्त्र को प्रतिष्ठा दी गयी।

जीव (प्राणियों), जगत् (जागतिक पदार्थों) तथा ब्रह्माण्ड के विषय मे दार्शनिको ने तो विचार किया ही, साथ ही साथ ये आधुनिक विज्ञान के भी मीमांस्य रहे। यह बात भले ही है कि, इन दोनो के वैचारिक क्षेत्र पृथक्-पृथक् हैं। इसमे संशीति नहीं कि, प्रयोगों, परीक्षणो तथा अनुसन्धानो के आधार पर आज के विज्ञान ने खगोल, भौतिकी, रसायन, चिकित्सा तथा यान्त्रिकी आदि के ज्ञान मे भौतिक स्तर पर चामत्कारिक सफलता अर्जित की है। प्रकृति मे निहित नाना प्रकार के ऊर्जात्मक एवं तरङ्गमयी शक्तियों तथा आकाश मे स्थित ग्रहोपग्रहों के विषय मे अभिनव जानकारियों की प्राप्ति-ये अधुनातन विज्ञान की उपलब्धियां हैं। यह

अनुल्लेख्य नहीं कि, आकाश मे कृत्रिम उपग्रहों की प्रतिष्ठापना द्वारा, मोबाइल, इण्टरनेट तथा कम्प्यूटर प्रभृति सौविध्यों की लब्धि कराके आद्य विज्ञान ने असम्भव लगने वाले कार्यों मे सम्भवता का सर्जन किया है, पर इनसे प्रकृति का दोहन भी प्रचुरतः हुआ है। आज की वैज्ञानिक उन्नति के फलस्वरूप मनुष्य चन्द्र, मङ्गल आदि लोकों को भी अपना निवास स्थल बनाने का प्रयास कर रहा है।

वैश्व पदार्थों तथा ब्रह्माण्ड के विषय मे साम्प्रतिक विज्ञान ने शोधों, प्रयोगों एवं यन्त्रोपकरणो के जो ज्ञातव्य लब्ध किये हैं, वे अनुमान, अनुभव तथा आप्त प्रमाणो के द्वार से प्राप्त हुयी दर्शन की एतद्विषयक जानकारियों पर प्रश्न चिह्न लगा सकते हैं। पर इसका तात्पर्य यह नहीं लिया जाना चाहिये कि, दार्शनिक स्थापनायें तथ्य-शून्य हैं और वैज्ञानिक प्रतिष्ठापनायें याथार्थ्य का सातत्य लिये हुये हैं। वस्तुतः परावर्त (एक सदृश न रहना) एवं विनाश (अभिव्यक्त का अदर्शन) जगत् की प्रकृति है। अतः यहां कोई भी वस्तु अथवा कोई भी मान्यता सदा एक जैसी नहीं रह पाती। इस समय दृष्टि-गत होने वाली विज्ञानज प्रलब्धियां भी अनेक सैद्धान्तिक परिवर्तनो, परिशोधनो की ही परिणति है। यथा, वर्तमान अतीत की बहुत सी जानकारियों को असिद्ध करता हुआ दिखता है तथा अनागत भी वर्तमान की बहुत सी सैद्धान्तिक मान्यताओं को असत्य सिद्ध करने का सामर्थ्य रखता है। यदि जगत् का स्वरूप अनन्त है, तो इसमे ज्ञान का स्वरूप भी नान्त है। इसी प्रकार विविधता यदि इसकी प्रकृति है, तो विभिन्नता इसके बोध की नियति है।

दार्शनिक तथा वैज्ञानिक स्थापनाओं पर तुलनात्मक दृष्टिपात करते समय हमे इस बात का पूर्ण ध्यान रखना होगा कि, इन दोनो के मीमांस्य क्षेत्र पृथक्-पृथक् रहे हैं। विज्ञान जहाँ प्राणी, विश्व एवं ब्रह्माण्ड के प्राधान्येन भौतिक, दृश्य और स्थूल परिक्षणार्ह रूप को अपना विवेच्य बनाता है, वहीं दर्शन का प्रामुख्येण उद्देश्य जीव, जगत् तथा ब्रह्माण्ड के सूक्ष्म और अदृश्य रूप का आलोचन रहा करता है। दर्शन किसी भी वस्तु की सूक्ष्मता की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करता हुआ, उसके मूलग/तात्त्विक रूप (जो प्रयोगों अथवा परीक्षणो के द्वारा स्थूल धरातल पर विचार्य नहीं बन पाते, उन पर विचार करने का प्रयास करता है। इसकी इस वैचारिक रीति मे अनुमान एवम् आप्त-प्रमाण के साथ श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन का

विशेष महत्त्व रहा करता है।

दर्शन-विद्या प्राणियों और ब्रह्माण्डापृक्त समस्त विश्व के मूल मे निहित उस तत्त्व को उद्घाटित करना चाहती है, जिसका जड़ताजिजीविषु वैज्ञानिक चिन्तन मे कोई महत्त्व नहीं है। दर्शन ने अपनी मैमांसिक यात्रा जिन जिज्ञासाओं को लेकर प्रारम्भ की थी, यथा मर्त्यधर्मी शरीर के अतिरिक्त प्राणियों का तात्त्विक रूप, ब्रह्माण्डादि संसार की उत्पत्ति का आधारभूत तत्त्व, सकल प्रपञ्च की उद्भावकता चिति अथवा अचिति मे आदि। इनका समाधान आधुनिक विज्ञान के चाकचिक्यात्मक बोधों मे नहीं है। दर्शन विशेषतः भारतीय दर्शन की अधिकांश सरणियां जीव-वपुस् एवम् अशेष सृष्टि के मूल मे एक स्थायी चित् सत्ता प्रतिष्ठित करने की पक्षपाती हैं। दर्शन को अभीष्ट आध्यात्मिक या तात्त्विक स्थपनाओं को यदि हम प्रयोग अथवा भौतिकता के स्तर पर परिनिष्ठित करना चाहेंगे, तो हमारा यह प्रयास निराशा का जनक ही सिद्ध होगा। इसका कारण यह है कि, ये अलौकिकता तथा रहस्यात्मकता लिये हुये हैं।

लोकोत्तरता आदि के ही कारण दार्शनिकों मे भी तत्त्वों के स्वरूप चिन्तन मे मत-वैषम्य दिखलाई पड़ता है। मूल सत्ता चैतन्य लक्षणी है—यह भारतीय दर्शन की बहुतायत शाखाओं द्वारा अङ्गीकृत किये जाने के बावजूद, उसके समग्र लक्षण मे मत-वैभिन्न प्रभावी है। यह मात्र चेतन है अथवा अचेतनता भी उसका रूपग लक्षण है। यह वैष्टप का उत्पत्तिकर्ता (कारण) होकर, विष्टप से भिन्न भी है। वह आकार रहित है अथवा साकार है, या उभयात्मक है—इनको भारतीय दार्शनिकों ने युक्तियों एवं प्रमाणो के द्वार से निरूपित करने की चेष्टा की है। पर दृष्टि-वैषम्य के कारण इनकी स्थापनाओं मे एकरूपता नहीं मिलती। वस्तुतः सत्ता का स्वरूप ऐसा विलक्षण, अगोचर और रहस्यमय है कि, इस पर 'इदमित्थम्' कहा जाना असम्भव है। इसीलिये वैदिक श्रुतियों ने विविध विशेषों का इसमे दर्शन करते हुये भी इसे 'नेतिनेति' एवम् 'अचिन्त्य' जैसे शब्दों द्वारा व्यपदिष्ट करना समीचीन समझा।

आद्यतन विज्ञान की विकासवादी विचारधारा जीव एवं जगत् के आविर्भाव को विकास सिद्धान्त के माध्यम से प्रतिष्ठित करती हुयी, इसके मूल मे चैतन्य तत्त्व की अपेक्षा नहीं रखती। इसके अनुसार अरबों वर्ष पूर्व इस पृथिवी पर एक कोशिका जीव (अमीबा) के रूप मे प्राणि-जीवन

का प्रारम्भ हुआ। कालान्तर मे वातावरण के प्रभाव से एक कोशिका जीव से बहुकोशिका जीवों की उत्पत्ति हुयी। इनके भिन्न भिन्न पारस्परिक संश्लेषों से नाना प्रकार की जीव जातियां विकसित हुयीं। प्रश्न उठता है कि, जड़-जल से उत्पन्न अमीबा मे चैतन्य कहां से आया? यदि कहा जाय कि यह अपने आप उसमे उद्भूत हो गया, तो ऐसा प्रथम सृष्टि मे सम्भाव्य नहीं, क्योंकि वैज्ञानिक सिद्धान्तानुसार विना (चैतन्य) कारण के अमीबा कोशिका मे चित् का उद्भव हो नहीं सकता। अगर यहां अभिहित किया जाय कि जल मे जिस प्रथम अमीबा का जनन हुआ, उसमे पहले से ही जड़ एवं चैतन्य तत्त्व मिले हुये थे। इस प्रकार के कथन पर भी अनेक प्रष्टव्य उठ खड़े होते हैं, यथा— यदि यह अमीबा पूर्व के किसी चेतनाचेतन के मिश्रण की परिणति है, तो येह प्रथम सृष्टि मान्य न होगा। ऐसी स्थिति मे स्वीकार्य यह बनता है कि, इसके पहले जड़ तथा अजड़ पदार्थ विद्यमान थे, जिनकी संयुक्ति से इसकी उत्पत्ति हुयी। पुनः प्रश्न उठता है कि इन चेतन-अचेतन (पदार्थों) का जनक कौन रहा। साथ ही ये परस्पर संयुक्त कैसे हुये। इनका संयोक्ता कौन हो सकता है — इत्यादि।

इनके अतिरिक्त जल से जात अमीबा में जैविक लक्षणोद्भव भी स्वीकृत किया जाना युक्ति-सङ्गत प्रतीत नहीं होता। ऐसा सम्भव नहीं लगता कि, मात्र जल चेतनाचेतन-सम्पृक्त पिण्ड की सृष्टि कर दे। साथ ही विना चैतन्याधार के वैज्ञानिकों को मान्य कोशिकाओं मे (विंशति सहस्त्र) जीन्स की व्यवस्था— प्रभृति कार्य भी सम्भव प्रतीत नहीं होते।

इसी प्रकार सृष्टि के मूल मे चैतन्यशक्ति के अभाव मे समस्त जागतिक प्रपञ्च, ब्रह्माण्ड तथा उसमे अगणित ग्रहों-उपग्रहों आदि की उत्पत्ति तथा विकास स्वयमेव हो गया होगा— इस प्रकार की मान्यता विवेक का निर्वाह करती हुयी नहीं दिखती। अगर इस प्रकार का आग्रह किया जाय कि, ग्रहों-उपग्रहों आदि का प्रादुर्भाव एक दूसरे के संयोग एवं प्राकृतिक परिवर्तनो के परिणामस्वरूप सम्भव हुआ है। साथ ही इनमे गति, प्रकाश आदि भी स्वयमेव उत्पन्न हुये हैं। ये जड़ीय विकास के फलस्वरूप अस्तित्व मे आये हैं।

इस प्रकार के आग्रह के अप्रतिष्ठा परक विचार ये आते हैं कि, संसार की आद्योत्पत्ति एवम् इसके व्यवस्थित विकास मे मात्र जड़ता की अनुपयुक्तता का अनुमान लोक के आधार पर भी किया जा सकता है।

लोक मे नाना प्रकार के अविर्भाव तथा विकास चैतन्य तत्त्व के ही कारण सम्भाव्य दिखलाई पड़ते हैं। इतना अवश्य है कि, इनमे जड़ पदार्थों का सहयोग रहता है। परन्तु प्रेरणा एवं नियोजन-शक्ति चेतनता से ही लब्ध होती है। आज जो वैज्ञानिक उत्कर्ष मनुष्य को मिला है, वह उसकी विमर्शकारिणी प्रज्ञा का ही परिणाम है। अतः महत्तम जगती का उद्भावन तथा उसका नैयमिक एवं सुगठित प्रबन्धन चैतन्य के वजाय जड़ता मे स्थिर किया जाना, क्या विवेक-सम्मत होगा?

उत्पन्न संसार विना किसी चेतन व्यवस्था के अभिव्यक्त हुआ और अपार रूप को प्राप्त कर लिया– यह मान्यता अनेक दृष्टियों से औचित्य का निर्वाह नहीं करती। असीम ब्रह्माण्ड के स्वरूप पर ही ध्यान देने से ऐसा लगता है कि, यदि इसके उद्भव, नियमन एवं विकसन मे किसी चेतन का नायकत्व न होता, तो ये सम्भव न हो पाते। जड़वादी विकास सिद्धान्त मे मान्य अन्योन्य संयोग की शक्यता तथा वातावरण की आनुकूलिक उत्पत्ति भी अपने मूल मे जड़ता की वजाय ऐसी चिच्छक्ति के अस्तित्व का सङ्केत देती है, जो स्पष्ट दिखती नहीं, पर परोक्षतः ये सारे कार्य उसी से सम्पादित होते हैं। इस चित् शृत् की अध्यक्षता मे अस्तित्ववान् ब्रह्माण्ड कितना विशाल है, अभी तक इसका पता नहीं लग पाया। आधुनिक विज्ञान वेत्ताओं ने ब्रह्माण्ड मे २ अरब के लगभग सौर मण्डलों का अनुमान किया है। जिस सौर मण्डल के अन्तर्गत हम हैं, जैसे इसमे सूर्य, चन्द्र, नक्षत्रादि हैं, उसी प्रकार अन्य सौरमण्डलों मे भी सूर्यादि का अस्तित्व है। वैज्ञानिकों की सम्मति मे हमारे सौर-मण्डल की जो आकाश गङ्गा दृष्टि-पथ मे आती है, इसके व्यास के ज्ञान-हेतु १७६३ के पश्चात् १६ शून्य लगाने होंगे। इसके अनन्तर इसका व्यास मीलों मे निकल सकेगा। वैज्ञानिकी मान्यता के अनुसार अनेक नक्षत्र पृथ्वी से इतने दूर है कि, अरबों वर्षों से चला उनका प्रकाश अभी तक यहां नहीं पहुंच पाया है।

आदि सृष्टि के प्रारम्भ, विकास, परिवर्तन, क्षय, जड़ता मे अजड़ता का अविर्भाव एवं चैतन्याचैतन्य का पारस्परिक संश्लेष – आदि की व्यवस्था के पीछे चैतन्य तत्त्व के अङ्गीकार किये विना अनेक प्रकार की विसङ्गतियों का जन्म होता है और साथ ही साथ सिद्धान्ततः अनवस्था दोष को प्रतिष्ठा मिलती है। यही कारण रहा कि, विश्व के अनेक भौतिक शास्त्रियों ने भी अनृता सृष्टि के संश्रय तत्त्व के रूप मे चित् तत्त्व को स्वीकार किया।

कारण यह था कि, इन विचक्षणों ने इस बात का अनुभव किया कि, जगती प्रपञ्च की आदिम उत्पत्ति तथा उसमे दिखाई पड़नेवाली तात्त्विक व्यवस्था का जड़ता से नियन्त्रित होना सम्भाव्य नहीं। रसेल जैसे प्रसिद्ध विज्ञानवेत्ता चित् को 'डायरेक्टिव माइण्ड' के रूप मे परिनिष्ठा देते हैं।

जड़ेतर एक आदिम तत्त्व अङ्गीकृत किये जाने पर भी उसके विवाद शून्य लक्षण का निर्धारण किया जाना असम्भव कहा जाय, तो अनुपयुक्त न होगा। इसी कारण भारतीय श्रुति-परम्परा ने उसके रूपीय लक्षण को अवाच्य भी निरूपित किया। उसके इस प्रकार के रूप वैलक्षण्य के बावजूद दर्शनो ने विविध प्रमाणो एवम् अनुभवों के आधार पर उसके स्वरूप का प्रतिपादन किया है। दार्शनिक सृतियों ने उस अदृश्य सत्ता को जिस गहराई, व्यापकता एवं सूक्ष्मता से देखने का प्रयास किया है, वह कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। भारतीय ऋषियों, आचार्यों ने चिन्तन की उदात्तता तथा तात्त्विक साररूपता का उद्घाटक होने के कारण दर्शन/अध्यात्म-विद्या को समस्त-विद्याओं मे श्रेष्ठ माना है, यथा—

(१) स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह। (मुण्डकोपनिषद्-१/१)

(२) 'अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम्।' (गीता-१०/३२)

इसमे विप्रतिपत्ति नहीं कि, वैश्व दर्शन कुल मे उपनिषदाश्रयी वेदान्त तथा तन्त्राश्रयी शैव (विशेषतः प्रत्यभिज्ञा) दर्शन का स्थान विशेष उल्लेख्य है। इन दर्शन मतों मे परम तत्त्व आकार-शून्य, सबसे पर होने के अनन्तर भी सबका कारण एवं सर्वव्याप्त माना गया। इतना ही नहीं, यह अपने सगुण रूप मे असीम उदात्त गुणों का निलय तथा साकार भी स्वीकृत हुआ।

न केवल वेदान्त-दर्शन की वैष्णव शाखायें, प्रत्युत तन्त्र-दर्शन तथा धर्म/दर्शन के रूप मे जाने जानेवाले अनेक वैष्टप सम्प्रदायों ने सृष्टि के आदि कारण एवं सम्पूर्ण प्रपञ्च की नियामक सत्ता को अवतारों, देवों या और भी अन्य रूपों में प्रकट होने को मान्यता दी है। शिव, विष्णु, गणपति, रवि, राम, कृष्ण, काली ब्रह्मा, बुद्ध, गौतम, ईसामसीह, हजरतमुहम्मद आदि इसके उदाहरण हैं। प्रश्न उत्थित होता है कि, जब उसका रूप कहीं स्पष्ट दिखता नहीं। यहां तक कि, वह किस रूप का है — यह विचार करने पर भी स्थिर नहीं हो पाता। ऐसी स्थिति मे क्या उपर्युक्त देवों, शक्तियों

या महामानवों आदि को हम उसका स्वरूप मान सकते हैं? सामान्यतया यह बात संस्थिर होती है कि, जब वह सबका आदि हेतु है, सबमे समाहित है तत्त्वतः उससे पृथक् कुछ नहीं माना जा सकता। इस स्थिति मे इनको उसका रूप माने जाने में कोई असङ्गति प्रतीत नहीं होती। यह बात अलग है कि, इन्हें मात्र हम भले ही उसका पूर्ण रूप न माने।

हमारे पुराणो, रामायणो तथा महाभारतादि धार्मिक ग्रन्थों एवं विश्व की अनेक धार्मिक कृतियों मे भी परम सत्ता के विविध रूपों मे प्रकाशित /अवतरित होने के उल्लेख मिलते हैं। पूर्वोक्त भगवान् शङ्कर, राम महावीर, बुद्ध, ईसामसीह आदि भी इसके परिणाम हैं। सृष्टि के प्रारम्भ काल से लेकर विगत शताब्दियों तक अनेक ऐसी शक्तियों तथा असाधारण प्राणियो के वर्णन प्राप्त होते हैं, जिनमे परम-तत्त्व के रूप अथवा अंश का दर्शन किया गया है। इसके साथ ही अनेक ऐसे मुनि, ऋषि, योगी, सन्त, उपासक हुये, जिन्होंने उस परा शक्ति को निराकार रूप मे अनुभूत किया और बहुतों ने साकार रूपों मे उसका दर्शन किया। कई हजार वर्षों का साहित्यिक वैभव इसका सबल साक्ष है। पृच्छा उठती है कि, क्या ऐसा सम्भव था? यदि हाँ, तो क्या उस सत्य का इस समय भी साक्षात्कार हो सकता है? इस पृच्छा का समाधान यह है कि, पता नहीं कब से चले आ रहे परम सत् के दर्शन/अनुभव को असत् तो नहीं माना जा सकता। इसी प्रकार विविध देवों/देवियों एवं पुरूषों के रूप मे अभिव्यक्त इसकी सत्ता को भी झुठलाया नहीं जा सकता। कारण यह है कि, यह भी अनुभूति एवं दर्शन द्वारा प्रमाणित रहा है। जहाँ तक उसके सम्प्रति इन रूपों मे साक्षात्कार होने की बात है, वह भी असम्भव नहीं कही जा सकती। परन्तु इसे सम्भव बनाने हेतु अनुकूल वातावरण और सामर्थ्य अपेक्ष्य है। यदि हममे उसे प्रकट कराने की शक्तता विद्यमान है, तो उसका प्राकट्य/अभिव्यक्ति सम्मवेतर नहीं। प्राचीन काल मे भी इसका विशेष रूपों मे साक्षात्कार तपस्या आदि साधनो के द्वारा होता हुआ चित्रित है। यह आनुकूलिक साधन की ही परिणति रही कि, हिरण्यकशिपु के स्वात्मज ने उसे लौह खम्भ मे प्रकट करा दिया। तार मे विद्युत्-शक्ति सर्वत्र प्रवाहित होती रहती है। पर उसे व्यक्त करने के लिये तत्प्रतिकूलेतर साधन/उपकरण की आवश्यकता पड़ती है। विद्युत्-शक्ति के सदृश जगत् का आधार सत् भी विश्व-तन्त्र मे समाया हुआ है। किन्तु उसे व्यक्ति देने के लिये साधन

अपेक्षित है। आध्यात्मिक सन्तों ने परसत्य को अग्नि के सदृश सर्वत्र व्याप्त बतलाया –

'अगजगमय सब रहित विरागी,
प्रेम ते प्रभु प्रकटइँ जिमि आगी।
(रामचरित मानस, गो. तुलसीदास)

यथा, पृथिवी-मण्डल मे प्रततागिन सङ्घर्षण से उत्पन्न हो जाता है, तद्वत् विश्व की अनाद्यनन्त सत्ता भी प्रेम प्रभृति-साधनाकर्षण से प्राकट्य ले लेती है।

अदृश्य सत्ता के साक्षाद्दर्शन या अनुभव के विषय मे यदि यह आग्रह किया जाय कि, यह कभी सम्भव रहा होगा पर आज ऐसा अभिधान सत् प्रतीत नहीं होता। साथ ही अगर यह कभी असम्भवतेतर रहा होता, तो सम्प्रति भी इसमे यह विशेषता परिलक्षित होती। साम्प्रतिक वैज्ञानिक युग मे यह कल्पनात्मक ही लगता है। पर इस प्रकार का आग्रह करते समय हमे यह नहीं भूलना चाहिये कि, आज जिन वैज्ञानिक चमत्कारों को हम सच रूप मे अनुभव कर रहे हैं, इन्हें यदि दो-तीन शतक पूर्व किसी को सत्य रूप मे बतलाया जाता, तो वह भी इसे कल्पना की उड़ान ही मानता। आज भौतिकताा की चकाचौंध से जात नयनान्धवशात्, गुह्य परम सत् के विशेषाविशेष-दर्शन मे सच्चाई भले ही (किसी को) दृष्टि-गोचर न हो, पर यह अतीत की उद्धरणीय सच्चाई रही है। इस सत्य का साक्षात्कार अथवा अनुभव सम्प्रति भी उपयुक्त वातावरण एवं साधनो द्वारा शक्य है – इस प्रकार का कथन असार नहीं।

यहां एक प्रश्न यह भी उठाया जासकता है कि, विज्ञान के साम्प्रतिक समय मे आध्यात्मिक (अलक्ष्य) शक्ति का अस्तित्व न तो प्रतिष्ठेय है और न ही उसकी उपयोगिता अथवा महत्ता ही प्रतिष्ठित होती है। इस प्रकार के प्रश्न के उत्तर-रूप मे प्रथमतः यह विचारयणीय हो जाता है कि, जिन लब्धियों को हम वैज्ञानिक प्रकर्ष की परिणति मानते हैं, क्या ये उस अदृश्य सत्ता के अस्तित्व एवं संरचना से पृथक् हैं? वास्तविकता यह है कि, हम जो भी आद्य-पर्यन्त जान पाये हैं और जानते जा रहे हैं, वे सब उस परोक्ष स्रष्टा की इस अद्भुत असीम सृष्टि मे पहले से विद्यमान हैं। वैशिष्ट्य मात्र यह है कि, हम अपनी बुद्धि-शक्ति द्वारा विविध प्रयोगोपप्रयोगों के माध्यम से इस समय इन्हें इस रूप मे जान पाये हैं। इस रूप मे भले

ही नहीं, परन्तु अन्य रूपों मे विविध प्रकार की चमत्कारपूर्ण जानकारियां अतीत मे भी विद्यमान रही हैं। विना किसी यन्त्र-तन्त्र के प्रकाश मे आये भारतीय गणित, ज्योतिष् तथा आयुर्वेद के अनेक सिद्धान्त और आकाश-मण्डल मे समाहित ग्रह-नक्षत्रों (आदि) का स्वरूपात्मक एवं प्रभावात्मक बोध– क्या अतीत की उपलब्धियां न थीं? इसी प्रकार तपस्या तथा योग की अद्‌भुत शक्ति और जगती के विविध सत् ग्रन्थों मे उल्लिखित दैवी शक्तियों का प्रारूप क्या कम चमत्कार-पूर्ण था?

हमे अभी तक जितनी वैज्ञानिक लब्धि परक सफलतायें मिली हैं। परा शक्ति की बृहत्तम सृष्टि मे इनके अतिरिक्त पता नहीं कितनी प्रलब्धियां अज्ञान के गर्त मे अभी भी छिपी हुयी हैं। इन्हें अभिव्यक्त होने के लिये कालिक अनुकूलता की अपेक्षा है।

जहाँ तक संसार के मूल एवम् इसमे व्याप्त महत्तम तत्त्व की उपयोगिता अथवा महत्ता की है, यह सार्वकालिक प्रासङ्गिकता लिये हुये है। भौतिक विज्ञान का जड़ीय प्रकाश रावण की शक्ति से उत्पन्न रामो की भाँति जीव-जगत्-रूप रावण के श्रेय का दम्भ भले ही करे, किन्तु सततशील चेतना शक्ति-स्वरूप राम के संश्रय विना यह अश्रेयस्कर ही सिद्ध होगा। इसके अतिरिक्त आध्यात्मिक शक्ति जगज्जात प्राणियों के जिस कल्याण-हेतु जानी गयी है, उसका रूप एवं कार्य विज्ञान की सुख, सुविधा एवं दूषण प्रदान करने वाली भूतगत शक्तियों से भिन्न है। आध्यात्मिक शक्ति जीव तथा जगत् के अदृश्य तत्त्वग रूप से सम्पृक्त है। इसके ज्ञान-हेतु उन्मुख प्राणी स्वगत परमार्थोदय के साथ विष्टप के वास्तविक प्रकृति को उद्‌भासित करते हुये समष्टि के अप्रतीयमान कल्याण का मार्ग प्रशस्त करता है। इस प्रकार चेतन एवम् अचेतन सम्पूर्ण प्रपञ्च का जिस प्रकार का हित अध्यात्म/दर्शन तथा उसके तत्त्व द्वारा हो सकता है, वह भौतिक विज्ञानो से शक्य नहीं है। अतः हमे यह ध्यान मे रखना चाहिये कि, भौतिकता एवं तत्सम्बद्ध-शास्त्र कितने भी उत्कर्ष ग्रहण करलें, पर आध्यात्मिकता उसकी मनीषा तथा उसके प्रतिपाद्य सत्य भौतिकेतर होने के कारण, अपनी पृथक् महत्ता बनाये रखने में अर्ह हैं।

पूर्व मे जिन देवों अथवा साकार रूपों मे परम सत् को माने जाने का उल्लेख किया गया है। इनके विषय मे यह संशीति उठायी जासकती है कि, क्यों इनको ही उसका अंश या रूप माना गया जबकि, इनके

अतिरिक्त भी अनेक त्रिदश एवम् उदात्त लोग थे, जिनमे भी प्रसत्ता की निजरूपता का दर्शन किया जा सकता था। अतः इनमे कौन सी ऐसी विशेषता थी, जिससे दूसरों को छोड़कर इन्हें महत्तम अस्तित्व का रूप माना गया। वस्तु-स्थिति यह है कि, उस परम सत् का प्रकाश जिसमे जितना अधिक व्यक्त होगा, वह उतना अधिक उसकी स्वरूपता अथवा अंशता की अर्हता प्राप्त कर सकेगा। हरि, हर, गणपति, राम, कृष्ण इत्यादि मे आचार्यों, ज्ञानियों एवम् उपासकों ने पर सत् के अस्तित्व का दर्शन/अनुभव किया। अतः ये परा शक्ति के रूप मे स्वीकृत हुये। महासत् के स्व मे दिप्ति-हेतु, उसके अधिकाधिक सामर्थ्य की आप्ति-हेतु स्वर्गसद-गण भी तपस्या करते हुये बतलाये गये –

'तपबल रचइँ प्रपञ्च विधाता,
तपबल विष्णु सकल जग-त्राता।'
(रामचरितमानस, गो. तुलसीदास)

न केवल भारतीय वेदान्त-परम्परा, प्रत्युत अन्य अनेक भारतीय दर्शन की शाखायें महा सत् को अपरिमित उदात्त गुणो (मूल्यों) का निलय मानती हैं। इन गुणो के द्वार से उसकी उपासना की भी बात स्वीकृत हुयी है। जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि, जब वह समस्त भव-प्रपञ्च का हेतु है, तो जड़ता तथा अन्य बुराइयां उसका स्वरूप कैसे नहीं और इनके माध्यम से उसकी आराधना ग्राह्य क्यों नहीं बनती? सगुणपक्षधर दार्शनिकों ने उसे असीम आदर्शभूत गुणों का ही आगार माना। उनकी सम्मति मे यद्यपि वह संसार की विकृतियों एवम् अचेतनता का कारण है। पर इस कारणता के बावजूद वह इनसे पर है। इस प्रकार की विशेषता ही उसकी नैजिकी महत्ता है। साथ ही दार्शनिकों ने इसे विश्वग दोषों से असंस्पृष्ट रहने एवं सृष्टि से जुड़ने हेतु माया आदि रूपों मे पृथक् शक्ति को भी महत्त्व दिया है। जहाँ तक उसमे विश्वगत तथा विश्वेतर विशेषों के न्यूनाधिक्यात्मक अस्तित्व की है, तो भारतीय श्रृति इसमे संसारेतर विशेषों की अधिकता का ही आख्यान करती है –

'पादोऽस्य विश्वा भूतानि
त्रिपादोऽस्यामृतं दिवि। (ऋ. सं. – १०/९०/३)

परमसत्ता की गुणवत्ता के समर्थक दार्शनिक सम्प्रदाय भी उसमे श्रेष्ठ मूल्यों की बहुलता एवं भव्यता के ही पक्षधर दृष्टि-गत होते हैं।

जहाँ तक सत् या असत् मूल्यों के द्वार से उसके समाराधन की बात है, उसमे असन्मूल्यों पर आश्रिताराधन इसलिये ग्रहणीय नहीं बनता, क्योंकि उससे प्राणी न तो स्व का वास्तविक अभ्युदय कर पाता है और न ही ऐसी आराधना लोक की हितैषिणी बन पाती है। हम भारतीय तथा अन्य देशों के भी धर्म-ग्रन्थों मे अनेक ऐसे व्यक्तित्वों का दर्शन करते हैं, जिन्होंने दैवी सत्ताओं की उपासना करके, उनसे ऐसी याचनायें कीं, जो इनके अहं मात्र की पोषक, लोक-विरूद्ध तथा अनुपयुक्त थीं। इनसे न वे अपना और न ही समाज का कल्याण कर सके।

यहाँ एक बात यह भी ध्यातव्य है कि, यद्यपि विकारों एवम् असन्मार्गों की उपासनायें विहित न थीं, परन्तु समर्पण तथा भावनिष्ठता के कारण विकृत प्रतीत होने वाली उपासना ने भी उपासकों को शिव-फल दिया। उदाहरण के रूप मे वैष्णव पुराणो में वर्णित गोप-वधूटियों की उपासना। गोपाङ्गनायें काम (श्रृङ्गार) से परम सत्य की आराधना करती हैं। इन्होंने अपना सर्वस्व उस पर स्वर्पित कर दिया। परिणाम यह हुआ कि, उस सत्य की लब्धि से इनका भक्ति-पथ (श्रृङ्गार) और वे– दोनो धन्य हो गये। इसी प्रकार अनेक निशाचरों के विषय में कहा जाता है कि, उन्होंने 'रिपु-भाव' से उस सत्ता को अपना आराध्य बनाया। इसके प्रतिफलस्वरूप उन्हें उस सत् का साक्षात्कार एवं निःश्रेयस् का लाभ मिला। वास्तविकता यह है कि, जब विकार भी उस निर्विकार की ओर अग्रसर हो जाता है, तो उसकी दोषात्मक निजता (साध्य की उदात्तता के कारण) उदात्त बन जाती है।

दर्शन की परम सच्चाई को प्राप्त करने हेतु तत्त्व ज्ञान, योग तथा भक्ति का उल्लेख दार्शनिक मतों ने किया है। तन्मयता हर प्रकार के साधक के लिये आवश्यक है। दार्शनिकसन्तों, आचार्यों, उपासकों ने सृष्टि मे व्याप्त तथा सृष्टि के संश्रय रूप उस महा अस्तित्व के दर्शनार्थ/अनुभवार्थ प्रथमतः आस्था और तदनन्तर उसमें श्रद्धा अथवा विशुद्ध रति को अपेक्षित समझा है। इन दोनो के विना तत्वज्ञ भक्तों की मति मे उसकी प्राप्ति सम्भव नहीं है। संशीति जन्म लेती है कि, जब वह सबका आधार है, सर्व-तत है, तो आस्था और श्रद्धा से उसके प्रकट होने की मान्यता क्या समीचीन है? इसका समाधन यह है कि, यद्यपि वह सर्वाधिष्ठान तथा सम-व्याप्ति लक्षणी है, किन्तु व्यक्त रूप मे हम उसे नहीं देख पाते। अतः उसे व्यक्त करने के लिये, उसके अपरोक्षानुभव-हेतु हमे आदितः उसके अस्तित्व के

प्रतिपूर्ण विश्वास रखना होगा और साधना की वह अनुकूलता देनी होगी, जिससे उसकी अभिव्यक्ति/प्रत्यक्षानुभूति सम्भव हो। लोक मे सुलभ अन्य उदाहरणो द्वारा भी हम इस बात को समझ सकते हैं। किसी भी वस्तु या किसी भी शक्ति के अमूर्त (अदृश्य) रूप को मूर्त-आकार देने के लिये मूर्त-उपकरणो की व्यवस्था करनी पड़ती है। तरङ्गो में प्रसारित ध्वनियां, तन्त्रों मे प्रवाहित होने वाले विद्युतादि प्रकाश – स्थूल पदार्थों केसंसाधन से ही मूर्तता प्राप्त करते हैं। सामान्यतया अप्रकट होने के कारण जो इन्द्रिय तथा अनुभव से पर है। उसकां अनुभव तथा उसकी साक्षात उपलब्धि जागतिक जीवों को होसके, ऐसी अर्हता उत्पन्न करना दर्शन अपना उद्देश्य मानता है। आस्था और श्रद्धा इस अर्हा के महत्वाधायी अङ्ग हैं। विश्वास एवं रति सांसारिक प्राणियों को भी एक दूसरे से सम्बद्ध करने अथवा एक दूसरे के सम्मुख अपने व्यक्तित्व के गृह्य से गुह्य पक्ष को व्यक्त करवा देने में सक्षम दिखलाई पड़ते हैं। विश्वास तथा सुराग पर संश्रित सम्बन्ध मे समर्पण एवं स्थायित्व रहा करता है। जबतक हमको किसी पर विश्वास नहीं है, तबतक उससे हमारा वास्तविक तथा स्थिर अनुराग नहीं हो सकता और विना इस प्रकार के राग के हम उसके सही प्रेमभाजन भी नहीं बन पाते। विना प्रेमभाजनता के कोई अपने व्यक्तित्व के पूर्ण-अर्थात् व्यक्ताव्यक्त उभय-पक्षों का परिचय किसी को प्रायः नहीं देना चाहता।

परमसत्ता के आराधन-पक्ष मे आस्था प्रथमतः इसलिये मूल्यवान् है कि, जब तक 'वह सत्ता है' – इस प्रकार हमारे चित्त मे दृढ़ प्रत्यय न होगा, तब तक उसकी प्राप्ति के प्रति किसी प्रकार की अमोघ प्रीति उत्पन्न होने का प्रश्न ही नही उठता। वस्तुतः परम सत् ने अपने व्यक्तित्व को इस प्रकार रहस्यात्मक रखा ही है कि, कोई विना उसके अनुग्रह के, विना समर्पित साधना के उसे समझ नहीं सकता। अगर प्रत्यक्षादि प्रमाणो से गम्य सांसारिक पदार्थों की भांति वह सुलभ होता, तो दर्शन प्रभृति तत्त्ववादी विधाओं की आवश्यकता ही न पड़ती। ऐसी स्थिति मे उसके अस्तित्व को वह गुरूता, बृहत्तमता, पावनता तथा अनन्तता आदि का वैशिष्ट्य न मिल पाता, जो दार्शनिकों को अभीष्ट है। साथ ही साथ जगत् की वस्तुओं के समान स्थूलाभिव्यक्ति मे वह इन्हीं के सदृश प्रकृति वाला अङ्गीकार्य भी सिद्ध होता।

आदि सत्य के अनभिव्यक्त अथवा अप्रकट रूप मे अस्तित्ववान्

होने मे उपर्युक्तातिरिक्त भी कई महत्वपूर्ण तथ्य उद्भासित होते हैं, यथा– इसके द्वारा तत्त्वतः उसके सबका आधार एवं सब मे समाहित होने पर भी संसार के पदार्थों का नैजिक अर्थात् व्यक्त सांसारिक रूप प्रभावित नहीं होता तथा प्रथम सत्ता की इनसे परता भी बनी रहती है। अनन्त सत् के व्यक्त रूप मे रहने पर अन्य विविध प्रकारक प्रष्टव्य उठते हैं, जो उस सत्ता के साकार रूपों के प्रति भी उठाये जाते रहे हैं। यद्यपि विशेष एवं साकार सत्ता के समर्थकों द्वारा निर्विशेष सत्ता के पक्षधरों की युक्तियों का खण्डन करके स्व-पक्ष मण्डन किया जाता है। पर यहाँ विचारणीय यह हो जाता है कि, परम तत्त्व को हमने जिन आकारों में देखा, जिनका अनुभव किया, वे भी काल विशेष के बाद अदृश्य सत्य के रूप मे ही हमारे आराध्य बने हुये दिखते हैं। अतएव (सम्भवतः) उस पर सत्ता को स्वयं मान्य एवं दार्शनिकों को इष्ट उसकी अमरता, उसके अप्रकट रूप मे ही अधिक समीचीन प्रतीत होती है।

साधकों के दर्शन उताहो अनुभव मे आनेवाली सर्वोच्च सत्ता किस प्रकार की होती होगी – यह प्रश्न सदा से उठता रहा है, क्योंकि उसका कोई निश्चित रूप नहीं। इसका पूर्व में सङ्केत किया गया है कि, वह अनिश्चित रूप होकर भी जिस रूप या लक्षण मे चाहे अपने को व्यक्ति दे सकती है। यही कारण रहा कि, तत्त्व द्रष्टाओं ने तथा भक्तों ने उसे अपनी साधनाओं के अनुरूप प्राप्त किया। परन्तु किसी रूपविशेष मे उसको पाकर यह कहना कि यही मात्र उसका पूर्ण रूप है– यह समीचीन नहीं। हां यह भले ही सम्भव है कि, यदि आप किसी रूप विशेष मे ही उसकी पूर्णता का दर्शन करना चाहते हों, तो वह उस रूप मे अपने समस्त लक्षणो को समाहित करके, उसको वहाँ आलोकित कर दे। यह आपकी साधना की ऊँचाई पर निर्भर करता है। भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन की सत्पात्रता-वशात् अपने रूप की असीमता का उन्हें दर्शन कराया। पुनः एक पृच्छा उठती है कि, इस आध्यात्मिक पर सत्ता का प्राकट्य क्या पूर्ण रूप मे सम्भव है? इसका उत्तर यह है कि, उसके लिये कुछ भी असम्भव नहीं। वह अपूर्ण रूप मे व्यक्ति लेकर भी अपनी महत्ता से पूर्णता मे अपने को प्रकाशित कर सकता है। वह अपना प्राकट्य लघु से लघुतम एवं महत् से महत्तम रूप मे करने मे समर्थ है। इसीलिये उसे 'अणोरणीयान् महतो महीयान्' – इस तरह कहा भी गया। भूपति बलि के सम्मुख वह

अति लघुमात्र मानव (वामन) के रूप मे वसुधा मागने आता है। बलि उसके ३½ पद पृथ्वी-याचन पर आश्चर्य करता है कि, यह विप्र इतनी कम भूमि लेकर क्या करेगा। उसको तो यह विदित नहीं था कि, यह इतना छोटा है, पर इतना बड़ा हो जायेगा कि त्रिलोकी अपने तीन पदों से नाप लेगा। वह चेतन जीवधारकों के रूप मे ही प्रकट होकर अपनी लघुता एवं विशालता का परिचय देता हो, ऐसी भी बात नहीं। जड़-अजड़ किसी के भी द्वार से वह यह कार्य सम्पादित कर सकता है। द्रौपदी की साड़ी खींचने वाले दुःशासन को भले ही यह ज्ञात नहीं था कि, उसके द्वारा खींची गयी साड़ी के अन्त न होने के मूल मे किसी असीम सत्ता का हाथ है। परन्तु सच्चाई यही थी कि वह लम्बाई साड़ी की नहीं, अपितु उस अस्तित्व की थी, जिसका दुःशासन जैसी अगणित हस्तियां भी अपने-अपने सामर्थ्यों का पूर्ण उपयोग करने के बावजूद पार नहीं पा सकतीं।

वेदान्त-दर्शनो मे अद्वैत-वेदान्त परमसत्ता को निषेधात्मक तथा भावात्मक – दो रूपों मे देखता है। निषेध-लक्षण मे यह सारे विशेषों से पर है। भाव-रूप मे वह सच्चिदानन्दात्मक है। प्रश्न उठता है कि, सत्, चित् तथा आनन्द को भी निषिद्ध करके, क्या उसका रूप नहीं सिद्ध हो सकता? साथ ही इन लक्षणो को मानने से उसकी अविशेषता निर्दुष्ट नहीं मानी जा सकती, क्योंकि ये भी तो विशेष के अन्तर्गत ही अङ्गीकार्य है। किन्तु अद्वैत-वेदान्त इन्हें विशेष-प्रकारक नहीं मानता। ये सत्ता के ऐसे रूप हैं, जो समस्त निषेध्यों से अतीत हैं। ये निर्विशेषात्मक हैं। अद्वैत की दृष्टि मे निषेधों से पर सत्ता का भावात्मक अस्तित्व होना चाहिये, विना इसे वह शून्य होगी। शून्य का कोई सत्तात्मक रूप प्रतिष्ठित नहीं होता। अतः सत्, चैतन्य एवम् आनन्द की भावात्मक अस्तित्व के रूप मे स्वीकृति, अद्वैत-दर्शन को प्रेष्ट है। इस रूप मे वह बोध्य भी बनता है।

जिज्ञासा उठती है कि, विशालतम वैश्व प्रपञ्च के जनन तथा प्रवर्धन के लिये चैतन्य तत्त्व को स्वीकार किया जाना भले ही उपयुक्तता लिये हो, पर इसको सद्रूप और आनन्दमय भी माना जाना क्या उचित है? सद्रूपता इसलिये अपेक्षित लगती है क्योंकि, अस्तित्व की सच्चाई के विना अर्थात् स्वरूप की कालाबाधता के अभाव मे न तो उसे सृष्टि का आदिम हेतु माना जा सकता है और न ही अज्ञात काल से संसरणशील जगत् के क्षय तथा वृद्धि का कारणत्व भी उसमें स्वीकृत किया जा सकता

है। इनके अतिरिक्त असीम-अवधि से चली आ रही भृत् व्यवस्था का नियामक भी इसे नहीं माना जा सकता। पुनः विचिकित्सा उत्थित होती है कि, यदि वह सत् (अनाद्यनन्त) लक्षणी होगा, तो आदि-सान्त-विष्टप का जनक कैसे बन सकता है। इस सन्देह का निराकरण वेदान्तियों ने प्रमाणो तथा लौकिक दृष्टान्तों द्वारा किया है। इसकी चर्चा का यहाँ अवकाश नहीं है, पुनरपि सङ्केततः कुछ कहा जाना जरूरी लगता है। प्रथमतः ध्यातव्य यह है कि, उसका जागतिक रचना-कर्तृत्व आदि कार्य सामान्यतया अनवबोध्य हैं। जहाँ तक जगत् के स्व-रूप की बात है, वह इस प्रकार है। विश्व जो स्थूल रूप मे व्यक्त होता है, वह सान्त है, पर अपने तात्त्विक रूप से यह निरन्तर धर्मा है। इसी कारण वैष्णव वेदान्तों ने परिवर्तन तथा विनाश से युक्त होने पर भी विश्व को वास्तविक सत्ता अथवा उसकी शक्ति से पृथक् नहीं माना। यह उसका अविचिन्त्य सामर्थ्य है कि, वह अपनी शक्ति के द्वार से सांसारिक प्रपञ्च के व्यक्ताव्यक्त उभय रूपों का कारण रहा करता है एवम् इनसे अतीत भी अपना अस्तित्व बनाये रहता है।

एक बात यहाँ यह भी प्रष्टब्य बनती है कि, वैज्ञानिक मान्यताऽनुसार जगत् को विनाश-शील नहीं का जा सकता। संसार की किसी वस्तु का नाश नहीं होता, मात्र रूप परिवर्तन होता है। पर दर्शन जिस रूप मे वस्तुओं को नश्वर मानता है, वह अवैज्ञानिक नहीं । भले ही पदार्थ के रूप का परिवर्तन होता हो, परवह जिस नाम-रूप मे विनाश या परावर्त के पहले था, उस संज्ञा एवं रूप मे परिवर्तन अथवा क्षय के अनन्तर नहीं रह जाता है। अतः पदार्थीय अभिव्यक्ति के शाश्वत परिवर्तन को विनाश कहा जाना अवैज्ञानिक नहीं।

अद्वैत-वेदान्त का चित् तत्त्व सत् माना जाय– इसमे भी औचित्य का दर्शन ऊपर किया गया। किन्तु सत् के साथ उसे आनन्दात्मक भी स्वीकार किया जाय– अद्वैत सिद्धान्त की यह प्रतिष्ठापना कितनी युक्ति-सङ्गत है, समासतः इस पर दृष्टि-पात भी प्रासङ्गिक है। अद्वैत-दार्शनिकों की सम्मति मे चैतन्य, प्रकाश तथा आनन्द सत्ता का एकात्मक रूप है। ये उसके पृथक्-पृथक् लक्षण नहीं हैं। किसी साधन-चतुष्टय-सम्पन्न प्रमाता को जब उस सत्य का साक्षात्कार होता है, तो उपर्युक्त तीनो लक्षण एक मे ही अखण्डशः विद्यमान रहा करते हैं। इस प्रकार अद्वैत-दार्शनिकों के अनुसार

चूँकि, पर सत्ता से आनन्द पृथक् हो ही नहीं सकता, अतः उसमे चिति के साथ इसका अस्तित्व सर्वथा स्वीकार्य है। चैतन्य के साथ आनन्द के अस्तित्व को स्वीकार किये जाने का औचित्य लोक-स्तर पर भी सिद्ध होता है। हम देखते हैं, जहाँ पीड़ा तथा शोक विद्यमान रहते हैं, वहां पतन एवं विनाश की सम्भावना बलवती रहा करती है। इनके विपरीत जहाँ आनन्द/सुख का अस्तित्व जागृत रहता है, वहाँ समृद्धि के साथ चिरजीवता की भी सम्भवना प्रबल रहा करती है। कहने का तात्पर्य यह कि, लोक मे भी आनन्द के विद्यमान रहने पर किसी के भी अस्तित्व मे चिर-कालिकता का आद्यान-दर्शन अद्वैत-विचारकों के चैतन्यात्मक एवं सततशील अस्तित्व-हेतु आनन्द की उपयोगिता का पोषक माना जा सकता है। अद्वैत दार्शनिकों के सत् का आनन्द लक्षण अन्य दृष्टियों से भी महत्त्वपूर्ण है। सत्ता चिति तथा आलोक-लक्षणी होकर यदि सुखात्मक न होगी, तो उसके रूप मे सच्चाई का एक ऐसा तत्त्व न रह सकेगा, जिसकी कमी के कारण उसकी पूर्णता बाधित हो सकती है। ऐसी शक्ति जो प्रकाशमयी तथा चिन्मयी है, पर उसके ये रूप अगर नन्दकता से विरहित हैं, तो नये शक्ति मे शिवता का सञ्चार कर सकते हैं और न ही इनसे विश्व मे शिवात्मक अथवा नन्दात्मक चित् के प्रकाश की आशा की जा सकती है। इस तरह आध्यात्मिक महाशक्ति का आनन्दमय होना, तत्त्वतः और व्यवहारतः — उभयात्मक दृष्टियों से उपादेय है। चिति एवं ज्योति की सत्ता अगर मङ्गलास्पद अथवा प्रह्लादात्मक न होगी, तो यह जगत् मे कभी सम्मान्य न होगी। साथ ही साथ तत्त्वदृष्ट्या सत्ता मे आनन्दाभाव की प्रतिष्ठा उसकी रूपगत-महत्ता को विकृति देना है। सत्य के आनन्द-लक्षण का मनोवैज्ञानिक तथा व्यावहारिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्व है। यदि परम सत्ता के श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन एवम् उपासना से साधक को आनन्द (परमसुख) का अनुभव न होगा, तो यह सहज सिद्ध है कि, उसका चित्त उधर उन्मुख न हो सकेगा। हम इससे विदित ही हैं कि, सृष्टि का हर जीव (देवादि सभी) उसी मार्ग का अनुगमन करता है, उसी सत्य को अपना आराध्य बनाता है, जिनसे उसे सुख अथवा कल्याण आप्त होने की आशा रहती है। कोई कभी भी उस पथ पर नहीं जाना चाहता, उसे अपना साध्य नहीं बनाना चाहता, जिस पर चलकर अथवा जिसकी लब्धि से उसे शोक हो, उताहो आनन्द न मिले। इनके अतिरिक्त अद्वैत तथा अन्य भारतीय

दर्शनो को भी अभीष्ट सत्य की आनन्दरूपता इससे भी प्रमाणित होती है कि, हर प्रकार के साधकों ने उसके लाभ से परमसुख की अनुभूति की। चाहे तत्त्वज्ञानी हो, या समाधिमार्गी हो अथवा भक्ति-पथ का अनुगामी हो– सभी ने उसके स्वरूप के साक्षात्कार मे चरम सुख चरम-तृप्ति का अनुभव किया। सत्य के सगुण रूपों द्वारा उसका सानन्दत्व विशद रूप मे प्रस्फुटित हुआ। दुनिया के दार्शनिकों/धार्मिकों की अवतारी दैवी सत्ताओं ने अपने भक्तों को सुख देने के लिये ही अपने अवतरण का प्रयोजन परिनिष्ठित किया। अतः पर सत् को आनन्दमय माने जाने की अद्वितीय स्थापना (जो श्रुति-सम्मत है) तथ्यपूर्ण एवं गरिमामय स्वीकार्य है।

भारतीय अद्वैत परम्परा ने परसत्ता तथा प्राणियों के अन्तर्गत अस्तित्ववती उसकी वास्तविक सत्ता को एक ही माना है। यही कारण है कि, यह प्राणी को अपने सही रूप जानने का उपदेश देती है। अद्वैत के मान्यताऽनुसार जीव को जब सचिदानन्दात्मक रूप का बोध/साक्षात्कार मिल जाता है, तो वह ब्रह्मरूप हो जाता है। अद्वैत दर्शन सृष्ट-प्रपञ्च की असत्यरूपता को प्रतिपादित करके इसमे छिपे हुये परमसत् के प्रकाश को जानने, समझने तथा अनुभव करने की बात बार-बार करता है। अद्वैत की सम्मति मे व्यक्त सांसारिक पदार्थों की असद्रूपता का कारण इनके अस्तित्व मे कालत्रयी अबाधता का अभाव है। इसे सिद्ध करने के लिये किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं, क्योंकि यह हमारे दैनन्दिन के अनुभव से स्वयं सिद्ध है। जहाँ तक जीव-गत सत्ता के सचिदानन्दात्मक लक्षणत्व का प्रश्न है, इसकी भी अनुभूति वैष्टप प्रपञ्च के असत्वेत्ता साधकों को होती हुयी अङ्गीकृत है। ऐसे लोगों को वेदान्त की शब्दावलि मे 'जीवन्मुक्त' कहा जाता है। ऐसा प्रमाता आत्मा/ब्रह्म के साक्षात्कार से धन्य हो जाता है। इस स्थिति मे उसे कुछ प्राप्तव्य नहीं रह जाता। वह शरीर-पात के पश्चात् पूर्णतः परमसत्तामय हो जाता है।

न केवल अद्वैत-दर्शन, अपितु अन्य-दर्शनानुयायियों ने भी परसत्ता की प्राप्ति से जीव के मुक्त होने को प्रतिष्ठा दी है। इन सब की दृष्टि मे कैवल्य-लाभ के बाद जीव अपने वास्तविक रूप मे स्थिर हो जाता है। इसके अनन्तर उसे संसार के जन्म-मरण तथा दुःख-सुख से सदा सदा के लिये मुक्ति मिल जाती है। दार्शनिक अथवा आध्यात्मिक स्तर पर जीव के इस रूप की मान्यता भले ही स्वीकार्य हो, परन्तु लौकिक स्तर पर

विचार करने पर इसमे अनेक प्रकार के सन्देह उत्पन्न होते हैं। प्रथमतः भौतिकवाद मे प्राणी का स्वरूप सच्चिदानन्द-परक है, इसकी सिद्धि ही संशीति-शून्य नहीं है। दूसरा यह कि मान लिया जाय, कोई जीव संसार से वितृष्ण होकर किसी अमूर्त वस्तु का अनुभव करता हुआ अनैन्द्रिक सुख की अनुभूति करता हो, पर यह उसका सही रूप है और इसमे अमरता है। इसकी प्राप्ति के बाद वह उत्पत्ति-विनाश के सांसारिक धर्मो से बाहर हो जायेगा – इनको कैसे सच माना जाय। इसका कारण यह कि, संसार में प्राणी का जो रूप शरीर, इन्द्रिय एवं मन के द्वार से दृष्टि-गत होता है, उसमे सत्यानन्दत्व प्रभृति लक्षण घटित होते नहीं दिखते। जीव का जो आध्यात्मिक या दार्शनिक रूप है, विशेषतः वेदान्त-दर्शन के सन्दर्भ मे, वह इन्द्रियों आदि से युक्त गात्र-रूप कथमपि अङ्गीकार्य नहीं है। पूर्व मे प्रसङ्गानुसार पर सत्ता की रूप चर्चा मे इस बात का सङ्केत किया गया है कि, इसको लोक स्तर परपरिनिष्ठित किया जानाअशक्य है। जीव का भी आध्यात्मिक रूप परम-तत्त्व की भाँति व्यापक-स्तर पर निरूपित किया जाना अथवा जाना जाना सम्भव नहीं माना जा सकता। इस पर पूर्व पक्ष के रूप मे यह कहा जा सकता है कि, जो लौकिक स्तर पर प्रतिष्ठेय नहीं है, वह कल्पनात्मक और असत् ही मानने योग्य है। पर उत्तर पक्ष की ओर से इसका खण्डन यह होगा कि, वस्तुतः असत् वह है, जो लोक स्तर पर अस्तित्ववान् है, या जो स्थूल रूप मे दृष्टि पथ मे आता है। जो लोकातीत तथा अनभिव्यक्त है, वह सत् है। उसी को जानने के लिये प्रबोधित करना आध्यात्मिक दर्शनो का अभिप्रेत है। इसके अतिरिक्त प्रसत्ता द्वारा सृष्ट बहुत से पदार्थों यथा-सूर्यादि-विविध ग्रहों तथा नक्षत्रों आदि के अस्तित्व को 'इदमित्थम्' हम आज तक नहीं जान पाये हैं, पर इनकी सत्ता है। तात्पर्य यह, हमारा यह कहा जाना उपयुक्त न होगा कि, हम जिन वस्तुओं के रूप को सांसारिक धरातल पर देख सकते हैं या विवेचित कर सकते हैं, वे ही सदस्तित्व लक्षणी हैं। वस्तुतः लौकिक एवं बाह्य स्तर पर व्याख्यापित होना मात्र सत्ता का धर्म नहीं। इस बात को दर्शन के अलावा विज्ञान भी स्वीकार करता है कि, पदार्थ अपने सूक्षतम/अणुतम रूप मे भले ही निरूप्य न हो, परन्तु उस स्थिति मे उसकी सत्ता तो रहती ही है।

जहाँ तक जीवात्मा के चिदानन्दात्मक रूप की सन्ततता की है,

यह आध्यात्मिक स्तर पर अद्वैत प्रभृति दर्शन अङ्गीकार करते हैं। भौतिक स्तर पर हमे भले ही इसमे कल्पना की प्रतीति हो, पर यह दार्शनिक स्तर की अपनी सच्चाई है। यदि आध्यात्मिक दार्शनिकों की सर्वोच्च सत्ता लौकिक धरातल पर समझ मे न आने पर भी दर्शन-दृष्ट्या सत्य मानी जा सकती है, तो उसी सत्ता के अंशात्मक अखण्ड रूप जीवात्मा को सत् माना जाना, क्यों अनुपयुक्त कहा जा सकता है? परम सत् के साथ जीव के रूप मे समाहित सत्य का दर्शन योगियों, ज्ञानियों तथा अन्य अध्यात्मपथानुयायियों को हुआ है – इसके साक्ष दुनिया के अनेक ग्रन्थोल्लेख हैं।

एक बात यह भी विचारणीय बनती है कि, जब प्राणी का बेदान्ताभीष्ट (सच्चिदानन्दात्मक) अस्तित्व जगत्-स्तर पर सिद्ध नही होता, तो प्राणियों तथा विश्व के लिये इसको स्वीकार किये जाने की उपयोगिता क्या सिद्ध होती है? इसकी उपयोगिता निम्नानुसार अद्वितीयतः देखी जा सकती है–

(१) प्राणी के द्वारा अपने इस रूप के अङ्गीकार करने तथा इसके बोध की ओर अग्रसर होने से उसमे व्यक्तित्व की जिस उदात्तता का उदय होता है, वह उसे एक श्रेष्ठ प्राणी बनने की अर्हता प्रदान करता है। ऐसा जीव सांसारिक विकृतियों से अप्रभावित रहकर स्व के साथ-साथ सम्पूर्ण विश्व के कल्याण पथ पर आरूढ़ रहता है। यदि कोई यह विचिकित्सा उठाये कि, अनेक ऐसे दार्शनिक/वेदान्ती देखे गये हैं, जो अपने को आत्म-ज्ञानी दिखाते हुये, परमार्थ ज्ञान की बात अवश्य करते हैं, पर काम, क्रोध तथा पाषण्डादि विकारों के आस्पद बने रहते हैं। इस सन्देह का अपाकरण यह है कि, इस प्रकार के परोपदेश पारायण एवं वाग्तत्त्व-विलासियों को वेदान्ती/दार्शनिक नहीं माना जा सकता। जो परतत्त्व और परतत्त्वरूप स्व को जान लेगा, वस्तुतः इसमे रमण करेगा, सम्पूर्ण विश्व मे उसी को देखेगा, वह विकृतियों से ऊपर उठकर जगत् के कल्याण मे समर्पित रहेगा।

(२) जीवधारी की चैतन्यानन्दात्मकता एवम् इसके अस्तित्व का सातत्य सांसारिक व्यवस्था की दृष्टि से अति महत्त्वपूर्ण है। अगर जीव की सत्ता मात्र एक शरीर तक ही सीमित रहती है, तो इसके द्वारा कृत कर्मो का परिपाक भोगने मे चिर स्थायिनी एवं निर्दोष व्यवस्था नहीं बन पाती। इस स्थिति में जीव अपने अच्छे अथवा बुरे कर्मों का भोग इसी देह से करके सत्ता रहित हो जाता है। ऐसी दशा मे उसके द्वारा किये

गये समस्त कर्मो का परिणाम उसे नहीं मिल पाता। जीवधारक द्वारा आपादित नाना प्रकार के कर्मो का प्रतिफल एक काय-पर्यन्त अस्तित्व से कथमपि सम्भव नहीं। साथ ही साथ यह भी देखा जाता है कि, अनेक दुरित कर्मो को करने वाले प्राणी इस वर्ष्म की सत्ता तक सुखद जीवन व्यतीत करते हैं। इसी तरह सुकृत् कर्त्ता शरीर के अन्त तक दुःख मे ही जीते रहते हैं। इसलिये जीव के विविध प्रकारक कर्मो के औचित्यपूर्ण भोग-हेतु इसकी सत्ता को शरीरेतर माना जाना वैज्ञानिकता एवं तथ्य से पूर्ण सिद्धान्त है। इसके द्वारा जगती मे जिस श्रृत् को परिनिष्ठा मिलती है, वह अज्ञात काल से चली आ रही वैश्वपरम्परा को गति देने मे प्रशस्य भूमिका का निर्वाह करती है। ध्यातव्य यह है कि, जीव जब अपने अस्तित्व को अविनाशी जान लेता है, तो 'अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्' का विचार उसे असत् कर्मो से मिलने वाली बुरी परिणति का स्मरण दिलाकर, सत्कर्मो की ओर प्रवृत्त होने का प्रेरक बनता है।

(३) वेदान्तोपदिष्ट तत्त्व-ज्ञान (अथवा आत्म-ज्ञान) जगत् के प्राणियों हेतु इसलिये भी विशेष श्रयितव्य है, क्योंकि इसके प्रभाव से जीव संसार मे इस शरीर तक एक प्रशस्य जीवन तो धारण ही करता है, साथ ही साथ देह पात के अनन्तर भी-- वह अपना कल्याण करने मे समर्थ बना रहता है। परमार्थ जीवी अथवा आध्यात्मिक सत्य जीवन वाले जीव मृत्यु के अनन्तर मिलने वाले परिणामो से आशङ्कित नहीं होते। कारण यह है कि, अगर देह-नाश के बाद जीव का अस्तित्व रहता है, उसे मुक्ति नहीं भी मिलती, पर पुनर्जन्म होता है, तो उसके पूर्व कायोपार्जित सद्गुण उसे स्पृहणीय जन्म प्रदान करते है। मान लिया कोई ऐसा प्राणी है, जिसको निधन के अनन्तर पुनर्जन्म आदि मे रञ्चमात्र आस्था नहीं हैं, ऐसा जीव भी यदि अपने जीवन काल मे सन्मूल्यों एवं वेदान्तीय सच्चाइयों को स्वीकार किये रहता है, तो उसके विश्वास रहित होने पर भी, अगर अदृश्य आध्यात्मिक सत्ता है और नश्वर जगत् के अतिरिक्त कोई व्यवस्था है, तो इस प्रकार के जीव का भी शुभ सुनिश्चित है। इस तरह हम देखते हैं कि, वेदान्तादि दर्शनो का तत्त्व बोध जीव का पूर्ण कल्याण करने मे समर्थ है। इसमे प्रवृत्त होने वाला प्राणी जब तक गात्र है, तब तक शान्त एवं निर्विकार जीवन यापित करता है और शरीर के न रहने पर सदा-सदा के लिये सन्मय हो जाता है।

(४) मनुष्य को सन्मय बनाने मे वेदान्तीय आत्मबोध की मनोवैज्ञानिक महत्ता भी प्रतिष्ठित होती है। मनु-सन्तति एकवार जब स्व तथा जगत् के वास्तविक रूप को जान लेती है, तो उसके चित्त मे जागतिक उपलब्धियों के प्रति वह रागात्मक भाव नहीं रह जाता कि, वह इनके लिये अनुचित साधनो एवं मलिन कर्मो का आश्रय ले। इस स्थिति मे निषिद्ध कर्मो का अपनाना तो दूर हरा, उसके पास जो रहता है, उसमे भी वह महाराज जनक की भाँति अरागी बन जाता है। वस्तु स्थिति यह है कि, संसार मे जब तक हम सांसारिक उन्नतियों, भौतिक भोगों को परमार्थ मानते रहेंगे, तो इनके लाभ के लिये हम बड़ा से बड़ा अनर्थ कर सकते हैं। वेदान्त इस अनर्थ से ऊपर उठने हेतु वेदान्त का उपदेश देता है।

वेदान्त विशेषतः अद्वैत वेदान्त पर सांसारिक स्तर पर एक आरोप यह लगताहै कि, यह दर्शन जगत् को मिथ्या बतलाते हुये भौतिक उत्कर्ष को महत्त्व नहीं देता। अतः यह सांसारिक उन्नयन का विरोधी है। जिस सांसारग उन्नति के लिये मानव ने इतने बड़े-बड़े वैज्ञानिक आविष्कार किर्ये, वे सब अद्वैत दर्शन मे तथ्य-शून्य सिद्ध होते हैं। इस प्रकार अद्वैत वेदान्त को स्वीकार करने पर विकास का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता।

ऐसा आरोप लगाने के प्राक् प्रथमतः हमे यह विस्मृत नहीं करना है कि, अद्वैत-दर्शन (कोई) वैश्व-शास्त्र नहीं है। यह आप्त आचार्यों तथा तत्त्व-द्रष्टा ऋृषियों को उपजीव्य बनाता हुआ सततास्तित्वशील वस्तु को सत्य मानता है। सत्य का साक्षात्कार ही इसकी दृष्टि मे वास्तविक उत्कर्ष है। प्रश्न उठता है कि, जिसको हम वैष्टप स्तर पर उन्नय/विकास मानते हैं, क्या वह अद्वैत दर्शन का उन्नयन या विकास माना जा सकता है? इसका उत्तर होगा कथमपि नहीं। अद्वैत वेदान्त अपनी मिमांसा का उद्देश्य ही यही अङ्गीकार करता है कि, लोग जागतिक प्रपञ्च की रूपगत सच्चाई को समझें तथा इसमे अन्तर्हित सत्य को जाने। जब उन्हें विश्व का सही अस्तित्व बोध मे आ जायेगा, तो वे स्वयं जगत् की उन्नति को, इसकी उपलब्धियों मात्र को अपने जीवन का अन्तिम सोपान न स्वीकार करेंगे।

अद्वैत-दर्शन संसारगत उत्कर्ष को सांसारिक दृष्टि से सार शून्य नहीं मानता। परन्तु परमार्थ अथवा पर सत्य की दृष्टि से इसका सारत्व नगण्य है। इसकी मान्यता मे जगत् की प्रोन्नति, अगर राजर्षि जनक तथा और अन्य वैभव सम्पन्न तत्त्वज्ञों की भांति परमार्थ-संसाधन मे बाधक नहीं है,

तो वह अनवद्य है। किन्तु इसकी आसक्ति इसका अहङ्कार अगर उसे परमार्थ-विमुख रहने का कार्य करता है, तो वह त्याज्य है।

संसार तथा परमार्थ दोनो की समन्विति का बड़ा ही रूचिर उदाहरण वैष्णव पुराणों की गोपियां है। भगवान् श्याम सुन्दर की अनन्योपासिका गोपाङ्गन्याओं मे बहुतों के पास उनका पति है, घर है, सास-ससुर हैं। ये उनके प्रति अपने कर्तव्यों का निर्वाह करते हुये परमार्थ-पति व्रजेशनन्दन की आराधना मे रत रहती हैं। वे जानती हैं कि, हमारे ये पतिदेव, सास-ससुर, पुत्र-पुत्री मात्र इस शरीर तक के साथी हैं। पर मुझ जीव का सच्चा साथी, सच्चा पति, सच्चा सब कुछ वही है, जो हममे रम रहा है, जिससे हमारा शाश्वत, अबोध्य एवम् अविनाभाव सम्बन्ध है। यही कारण है कि, गोप-वधूटियों के चरित्र को सामान्य-रीत्या जो समझने का प्रयास करते हैं, वे भटक जाते है।

ऊपर जिस आरोप की चर्चा की गयी है। वह अद्वैत-वेदान्तीय स्थापना पर हम इसलिये लगाते हैं, क्योंकि हमारे द्वारा जगत्-गत सच्चाई को तथा जगत् की लब्धि को अद्वैताभिप्रेत सत्य से सम्पृक्त करके देखा जाता है। जगत् तथा परमार्थ का यह सम्मिश्रण भाव ही अविवेक है। इसको दूर करना अद्वैत-दर्शन का दार्शनिक प्रयोजन है।

विश्वात्मक (प्रतीत्यात्मक) सत् तथा इससे पर सत् को किस तरह पृथक्-पृथक् देखना चाहिये। यह इसकथा के द्वारा सुकरता से जाना जा सकता है। कोई श्रृषि-वेदान्ती अपने वटुओं को अद्वैत-ज्ञान का उपदेश– 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः'– इस वाक्य द्वारा देने मे संलग्न थे। उसी समय एक प्रमत्त हस्ती उनके उपदेश स्थल के समीप आते दिखता है। हस्ती देखकर ऋषि उस स्थान से कुछ दूर भाग जाते हैं। उनको भांगते देखकर कतिपय ब्रह्मचारी छात्र भी वहां से पलायन कर लेते हैं। परन्तु कुछ विद्यार्थी वहीं बैठे रह जाते हैं। हाथी आकर, इधर उधर भ्रमण करता हुआ चला जाता है। गज-गमन के पश्चात् गुरू एवं भगे हुये विद्योपासक भी लौट आते है। गुरू जी के आगमनानन्तर वहीं रूके हुये छात्रों ने उनसे पूछा, गुरूवर्य ! हाथी तो जगत् का प्राणी है, वह मिथ्या है। उसे देखकर भगने की क्या आवश्यकता थी। ऋषि गुरू ने कहा 'यदि हस्ती

मिथ्या, तर्हि पलायनमपि मिथ्या'। तात्पर्य यह कि, जिस जगत् मे हस्ती सत्य है, उस जगत् मे मेरा भागना भी सच है। पर परमार्थतः न तो हाथी है ओर न मेरा भागना-अर्थात् दोनो असत् हैं। 'ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्या' का तात्त्विक उपदेश परमार्थ दृष्ट्या नितान्त उपादेय है। किन्तु संसार दृष्ट्या हस्ती आदि व्यावहारिक वस्तुओं का भी महत्त्व स्वीकार्य है। परन्तु व्यवहार की सच्चाई को परमार्थ नहीं मान लेना चाहिये॥

इस प्रकार हमे यह समझना चाहिये कि अद्वैत-चिन्तन जगत् मे विकास अथवा प्रोत्कर्ष का विरोधी नहीं। पर इसके द्वारा उत्कर्ष तथा श्रेयस् जिस सत्य मे द्रष्टव्य है, वह विश्व की किसी प्रकार की अभ्युन्नति मे अप्राप्य है। अतः इस प्रकार के सत् के अन्वेषक शास्त्र से यह अपेक्षा करना हमारी कितनी बड़ी भूल होगी कि, वह संसारियों को प्रसन्न करने के लिये संसार के अभ्युदय को अपना सर्वोच्च प्रतिपाद्य माने।

ऊपर प्रास्थापिकी मे बहुत सी ऐसी बातें चर्चित हो गयीं, जो हो सकता है सुज्ञ पाठकों के चित्त को उद्वेलित करें। पर यह उद्वेलन योजनाबद्ध रूप मे नहीं सम्भव हुआ है। वस्तुतः प्रसङ्ग ऐसे जुड़ते गये, जिससे इन बातों पर यत् किञ्चित् प्रकाश जरूरी हो गया। इस यथार्थ को जानकर पाठकों की क्षमा ऽऽस्पदता हमे मिलेगी ही – ऐसा मेरा दृढ़ प्रत्यय है।

वस्तुतः आध्यात्मिक तत्त्वोद्घाटन मे जिस प्रकार दर्शन जगत् मे अद्वैत वेदान्त का अपना स्थान है, उसी प्रकार अद्वैत परम्परा मे 'पञ्चदशी' की निजी महत्ता है। इसकी कतिपय स्थापनायें विशिष्ट हैं। इस पर दृष्टि-पात अपेक्षाऽनुसार इस ग्रन्थ मे किया गया है। 'पञ्चदशी-तत्त्वोन्मीलन' संज्ञक इस समीक्षात्मक कृति मे यद्यपि, अद्वैत-परम्परा को अभिमान्य तत्त्वों के उद्भास द्वार से पञ्चदशी को अभिप्रेत दार्शनिक तत्त्वों की मीमांसा की गयी है, परन्तु इस बात का ध्यान रखा गया है कि, सन्दर्भित रचना मे उल्लिखित तत्त्वों का विवेचन गौड़ न हो। अतएव ग्रन्थ मे पञ्चदशी के तत्त्व-प्रकाशनार्थ मूल कृति का ही संश्रय अभीष्ट रहा है।

मेरी जानकारी मे 'पञ्चदशी' पर हिन्दी मे तत्त्व-विवेचन परक कोई समीक्षात्मक ग्रन्थ नहीं है। अतः मैने इस पर कुछ कहने का प्रयास किया है। मेरा विश्वास है कि, दर्शन मे रूचि रखने वाले अध्येताओं तथा भारतीय दर्शन एवम् अक्षैत वेदान्त को पढ़नेवाले छात्र-छात्राओं के ज्ञानवर्धन मे

यह सहायक सिद्ध होगा। साथ ही मेरा यह भी प्रत्यय है कि मेरी यह लघु चेष्टा सुधी अद्वैत प्रमाताओं के विवेकोद्दीपन मे भी सहयोगी बन सकेगी।

सम्भव है कि, वैचक्षण्य-दृष्ट्या मेरा यह लघु तथा तुच्छ प्रयत्न मनीषि-मनीषा को तोष न देसके, पुनरपि उनके स्नेह और समाशीष् की भाजनता हमे मिलेगी ही। इसी आशा मे यह प्रयास प्रकाश का रूप लेकर प्रस्तुत है।

पञ्चदशी:

तत्त्वोन्मीलन

पूर्वशकल

परिचय :

प्रथम परिच्छेद

कृतित्व : भारतीय दर्शन-परम्परा मे 'पञ्चदशी' शङ्कर वेदान्त के वर्याचार्य विद्यारण्य की एक महत्त्वपूर्ण कृति के रूप मे प्रथित है। अद्वैत-वेदान्त के इतिवृत्यात्मक क्रम मे विद्यारण्य १४वीं शदी के आचार्य सिद्ध होते हैं। 'पञ्चदशी' के प्रणयन से यति-वर विद्यारण्य के सम्बन्ध को अधिकांश आचार्यों एवं विद्वानो ने अङ्गीकार किया है। सन्देह की स्थिति इस रूप मे अवश्य बनी हुयी है कि, 'पञ्चदशी' अपने पूर्ण (अर्थात् १५ प्रकरणो के) रूप मे विद्यारण्य की प्रणीति है, अथवा नहीं।

'पञ्चदशी' के कृतित्व, भारतीतीर्थ एवं विद्यारण्य की भिन्नाभिन्नता तथा माधवाचार्य (सायण के ज्येष्ठ भ्राता) और विद्यारण्य के पार्थक्यापार्थक्य आदि विषयों पर 'पञ्चदशी' के टीका-परक एवं समीक्षात्मक ग्रन्थों मे प्रसङ्गानुसार पर्याप्त चर्चायें हुयी हैं। इनके अनन्तर भी विवादातीत परिणाम की प्राप्ति कठिन ही है। इसलिये कृतित्व पक्ष से सम्बद्ध विविध विषयों की चर्चा को विस्तार न देते हुये समासतः कतिपय सम्भावनाओं का उद्घाटन ही अपना अभिप्रेत है।

'पञ्चदशी' की रचना से सम्बद्ध उल्लेखों तथा मान्यताओं पर जब हम दृष्टि-पात करते हैं, तब हमारे सम्मुख निम्न स्थितियां सम्भाव्य बनती हैं –

(१) 'पञ्चदशी' (पूर्णतः) विद्यारण्य की निर्मिति है।

(२) 'पञ्चदशी' के कुछ प्रकरण विद्यारण्य और कतिपय भारतीतीर्थ द्वारा प्रणीत हैं।

(३) विद्यारण्य एवं भारतीतीर्थ– दोनों संयुक्त रूप मे 'पञ्चदशी' के सर्जक हैं।

(४) मात्र 'भारतीतीर्थ' 'पञ्चदशी' के रचयिता हैं। भारतीतीर्थ तथा भोगनाथ अभिन्न हैं।

(५) 'पञ्चदशी'–उन विद्यारण्य की सृष्टि है, जो (सन्यस्त होने के प्राक्) माधवाचार्य के रूप मे जाने जाते थे। अतः इन दोनो मे अभेद है।

ग्रन्थकार द्वारा स्वयं स्पष्ट अथवा अस्पष्ट रूप मे कुछ न कहे जाने के कारण, यह संशय-सम्पृक्त ही है कि 'पञ्चदशी' किसकी रचना है। जहाँ तक इसे आचार्य विद्यारण्य की पूर्ण प्रणीति माने जाने का प्रश्न है, यह भी समर्थ प्रमाणाभाव मे सन्दिग्ध है। एक बात यहाँ अवश्य ध्यातव्य है कि, ग्रन्थ के आरम्भ मे जो मङ्गलाचरण किया जाता है, यहाँ ग्रन्थकार अपने गुरू के रूप मे शङ्करानन्द को प्रणामाञ्जलि समर्पित करता है।[१] प्राप्तोल्लेखों के अनुसार शङ्करानन्द विद्यारण्य के गुरू रहे हैं।[२] इन्हें भारतीतीर्थ का गुरू नहीं माना जा सकता। इस आधार पर 'पञ्चदशी' विद्यारण्य की रचना स्वीकृत हो सकती है। इसके पोषण मे यह भी अभिधेय है कि, 'प्रथम-प्रकरण' के इस मङ्गलाचरण के पश्चात् और कहीं भी 'पञ्चदशी' मे मङ्गलाचरण नहीं दृष्टि-गत होता। ऐसी स्थिति मे पूरी 'पञ्चदशी' एक ही आचार्य की कृति अङ्गीकार्य है और वह आचार्य विद्यारण्य हो सकते हैं। इसके प्रतिपक्ष मे यह कहा जा सकता है कि, यह आवश्यक नहीं कि हर आचार्य मङ्गलाचरण करे। अतः विना पृथक् मङ्गलाचरण के भी भारतीतीर्थ को 'पञ्चदशी' के कुछ अंश का प्रणेता स्वीकार किया जाना अनुचित नहीं। साथ ही यदि भारतीतीर्थ पूरी 'पञ्चदशी' के निर्माता होते, तो उपर्युक्त बात मान्य हो सकती थी। चूँकि, ये कतिपय प्रकरणो (मात्र)

---

१. नमः श्रीशङ्करानन्दगुरुपादाम्बुजन्मने।,
सविलास महामोहग्राहग्रासैककर्मणे॥ दृष्टव्य, मङ्गलाचरण पञ्चदशी

२. विद्यारण्य की अन्य रचनाओं में भी शङ्करानन्द को विद्यारण्य के गुरु-रूप मे प्रतिष्ठा आप्त है, यथा –
यच्छङ्करानन्दपदं हृदब्जे विभ्राजते तद्यतयो विशन्ति।
विवरण-प्रमेय-सङ्ग्रह का प्रारम्भ का पद्यांश।

के कर्ता रहे, अतः बीच मे इनके द्वारा मङ्गलाचरण न किया जाना अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार 'मङ्गलाचरण' को लेकर ऊपर चर्चित उभयप्रकारक सम्भावनायें बनती हैं इस सन्दर्भ मे और भी अटकलें लगायी जा सकती हैं, यथा– हो सकता है पृथक् मङ्गलाचरण द्वार से अपने प्रकरणो का प्रारम्भ न करके आचार्य भारतीतीर्थ ने इसके सर्जनात्व का अपरोक्ष श्रेय अपने शिष्य विद्यारण्य को ही देना चाहा हो, या यह इस बात का भी सङ्केतक कहा जा सकता है कि, 'पञ्चदशी' के मूल लेखक विद्यारण्य हैं, भारतीतीर्थ का उसमे सहयोग अवश्य है। अतः सहयोगी द्वारा अलग माङ्गलिक शिष्टाचार का कोई औचित्य नहीं बनता।

पञ्चदशी-निर्माण की द्वितीय स्थिति विदग्धो में पर्याप्त प्रसिद्ध है। इस प्रसिद्धि का कारण 'पञ्चदशी' की टीकायें एवं निश्चल दास का 'वृत्तिप्रभाकर' नामक ग्रन्थ है। इसमे भी उभयप्रकारक मान्यतायें हैं। एक के अनुसार 'पञ्चदशी' के आदिम ६ प्रकरण विद्यारण्य तथा बाद के ९ प्रकरण भातीतीर्थ द्वारा प्रणीत हैं। इसके प्रवर्तन का प्रामुख्येण श्रेय 'पञ्चदशी' के प्राचीन एवं प्रसिद्ध टीकाकार रामकृष्ण को जाता है।[१] इसी का अनुसरण अच्युतराय द्वारा विनिर्मित 'कव्याख्या' भी करती।[२]

द्वितीय के अनुसार पूर्व के दश प्रकरण विद्यारण्य की सृष्टि है। अवशिष्ट पञ्च प्रकरण भारतीतीर्थ के सर्जन हैं। इसके समर्थक 'वृत्ति-प्रभाकर' के लेखक निश्चलदास हैं।[३] पर प्रथम की तुलना मे निश्चल दास के मत की प्रतिष्ठा नगण्य रही।

प्रथम मत के पोषक पददीपिकाकार रामकृष्ण ने अपनी इस टीका

---

१. इसका सङ्केत 'पददीपिका' के 'तृप्तिदीप प्रकरण' की टीका में निम्नानुसार लब्ध होताहै–
'तृप्तिदीपाख्य' प्रकरणमारभमाणः श्रीभारतीगुरुस्तस्य श्रुतिव्याख्यान रूपत्वात् तद्व्याख्येयां श्रुतिमादौ पठति... (द्रष्टव्य तृप्तिदीपप्रकरण' प्रारम्भ की पङ्क्ति)। इसी तरह 'तदिदं तत्त्वविवेकारव्ये ग्रन्थे श्रीमद्विद्यारण्यगुरूभिर्निरूपितं... (देखें, इसी प्रकरण के तृतीय पद्य की टीका)।

२. श्रीविधारण्यकृताः पञ्चविवेकाः सचित्रदीपाः स्युः।
शिष्टं तु समुपदिष्टं श्रीमद्भिः भारतीतीर्थैः॥

३. अवलोक्य, 'वृत्तिप्रभाकर', पृ. -४२४.
उद्धृत 'इण्डियन पिफलासफी', भाग-२, डॉ. राधाकृष्णन, पृ. - ४५१

के एकादश-प्रकरणो तक व्याप्त मङ्गलाचरणो मे विद्यारण्य के साथ-साथ भारतीतीर्थ को भी अपना प्रणम्य निरूपित किया है। साथ ही प्रकरणो के अन्त मे 'स्वयम्' को इन दोनो का किङ्कर बतलाया है। टीकाकार रामकृष्ण का इन दोनो आचार्यों के प्रति एक साथ श्रद्धा-समर्पण एवं 'तृप्तिदीप-प्रकरण' की टीका मे आचार्यद्वय द्वारा 'पञ्चदशी' के लेखन मे स्पष्ट सहयोग दिये जाने का उल्लेख – इस बात का द्योतक है कि, पददीपिका-प्रणेता की सम्मति मे पञ्चदशी प्रणयन का श्रेय विद्यारण्य तथा भारतीतीर्थ – उभय आचार्यों को जाता है। आचार्य रामकृष्ण की इस मान्यता के मूल मे कोई न कोई बात अवश्य रही, जिसके कारण इन्होंने पञ्चदशी कृतित्व को इन दोनो आचार्यों से सम्बद्ध करना उपयुक्त समझा। हो सकता है, इसके पीछे पारम्परिक प्रसिद्धि का वर्चस्व रहा हो । भारतीतीर्थ तथा विद्यारण्य की रचनाओं मे एक दूसरे के सहयोग की बात भले ही प्रामाणिक न सिद्ध हो सके, किन्तु यह प्राज्य चर्चा का विषय रहा। इस सन्दर्भ मे आचार्य बलदेव उपाध्याय का विचार भी उद्धरणीय है– "एक बात और भी ध्यान देने योग्य है। यह है विद्यारण्य और भारतीतीर्थ का ग्रन्थ-प्रणयन मे सहयोग। जिस प्रकार सायण और माधव की रचनाओं का पार्थक्य करना सन्दिग्ध सा बना हुआहै, उसी प्रकार भारतीतीर्थ तथा विद्यारण्य की भी स्वतन्त्र रचनाओं मे कुछ मतभेद सा प्रतीत होता है। विद्यारण्य की स्वतन्त्र रचना 'पञ्चदशी' मुनि भारतीतीर्थ की भी स्वतन्त्र रचना 'वैयासिक न्याय माला- मे विद्यारण्य की भी सहयोगिता मानी जाती है। ऐसा होना स्वाभाविक भी था। भारतीतीर्थ थे गुरू और विद्यारण्य थे शिष्य। अतः ग्रन्थ-विशेष की रचना मे दोनो का सहयोग होना कोई असम्भव सा नहीं जान पड़ता, परन्तु किन ग्रन्थों मे दोनो की सहयोगिता प्राप्त थी, इसे ठीक ठीक बतलाना प्रमाणो के अभाव मे कठिन अवश्य है।"[१]

इन दोनो आचार्यों के पारस्परिक सहयोग का सङ्केत हम इनकी कृतियों की अधुनातन लब्ध हस्त-लिखित प्रतियों मे भी देख सकते हैं। उदाहरण के रूप मे डॉ. शकुन्तला पुञ्जानी ने 'पञ्चदशी' के अपने आलोचनात्मक ग्रन्थ मे[२] 'विवरणप्रमेयसङ्ग्रह' तथा 'दृग्दृश्यविवेक' की

---

१. 'सायण और माधव' ले. आचार्य बलदेव उपाध्याय, पृ. – १५८, १५९.

२. पञ्चदशी एक्रिटिकल स्टडी।

दो हस्तलिखित प्रतियों का उल्लेख करते हुये, इनसे निम्न दो वाक्यों को उद्धृत किया है।[१]– 'इति श्रीमत्परमहंसपरिव्रजकाचार्य- श्रीमद्भारतीतीर्थविद्यारण्य-मुनिवर्यविरचिते विवरणप्रमेयसङ्ग्रहे चतुर्थ सूत्रे द्वितीय वर्षकं समाप्तम्।' तथा 'इतिश्रीमद्परमहंसपरिव्रांजकाचार्यश्रीमद्भारतीतीर्थविद्यारण्यमुनिवर्य- विरचितः दृग्दृश्यविवेकः सम्पूर्णः।'

'विवरणप्रमेयसङ्ग्रह' विद्यारण्य की महत्वपूर्ण दार्शनिक निर्मिति के रूप मे जानी जाती है। पर इसके निर्माण मे यहां विद्यारण्य के साथ भारतीतीर्थ का नाम विद्यमान है। इसी तरह 'दृग्दृश्यविवेक'– यह स्वामी भारतीतीर्थ की दार्शनिक कृति है। परन्तु इसकी प्रणीति मे भी भारतीतीर्थ के साथ विद्यारण्य को उल्लिखित किया गया है।

इस प्रकार न केवल रामकृष्ण की 'पददीपिका' मे, प्रत्युत अन्यत्र भी भारतीतीर्थ एवं विद्यारण्य के संयुक्त लेखन-कार्य की बात पुष्ट होती है।

किन्तु इन दोनो की रचनाओं मे किसमे किसका कितना योगदान है, अथवा ये पूर्णतः संयुक्त लेखन के परिणाम हैं, या जो ग्रन्थ जिसके द्वारा लिखित जानां जाता है, वह उसी की रचना है, अथवा इस तरह का अभिज्ञान मात्र गुरू भातीतीर्थ तथा शिष्य विद्यारण्य के पारस्परिक समर्पण का सूचक है– स्पष्ट प्रमाणाभाववश इन पर कुछ कहा जाना कठिन है।

'तृप्तिदीप प्रकरण' की टीका के प्रारम्भ मे रामकृष्ण की यह उक्ति "इस प्रकरण का प्रारम्भ भारतीतीर्थ गुरू द्वारा किया जाता है और इसके पूर्व 'तत्त्व विवेक-प्रकरण' का उपदेश गुरू विद्यारण्य द्वारा सम्पादित होता है।"[२] क्या टीकाकार की कल्पना-प्रसूति है? अथवा तथ्य-संश्रित है। यद्यपि यह संशीति-ग्रस्त है, पुनरपि इसे केवल कल्पना की उपज कहकर तिरस्कृत करना उचित नहीं प्रतीत होता। बहुत कुछ सम्भव है कि, रामकृष्ण को इसका आभास कहीं न कहीं से था, जिसके फलस्वरूप उन्होंने इसका उल्लेख उपयुक्त समझा।

तृतीय मान्यताऽनुसार भारतीतीर्थ एवं विद्यारण्य संयुक्त रूप मे पञ्चदशी के निर्माता हैं। प्रमाणाभाव मे इसके सम्पोषण मे भी कुछ नहीं

---

१. द्रष्टव्य, यही पृ.-६

२. द्रष्टव्य, 'तृप्तिदीपप्रकरण' के प्रारम्भ की पददीपिका।

कहा जा सकता। 'पञ्चदशी' भारतीतीर्थ एवं विद्यारण्य– दोनो के सम्मिलित योगदान की परिणति है– यह बात अति चर्चित रही। इस कारण हम भले ही यह कह लें कि, इन दोनों आचार्यों ने मिलकर पञ्चदशी की रचना की। परन्तु अन्य कोई ऐसा साक्ष नहीं मिलता, जिससे यह सर्वमान्य सिद्ध हो सके।

चतुर्थ स्थिति केवल भारतीतीर्थ द्वारा 'पञ्चदशी' के विरचित होने की पक्षधर है। इसका समर्थक अप्पय दीक्षित का 'सिद्धान्तलेशसङ्ग्रह' है। इसमे 'पञ्चदशी' को उद्धृत करके, इसका रचनाकार भारतीतीर्थ को बतलाया जाता है।[१] अप्पयदीक्षित की यह अङ्गीकृति और अधिक विवादास्पद है। यदि आचार्य दीक्षित के ये उद्धरण अंश-विशेष अथवा तत्सम्बद्ध प्रकरण मात्र के रचनात्व का सम्बन्ध भारतीतीर्थ से प्रतिष्ठित करते हुये माने जायं, तब ये अपनी सार्थकता अधिक सिद्ध करते हुये दिखते हैं, वजाय इसके कि ये इस बात के द्योतक हों कि, सम्पूर्ण पञ्चदशी भारतीतीर्थ की निर्मिति है।

जहाँ तक भारतीतीर्थ एवं भोगनाथ के अभेद्य की है, यह उचित नहीं प्रतीत होती। भारतीतीर्थ भोगनाथ के ज्येष्ठ भ्राता माधवाचार्य के गुरू के रूप में प्रतिपादित हुये हैं। कहीं-कहीं विद्यातीर्थ तथा भारतीतीर्थ इन तीनो भ्राताओं के गुरू अभिहित हुये हैं। अतः लघुभ्राता (भोगनाथ) एवम् अग्रज (माधवाचार्य) के गुरू मे तादात्म्य की बात नितान्त असङ्गत लगती है। साथ ही कहाँ 'रामोल्लास', 'त्रिपुर-विजय' और 'श्रृङ्गार मञ्जरी' प्रभृतिषट् काव्यों के धनी भोगनाथ का कवि-व्यक्तित्व तथा कहाँ अद्वैत दर्शनविद् 'दृग्दृश्यविवेक' एवं 'वैयासिकन्यायमाला' जैसे दार्शनिक ग्रन्थों के स्वयिता भारतीतीर्थ की दार्शनिक वैयक्तिकता। इन दोनो के व्यक्तित्व तथा कृतित्व को देखकर इनमे पृथकता स्पष्ट झलकती है।

पञ्चम मान्यता को अनेक आचार्यों, समालोचकों तथा सूरियों ने प्रतिष्टा दी है। इसके अनुसार 'पञ्चदशी' उन विद्यारण्य की सृष्टिं है, जो अपने सन्याश्रम के पूर्व सायण के ज्येष्ठ भ्राता माधवाचार्य के रूप मे जाने जाते थे। सन्यस्त होने और श्रृङ्गेरी मठ के शङ्कराचार्य के पद पर प्रतिष्ठित होने पर इनकी प्रसिद्धि विद्यारण्य के रूप मे हुयी। 'पञ्चदशी'

---

१. अवलोक्य, 'सिद्धान्तलेशसङ्ग्रह',पृ. - २३.

मात्र विद्यारण्य की कृति है, इसमे भारतीतीर्थ का भी योगदान रहा, अथवा नहीं, यद्यपि इस सन्देह के निराकरण मे यह साक्षात् सहयोग नहीं करती। इसके बावजूद विद्यारण्य के द्वारा 'पञ्चदशी' के प्रणयन, माधवाचार्य एवं विद्यारण्य के एक सिद्ध हाने पर माधवाचार्य तथा भारतीतीर्थ का नजदीकी सम्बन्ध और इस तरह भारतीतीर्थ तथा माधवाचार्य के परस्पर गुरू शिष्य रूप मे सम्बद्ध होने पर 'पञ्चदर्शी' की सर्जना मे भारतीतीर्थ के सहयोग की सम्भावना – इन सब बातों को पुष्टि निश्चय ही माधवाचार्य एवं विद्यारण्य की अभिन्नता से मिलती है।

माधवाचार्य तथा विद्यारण्य के ऐक्य हेतु यदि ऐतिहासिक साक्ष का सहारा लिया जाय, तो वह भी निरापद नहीं दिखता। माधवाचार्य एवं विद्यारण्य का ऐतिहासिक सम्बन्ध विजयनगर के प्रसिद्ध नरेश हरिहर प्रथम तथा हरिहर द्वितीय से संस्थिर होता है। अनेक ताम्रपत्रीय और शिला-गत लेख, इन राजाओं के काल मे इन आचार्यों के विषय मे लब्ध होते हैं। शिलालेखों के आधार पर माधव के नाम से भी ३ व्यक्तियों का अस्तित्व सिद्ध होता है। सायण के बड़े भाई आचार्य माधव और विद्यारण्य के अभेद्य सङ्केतक एक ताम्र-पत्र तथा कतिपय अभिलेखों पर दृष्टिपात वाञ्छ्य है। १३८६ ई. का एक ताम्रपत्रीय लेख इस बात का उल्लेख करता है कि, हरिहर द्वितीय के द्वारा परमहंस परिव्राजकाचार्य विद्यारण्य की उपस्थिति मे ३ वेद-विद्-पण्डितों – नारायण वाजपेयी, नरहरि सोमयाजी एवं पण्ढारि दीक्षित– को भूमि-दान किया गया। यहाँ उल्लिखित विद्यारण्य माधवाचार्य ही हो सकते हैं, क्योंकि अपने अनुज सायण को वेद-भाष्य-लेखन की प्रेरणा देने वाले माधवाचार्य का वेदों से गहरा सम्बन्ध रहा। ऐसी स्थिति मे विद्वारण्य के रूप मे इनकी उपस्थिति मे वेदज्ञ ब्राह्मण-त्रय को भूमि-दान की बात असङ्गत नहीं लगती।

पर इस ताम्रपत्र के प्रति विद्वानो ने आपत्ति उठायी है। इस आपत्ति के दो हेतु हैं। प्रथम यह कि, २८ जून १३८६ ई. को यह दान क्रिया सम्पन्न होती है। गणनाऽनुसार २८ जून गुरूवार को पड़ता है, जबकि इसमे मङ्गलवार दिन उल्लिखित है। द्वितीय यह कि, १३८६ ई. का ही एक ताम्रपत्र इस बात का उल्लेख करता है कि, इस भूमि दान के पूर्व २६ मई को

ही विद्यारण्य ब्रह्मलीन हो जाते हैं। परन्तु १३८६ ई. से पूर्व के दो अन्य अभिलेख दो वेदविपश्चित् विप्रों को भूमिदान किये जाने की घटना को उचित ठहराते हैं। साथ ही १३८० ई. का एक अभिलेख नरहरि वाजपेयी को भूमि देने की चर्चा करता है। इसी तरह १४१६ ई. का भी एक अभिलेख स्वामी विद्यारण्य के आदेश से भूमिदान की बात को पुष्ट करता है।

अतः ऊपर चर्चित १३८६ ई. के दो विरोधी ताम्रपत्रों की उपलब्धि के बावजूद अन्य अभिलेखों द्वारा माधवाचार्य तथा विद्यारण्य की एकता को बल मिलता है। इन उभय आचार्यों के भेदाभेद पर, जहाँ तक श्रृङ्गेरी मठ के 'आम्नाय' एवं 'गुरू वंश' महाकाव्य की स्पष्टता और प्रामाणिकता की बात है, वह भी संशीति-ग्रस्त है।

इस विषय मे कतिपय आचार्यों के ग्रन्थों के उल्लेखीय साक्ष अवश्यमेव महत्त्वाधायी हैं। 'प्रयोगपरिजात' के रचनाकार नरसिंह (१३६० ई.) ने अपने इस ग्रन्थ मे 'कालनिर्णय' का कर्ता विद्यारण्य को बतलाया है[1], जबकि यह माधवाचार्य की कृति है। इसी प्रकार नृसिंहसूरि की 'तिथि प्रदीपिका' विद्यारण्य यतीन्द्र को 'कालनिर्णय' का लेखक बतलाती है[2]। मित्रमिश्र (१६वीं शदी) ने 'पाराशरस्मृति व्याख्या' के प्रणेता के रूप मे विद्यारण्य को स्वीकार किया है।

इसी तरह तेलगू भांषा के व्याकरण को संस्कृत मे प्रस्तुत करनेवाले अहोबल पण्डित ने 'माधवीयाधातुवृत्ति' को विद्यारण्य की रचना के रूप मे उल्लिखित किया है[3]। इनके अतिरिक्त आचार्य बलदेव उपाध्याय ने 'सोर्सेज आफ विजयनगर-हिस्ट्री' मे चौण्डपाचार्य की 'प्रयोगरत्नमाला के

---

१. 'श्रीमद्विद्यारण्यमुनीन्द्रैः कालनिर्णये प्रतिपादितः प्रकारः प्रदर्श्यते।
प्रयोगपारिजात, उद्धृत 'आचार्य सायण एवं माधव', पृ० -१४३, ले. आचार्य बलदेव उपाध्याय।

२. 'विद्यारण्य निर्णीतः कालनिर्णयः।' उद्धृत, वही, पृ.–१४३

३. वेदानां भाष्यकर्ता विवृतमुनिवचा धातुवृतेर्विधाता
प्रोद्यद्विधानगर्यां हरिहरनृपतेः सार्वभौमत्वदायी।
वाणी निला हीवेणी सरसिजनिलयाकिङ्करीति प्रसिद्धा
विद्यारण्योऽग्रगण्योऽभिवदखिलगुरूः शङ्करो वीतशङ्कः॥
उद्धृत, वही, पृ०–१४३

दो श्लोकों को उद्धृत किया है।[१] इनमे अन्तिम श्लोक की पङ्क्तियां–

'वेदार्थ विशदीकर्ता वेदवेदाङ्गपारवित्।

विद्यारण्ययतिर्ज्ञात्वा श्रौतस्मार्तक्रियापरैः॥

विद्यारण्य के साथ ही वेदज्ञ माधवाचार्य के लिये भी प्रयोक्तव्य हैं। अतः इससे भी यह बात पुष्ट होती है कि, आचार्य माधव ही विद्यारण्य यतीन्द्र के रूप मे विश्रुति प्राप्त किये।

पूर्व मे चर्चित अभिलेखीय सङ्केत एवम् उपर्युक्त ग्रन्थकारों का आचार्य माधव तथा विद्यारण्य के प्रति अभेद-दर्शन– इस बात के पोषक हैं कि, माधवाचार्य तथा यति-श्रेष्ठ विद्यारण्य एक ही आचार्य के भिन्नकालिक दो नाम हैं। शिलालेखों में अभिहित विद्यारण्य की उपस्थिति मे द्विजों को भूमिदान, इस बात का व्यञ्जक है कि, जिस विद्यारण्य के सम्मुख विप्रों को धरा-खण्ड देने की क्रियायें सम्पन्न होती हैं, वे निश्चय ही वेद-ज्ञाता हैं, अन्यथा इनकी उपस्थिति/ अथवा निर्देशन मे धरित्री-प्रदान का (कोई) औचित्य सिद्ध नहीं होता। अभिलेखों मे इङ्गित विद्यारण्य की वेद-पारङ्गतता से माधवाचार्य एवं विद्यारण्य के ऐक्य की सम्भावना सशक्त होती है।

ऊपर उक्त विद्यारण्य तथा आचार्यमाधव के ग्रन्थों को एक दूसरे की रचना माने जाने का ग्रन्थीय उल्लेख, यह एक ऐसा साक्ष है, जिसे माधवाचार्य एवं मठाधीश विद्यारण्य की अभिन्नता-प्रतिष्ठापना मे अमान्य नहीं किया जा सकता। विद्यारण्य के समकाल और उत्तरकाल मे लिखे गये ग्रन्थों मे विद्यारण्य तथा माधवाचार्य का अभेदभाव तथ्य-शून्य माना जाय, इसका कोई कारण प्रतीत नहीं होता। निश्चय ही तत्कालीन विद्वान् आचार्यों के बीच माधवाचार्य और विद्यारण्य का ऐक्य प्रथित रहा, जिसके प्रतिफलस्वरूप नरसिंहादि आचार्यों ने इन दोनो आचार्यों मे अभेद दृष्टि रखी।

ऊपर वर्णित समस्त स्थितियों पर दृष्टिपात करने के अनन्तर निष्कर्षतः यही कहा जाना समीचीन लगता है कि, पञ्चदशी भारतीतीर्थ सहयोग-पूर्वक प्राक्माधवाचार्य संज्ञक विद्यारण्य की महत्त्वपूर्ण प्रणीति है।

---

१. वही, उद्धृत्–पृ० १४४

द्वितीय परिच्छेद :

कृति :- 'पञ्चदशी' इस नाम से ही यह बोध्य बन जाता है कि, यह ग्रन्थ पञ्चदश (१५) भागों मे विभक्त है। पञ्चदशीकार ने अपनी इस कृति को, अध्याय, उल्लास, मयूरव, परिच्छेद, आनन आदि रूपों मे विभाजित न करके प्रकरणों मे विभक्त करना अधिक युक्ति-सङ्गत समझा। प्रकरणों को आचार्य तीन रूपों मे देखता है– विवेक, दीप एवम् आनन्द। तत्त्व, पञ्चभूत, पञ्चकोश, द्वैत तथा महावाक्य ये पञ्च विवेक-प्रकरण हैं। चित्र, तृप्ति, कूटस्थ, ध्यान और नाटक-इनका सम्बन्ध दीप-प्रकरण से है। योग, आत्मा, अद्वैत, विद्या एवं विषय– ये आनन्द प्रकरण मे विवेचित हैं।

अद्वैत-वेदान्त के परमार्थ अथवा ब्रह्म के सुश्रुत लक्षण – सत्, चित् एवम् आनन्द– को भी उपर्युक्त प्रकरण-त्रयी से प्रबद्ध किया जा सकता है। विवेक के पांचों प्रकरणों मे सत् को जाग्रतादि अवस्थाओं, पञ्चभूतों, पञ्चकोशों तथा द्वैत-प्रपञ्च से विविक्त करके जानने एवं महावाक्य (प्रकरण) मे इसी तत्त्व का अद्वैत रूप मे साक्षात्कार – इन्हें ब्रह्म के सल्लक्षण मे अङ्गीकार किया जा सकता है। ब्रह्म के जिस चिदृ (संविद्) रूप से 'पञ्चदशी' की तत्त्वमीमांसा का श्रीगणेश होता है। दीप-प्रकरणो मे इसे प्रसार प्राप्त है। सार्ष्टिक दृष्टि से चिद् के विविध औपाधिक रूपों की वृहद् समीक्षा द्वारा आत्म/ब्रह्म-चिति के वास्तविक रूप का उद्घाटन, जो दीपप्रकरणनिचय का मुख्य आलोच्य है, यह ब्रह्म के चिल्लक्षण का बोधक माना जा सकता है। योगानन्द से लेकर विषयानन्द–पर्यन्त ब्रह्म के ही आनन्द-निरूपक आनन्द-प्रकरण, ब्रह्म/आत्मा के आनन्द लक्षण के परिचायक माने जा सकते हैं। इस प्रकार तत्त्व के सत्, चिद् तथा आनन्द विवेचन की दृष्टि से भी 'पञ्चदशी' के प्रकरण त्रय (अर्थात् विवेक, दीप एवम् आनन्द) का साधुत्व अबाधित सिद्ध होता है।

सम्प्रति 'पञ्चदशी' के प्रकरणों मे विवेचित विषयों पर भी (समासतः) दृष्टि-पात अप्रासङ्गिक न होगा –

प्रथम : तत्त्वविवेकप्रकरण –

इस प्रकरण मे संविद् (चिदात्मा) की जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्ति– इन तीनों अवस्थाओं मे एकरूपता, आत्मा संवित् और परमानन्दरूप ब्रह्म की अभिन्नता, प्रकृति का स्वरूप, ईश्वर के नैमित्तिक सम्बल से तमः प्रधान प्रकृति द्वारा पञ्चभूतों की उत्पत्ति, पञ्च (महा) भूतों का सम्मिश्रणात्मक

पञ्चीकरण, आत्मा की सांसारिकता के हेतु भूत अन्न, प्राण, मन बुद्धि तथा आनन्द – इन पञ्चकोशों का स्वरूप, आत्मा को पञ्चकोशों से पृथक् ब्रह्मरूप मे उद्भासित करने वाली, अन्वय-व्यतिरेक पद्धति, तत्त्वमसि महावाक्य का अर्थ, श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन तथा समाधि प्रभृति विषय-मीमांसित हैं।

द्वितीय : पञ्चभूत विवेक प्रकरण –

पञ्च (आकाश, वायु, अग्नि, जल तथा भूमि) भूतों के गुण तथा कार्य, पञ्चज्ञानेन्द्रियाँ, पञ्चकर्मेन्द्रियाँ एवं मन का स्थान, 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' इस श्रुति-वाक्य की अवतारणा द्वारा सत्य मे स्वगतादि भेद का निरसन, शून्य का सत् से पार्थक्य तथा सत् की अद्वैतता, शक्ति शक्तिमान्-ब्रह्म का अंश, शक्तिमान् से पृथक् शक्ति की कल्पना असम्भव, सदाश्रितता में ही शक्ति का सर्जन-सामर्थ्य, सत्य मे शक्ति-कल्पित, आकाश, वायु, अग्नि, जल तथा पृथिवी रूप विकृत पदार्थों से सत्य का अलग बोध होने पर इनका मिथ्यात्व, इसी प्रकार इनसे उत्पन्न ब्रह्माण्ड, चतुर्दश भुवनो एवम् इनमे रहने वाले प्राणियों से सत् का विवेक हो जाने पर इनकी असत्यता तथा अद्वैत सत् की सार्वकालिक अबाधता – इस प्रकरण के विचारित विषय है।

तृतीय : पञ्चकोशविवेकप्रकरण –

अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय एवम् आनन्दमय कोशों का स्वरूप तथा आत्म-चिति की इनसे भिन्नता, आत्मा का आनन्दत्व, चैतन्य, स्वयं प्रकाशत्व, सत्यत्व एवम् अनन्तत्व, जीव तथा ईश्वर ब्रह्म के औपाधिक रूप, कोश और शक्ति की अपेक्षा से ही ब्रह्म का जीवेश्वरत्व – इस प्रकरण के प्रतिपादन हैं।

चतुर्थ : द्वैत-विवेक प्रकरण –

द्वैत-विवेचन हेतु समर्पित इस प्रकरण मे- जगदुत्पत्ति से सम्बद्ध परमतत्त्व की कामनाविषयिणी श्वेताश्वेतर, ऐतरेय, तैत्तिरीय, छान्दोग्य, मुण्डक तथा बृहदारण्यक-श्रुतियों का उल्लेख, इनका समर्थन, जीव का स्वरूप, ईश्वर-निर्मित प्रपञ्च, जीव-सृष्ट मनोमय द्वैत, जीव सर्जित द्वैत ही जीव के बन्धन का कारण, जीव-सृष्ट द्वैत के दो भेद – आत्मब्रह्मविचाराख्य शास्त्रीय एवम् इससे भिन्न अशास्त्रीय, तत्त्व बोध-पर्यन्त ही शास्त्रीय द्वैत की उपादेयता, अशास्त्रीय द्वैत के दो रूप– तीव्र (काम क्रोधपि से युक्त)

एवं मन्द (मनोराज्यमय), मुमुक्षु के लिये अशास्त्रीय द्वैत का परित्याग आवश्यक – प्रभृति विषय वर्णित हैं।

पञ्चम : महावाक्यविवेकप्रकरण –

ऋग्वेदीय ऐतरेयोपनिषद् का 'प्रज्ञानं ब्रह्म', यजुर्वेद के बृहदारण्यकोपनिषद् का 'अहं ब्रह्मास्मि', सामवेद से सम्बद्ध छान्दोग्योपनिषद् का 'तत्त्वमसि तथा अथर्ववेदीय माण्डूक्योपनिषद् का 'अयमात्मा ब्रह्म' – इन चार श्रौतिक वाक्यों के अर्थ की व्याख्या यहां प्रस्तुत है।

षष्ठ : चित्रदीप प्रकरण –

चित्रपद मे दृष्ट चतुरवस्था के सदृश परमात्मा की चित्, अर्न्यामी, सूत्रात्मा तथा विराट्परक अवस्था-चतुष्टयी, अविद्या और विद्या का स्वरूप, विद्या-लब्धि के सोपान, चैतन्य के कूटस्थ, ब्रह्म, जीव एवम् ईश्वर- ये ४ भेद, जीव और कूटस्थ का अन्योऽन्याध्यासत्व, कूटस्थ तथा चिदाभास का भैन्न, आत्मा के स्वरूप पर लोकायत, हिरण्यगर्भ, नारदपञ्चरात्र, योगाचार (विज्ञानवाद), माध्यमिक (शून्यवाद) दर्शन-सरणियों की मान्यता एवम् इनकी असैद्धान्तिकता, आत्मा के अणुत्व का खण्डन तथा विभुत्व का मण्डन, आत्मा के चिद्रूप पर प्राभाकर एवं भाट्टमीमांसकों तथा नय्यायिकों का अभिमत, इनमे प्राप्त दोष, ईश्वर के विषय मे सांख्य-योग, न्याय आदि विभिन्न मतों की धारणा, श्रुत्यनुसारी स्वमतेष्ट ईश्वर का रूप, ब्रह्म और ईश्वर के तादात्म्य मे अन्योऽन्याध्यास की कारणता, ब्रह्म तत्त्व के ज्ञान से ही मुक्ति, जीव तथा ईश्वर विषयक विवाद का वैयर्थ्य, ब्रह्म के स्वरूप बोध की अर्थवत्ता, जीव और ईश्वर की क्रमशः बुद्धि तथा माया की उपहितता, कूटस्थ एवं ब्रह्म का शुद्ध रूप, भेद तथा अभेद दृष्टि रखने वाले अविवेकी एवं विवेक युक्त प्राणियों के दर्शन मे जगत् और ब्रह्म का स्वरूप, द्वैत एवम् अद्वैत, अद्वैत की सार्थकता, वैराग्य, तत्त्वज्ञान तथा उपरति – तीनो की मोक्ष मे उपयोगिता, (किन्तु) तत्त्वज्ञान का मोक्ष मे सर्वाधिक महत्त्व एवं चित्रदीप का तात्पर्य– ये सब चित्रदीप के वैषयिक आकर्षण हैं।

सप्तम : तृप्तिदीप-प्रकरण –

यह पञ्चदशी का सबसे बड़ा प्रकरण है। 'आत्मानं चेद्विजानीयादयस्मीति पुरुषः' बृहदारण्यक की इस श्रुति मे उक्त पुरुष शब्द का अर्थ, अहं पद का मुख्यामुख्य रूप, 'त्वमेव दशमोऽसि' इस दृष्टान्त का दार्ष्टान्तिक चिदात्मा के स्वरूप मे विनियोग, चिदाभास की अज्ञान, आवृति, विक्षेप आदि सप्त

अवस्थायें, सान्तःकरण जीव एवं निरन्तःकरण ब्रह्म का ऐक्य (अपरोक्ष बोध), 'अहं ब्रह्मास्मि' प्रभृति महावाक्यों से सम्भव, महावाक्यों से उत्पन्न जीव-ब्रह्मैक्य दृढ़ता हेतु श्रवणादि साधनो की अपेक्षा, सांसारिक भोग्य पदार्थों के वास्तविक स्वरूपबोध के पश्चात् विवेकी को इनके प्रति अनासक्तिभाव, विवेकयुक्त भोग के द्वारा तृष्णा के वजाय स्वल्प मे तृप्ति, इच्छा, अनिच्छा तथा परेच्छा प्रकारक प्रारब्ध का लक्षण, उद्देश्य-भिन्नता के कारण तत्त्वज्ञान एवं प्रारब्ध-भोग मे अविरोध, आत्मा के भोक्तृत्व के सम्बन्ध मे विविधपक्ष तथा भोक्तृ-राहित्य ही उसका वास्तविक रूप, स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण शरीर मे व्याप्त त्रिविध ज्वर, ज्वर जीव द्वारा आरोपित तथा मिथ्या, जीव द्वारा अपने वास्तविक (साक्षी) रूप के चिन्तन से इसकी निवृत्ति तथा ब्रह्मज्ञानी की नित्य-तृप्ति के लक्षण-प्रभृति विषयों का आलोकन इस प्रकरण मे हुआ है।

अष्टम : कूटस्थदीप-प्रकरण –

शरीर से बाहर व्याप्त ब्रह्म और तदाश्रित चिदाभास मे भेद, शरीर के अन्तर्गत कूटस्थ चैतन्य एवं चिदाभास मे पार्थक्य, कूटस्थ तथा ब्रह्म की एकता तथा इसका बुद्धि आदि से अतादात्म्य, माया के द्वारा ईश्वर और जीव की कल्पना, कूटस्थ की अमायिकता, जगत् का मिथ्यात्व एवं परमार्थ का स्वरूप आदि- इस प्रकरण मे विवेचित हैं।

नवम : ध्यानदीप-प्रकरण –

संवादी तथा विसंवादी भ्रम, ब्रह्मतत्त्वोपासना का फल मुक्ति, तत्त्वज्ञान के परोक्षत्व की भ्रमशून्यता, विचार से अपरोक्ष ज्ञान की उत्पत्ति, अपरोक्ष ज्ञानोदय मे अतीत, वर्तमान एवम् अनागत के प्रतिबन्ध, निर्गुणोपासना की विहितता, ब्रह्मज्ञानी के अनासक्तिजन्य व्यवहार की विलक्षणता, ब्रह्मज्ञान मे निर्गुण ब्रह्मोपासना की परिणति, निर्गुणोपासना का वैशिष्ट्य तथा इसका फल प्रभृति विषय यहाँ चित्रित हैं।

दशम : नाटकदीप-प्रकरण –

माया शक्ति के द्वारा परमात्मा की जीव तथा जगत् के रूप मे अभिव्यक्ति, स्वरूप-प्राप्ति-हेतु विचार की आवश्यकता, नृत्यशालास्थ दीप के समान साक्षि चैतन्य मे द्रष्टा, दर्शन और दृश्य को एक साथ प्रकाशित करने का सामर्थ्य, नित्य प्रकाशशील कूटस्थ की निर्विकारता तथा इससे प्रकाशित बुद्धि आदि मे ही विकृति का उदय, साक्षी की अगतिशीलता, गमनागमनत्व, बाह्याबाह्यत्व आदि धर्मो का बुद्धि से सम्बन्ध, देशकालादिरहित

आत्मा का साक्षित्व भी बुद्धि आदि की परिकल्पना पर संश्रित, समस्त ग्राह्य पदार्थों के शमनानन्तर ग्राह्यातीत आत्मा की शेषता एवम् स्वयं प्रकाशरूप आत्मा के साक्षात्कार- हेतु अन्य प्रमाणो की अनपेक्षा आदि विषय यहाँ प्रतिपादित हुये हैं।

एकादश : योगानन्द-प्रकरण –

श्रृतियों के द्वार से ब्रह्म-ज्ञान मे ही अनर्थ की निवारकता तथा परानन्दता, ब्रह्मानन्द, विद्यानन्द एवं विषयानन्द नामक त्रिविधानन्द, आनन्द रूप ब्रह्म की जगत्कारणता, वैषयिक सुख की दुःखरूपता, अद्वैत का सुखरूपत्व, अद्वैत की स्वप्रकाशता, सौषुप्तिक आनन्द मे ब्रह्मानन्द, ब्रह्म-बोध मे गुरू और शास्त्र की महत्ता, स्वयंप्रभ ब्रह्मानन्द से अन्य आनन्दों की उत्पत्ति, द्वैत तथा निद्रा से हीन आनन्द ब्रह्मानन्द, मन की द्विरूपता, मन की विषयासक्ति बन्धन का कारण, ब्रह्मानन्दानुभूति मे समाधि की भूमिका एवं ब्रह्म-बोध के फलस्वरूप विवेकी मे विषय और ब्रह्म-उभयग आनन्द भोग का सामर्थ्य – इत्यादि इस प्रकरण के विवेचन हैं।

द्वादश : आत्मानन्द-प्रकरण –

'न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवत्यात्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति' – बृहदारण्यकोपनिषद् के इस वाक्य के द्वारा आत्म-तत्त्व की प्रियेतमता, आत्मा की प्रीति का स्वरूप, श्रुतियों मे उपदिष्ट पुत्रादि मे आत्मत्व की प्रतिष्ठापना का तात्पर्य, गौण, मिथ्या तथा मुख्य – इन तीनो रूपों मे आत्मतत्त्व की उपलब्धि, साक्षित्व ही आत्मा का मुख्य रूप, सर्वाभ्यन्तरतावशात् आत्मा की अतिशयप्रियता, पुत्रादि मे प्रियता का त्याग करके परमप्रेमास्पद आत्मा के अनुसन्धान का औचित्य, चिद्वत् आनन्द भी आत्मा की निजता, यथा दीपक का आलोक गृह को व्याप्त करता है, पर उसकी उष्णता नहीं, तद्वत् बुद्धि आदि मे आत्मा के केवल चैतन्यरूप की व्याप्ति, आनन्द की नहीं एवं ज्ञानी तथा योगी की समानता-प्रभृति विषय यहाँ विवेचित हैं।

त्रयोदश : अद्वैतानन्द-प्रकरण –

तैत्तिरीय श्रृति-अभिहित 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः' आनन्दरूप आत्मा मे प्रपञ्च की उपादानता, आरम्भ, परिणाम एवं विवर्त का रूप, जगत् की ब्रह्म से वैवर्तिक उत्पत्ति, शक्ति तथा शक्तिमान् की अभिन्नता, शक्ति से युक्त होकर आत्मा का विश्व हेतुत्व, इस सन्दर्भ

मे योगवाशिष्ठ का मत, शक्ति की अनिर्वचनीयता, शक्ति के कार्य का भी अनिर्वचनीयत्व, 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्' छान्दोग्योपनिषद् की इस मान्यता को आधार बनाकर नाम रूपात्मक विकृत जगत् की असत्यता, तीनों कालो में एक जैसी रहनेवाली मृत्तिका की भांति ब्रह्म/आत्मा की ही सत्यता, उत्पत्ति के प्रारम्भ तथा परिणाम सिद्धान्तों मे दोष, विवर्त ही निर्दुष्ट और श्रौत सिद्धान्त, कार्य-बोध, कारण-बोध पर श्रित, सच्चिदानन्द ब्रह्म एवं नामरूपात्मक विष्टप का स्वरूप, अव्याकृत और व्याकृत जगत्, ब्रह्म का सच्चिदानन्द रूप जागतिक पदार्थों मे अनुस्यूत, प्रापञ्चिक पदार्थों का मिथ्यात्व और उनमे व्याप्त ब्रह्म की अवितथता, मायाशक्ति अपने अचिन्त्यसामर्थ्य से विभिन्न विकृतियों का कारण, ब्रह्म के सच्चिदानन्द लक्षण के अवबोधनार्थ सांसारिक प्रपञ्च काअवधीरण परमापेक्षित – इन सबका निर्वचन इस प्रकरण मे हुआ है।

चतुर्दश : विद्यानन्द-प्रकरण–

विद्यानन्द का रूप, दुःखाभाव, कामाप्ति, कृतकृत्यता तथा प्राप्य-प्राप्तता – विद्यानन्द के चतुर्भेद, भोग्यत्त्व एवं भोक्तृत्त्व– दोनो से आत्म-तत्त्व की परता, असत् वैश्व पदार्थों से आत्मा का पृथक् बोध होने पर ज्वर, पाप, पुण्य आदि समस्त कर्मों के बन्धन का वैयर्थ्य, प्रापञ्चिक दुःखाभाव होने पर ज्ञानी को समस्त भोगों का सौलभ्य, ब्रह्मवित् की कृत्यकृत्यात्मक-नित्य तृप्ति कास्वरूप एवं प्राप्य-प्राप्त लक्षण वाले विद्यानन्द का लक्षण– ये इस प्रकरण मे वर्णित हैं।

पञ्चदश : विषयानन्द-प्रकरण–

विषयानन्द की उपाधिभूत मानसिक वृत्तियों के शान्त, घोर और मूढ़ – ये तीन भेद, समस्त वृत्तियों मे ब्रह्म के चिद् रूप का प्रतिबिम्बन, सुख का आविर्भाव शान्ति वृत्ति मे, सत्ता, चैतन्य तथा आनन्द ब्रह्म का स्वभाव; घोर और मूढ़ वृत्ति मे सत्ता एवं चैतन्य की आप्ति, परन्तु शान्ति वृत्ति मे तीनो की सुलभता, अमिश्रित ब्रह्म-लक्षण तथा माया की त्रिरूपता, वृत्ति सम्पृक्त ब्रह्म-ध्यान की त्रयी, अवृत्तिक ब्रह्म-ध्यान ब्रह्म-विद्यारूप, इसके द्वारा मुक्ति-सम्भाव्यता – ये इस प्रकरण के विवेचित विषय हैं।

इन पञ्चदश प्रकरणो मे चर्चित तात्त्विक विवेच्यों के अतिरिक्त जहाँ तक 'पञ्चदशी' की काव्यगत सुष्ठुता का प्रश्न है, उस दृष्टि से भी यह अवर नहीं। 'पञ्चदशी' मूलतः दर्शन सरणि का एक प्रमेय ग्रन्थ है। इसमें

आध्यात्मिक तथा दार्शनिक तत्त्वों की अद्वैत वेदान्त-सम्मत सुबोध एवं सरल भाषा मे व्याख्या प्रस्तुत है। वैदर्भी रीति मे प्रणीत यह दार्शनिक रचना भाषा तथा शैली की प्रसादता, विशदता एवं बोधगम्यता की दृष्टि से समूची शाङ्करवेदान्त परम्परा का गौरव है। पञ्चदशी की भाषा-निष्ठ साङ्गीतिक लयता एवं शैली की रमणीयता शुष्क दार्शनिक विषयों को भी आकर्षक बनाने में पूर्ण सफल है। भाषा की प्रवाहमयता तथा सम्प्रेषणशीलता के कारण यहाँ वैषयिक दौर्बोध का अभाव दृष्टि-गत होता है।

वैसे तो पञ्चदशी की भाषा स्वतः प्रासादिक एवं मधुरगुणोपेत है, परन्तु इसमें सहजतः आगत अनुप्रास और उपमा प्रभृति अलङ्कार[1] इसके

---

१. (अ) 'पञ्चदशी' के अनेक पद्यों मे अनुप्रासीय चारूता अवलोकनीय है, यथा–

अभाने न परं प्रेम भाने न विषये स्पृहा।
अतो भानेऽप्य भातोऽसौ परमानन्दमात्मनः॥ (१। ११)
भानेऽप्यमानं मानस्य प्रतिबन्धेन युज्यते॥ (वही, १२)
तत्तत्कोशैस्तु तादात्म्यादात्मा तत्तन्मयो भवेत ॥ (वही, ३६)

इसी प्रकार – २।७७, ४।२५, ३०, ३१, ६८, ६।२०, २०१, २८८, ७।५४, ५५, १५२, १६८, १९०, २१५, २९७, १३।१६, १९, १४।५८, ६३ आदि अवलोक्य हैं।

(ब) पञ्चदशी मे अनायासतः आगत उपमायें भाषा के लालित्य-वर्धन के साथ वैषयिक गुरूता को स्पष्ट करने मे सहायक दिखलाई पड़ती हैं। उदाहरण के रूप मे कतिपय उपमायुक्त पद्य उल्लिखित है –

कुर्वते कर्मभोगाय कर्म कर्तु च मुञ्जते।,
नद्या कीटा इवावर्तादावर्तान्तरमाशुते। (१।३०) १।४२, २।५९, ४।९८, भी द्रष्टव्य।
यथा धौतो धट्टितश्च लाञ्छितो रञ्जितः पटः।
चिदन्तर्यामी सूभात्मा विराट् आत्मा तथेर्यते॥ (६।२), ६।९८, २०२, ७।१३६,१६४

आदि भी अवलोकनीय।

तन्तोर्वियुज्ये पटो बालेभ्यः कम्बलो यथा।
मृदो घटस्तथा देहो ज्वरेभ्योऽपीति दृश्यताम्॥ (७।२२८)

(इसे मालोपमा के उदाहरण के रूप में स्वीकार किया जासकता है।) अन्य उपमायें ७।२३८, २४०, ८।९, ९।३७, १०।१५, ११।४९, ७०, १२।७९, १३।१०, १४।९३, १४, १५।७, ८, ११ मे द्रष्टव्य।

(स) मायारव्यायाः कामधेनोर्वत्सौ जीवेश्वरावुभौ।
यथेच्छं पिबतां द्वैतं तत्त्वं त्वद्वैतमेव हि॥ ६।२३६
इसे रूपक का एक उदा. माना जा सकता है।

माधुर्य को और अधिक अभिवृद्ध करते हुये दिखते हैं। पञ्चदशी का छन्दस्-प्रयोग भी प्रशस्य है। अनुष्टुप् जैसे लघु अष्टाक्षरी समवृत्त मे 'पञ्चदशी' जैसे बृहत् शास्त्रीय ग्रन्थ की वैषयिक वैशद्य के साथ विनिर्मिति, निश्चय ही आचार्य विद्यारण्य की सर्वतोमुखी प्रतिभा का अभिव्यञ्जक है।

एक उपदेष्टा आचार्य की भांति पञ्चदशी की शैली उपदेश परक है। विविध लौकिक दृष्टान्तों द्वारा विवेच्य को स्पष्ट करने की पद्धति भी प्रभावक है। किसी भी तथ्य का प्रतिपादन पञ्चदशी प्रणेता को तब तक अनभीष्ट नहीं, जब तक उनकी दृष्टि मे वह पाठकीय अवगतार्हता से युक्त न हो गया हो। अन्य शास्त्रीय ग्रन्थों के सदृश पञ्चदशी में भी पूर्व एवम् उत्तर पक्ष– दोनो को स्थान मिला हुआ है। यहाँ जैन, बौद्ध, चार्वाक, सांख्य-योग, न्याय-वैशेषिक, पूर्वमीमांसा आदि के सिद्धान्तों को पूर्व-पक्ष में रखकर, अद्वैतमतानुकूल स्वाभिप्रेत सिद्धान्तों को उत्तर पक्ष मे स्थिर करते हुये, पूर्वपक्षों का खण्डन प्रस्तुत है। रचनाकार सिद्धान्तपक्ष-प्रतिष्ठापन मे श्रुतियों के साथ-साथ आचार्य गौड़पाद की माण्डूक्योपनिष्द् भाष्यकारिका, योगवाशिष्ठ, गीता तथा सुरेश्वराचार्य आदि का सहयोग लेता है।

उत्तर - शकल
तत्त्व - मीमांसा

'पञ्चदशी' शाङ्कर वेदान्त को अभीष्ट तत्त्व-प्रतिष्ठापन मे पूर्ण आस्थावान् है। इसमे प्रतिपादित तत्त्वों को तीन सृतियो मे विभाजित किया जा सकता है :-

(१) शुद्ध

(२) अनिर्वचनीय एवं

(३) चैतन्याभास (मायोपहित तथा आविद्यक)

शुद्ध तत्त्व के अन्तर्गत आत्मा अथवा ब्रह्म स्वीकार्य है। शुद्ध तत्त्व का ऐसा रूप है, जो माया एवम् अविद्या की उपाधियों से परे है। यही आत्मा या ब्रह्म का वास्तविक रूप है।

प्रथम : परिच्छेद —

आत्मा / ब्रह्म :-

आत्म-तत्त्व दार्शनिकी मीमांसा का केन्द्र-भूत विषय रहा है। विश्व की सम्पूर्ण दार्शनिक चेतना परोक्षापरोक्ष रूप मे इससे जुड़ी रही है। 'यत् पिण्डे तत् ब्रह्माण्डे' जैसी उक्तियों ने भी प्राणिस्थ तत्त्व एवम् असीम ब्रह्माण्ड मे समायी सत्ता मे तादात्म्य दर्शन करते हुये, जीव-निहित अस्तित्व को सम्यक् प्रतिष्ठा दी।

भारतीय दर्शन क्री बहुसंख्यक शाखाओं ने 'आत्मा' को किसी न किसी रूप मे अपना आलोच्य बनाया। भारतीय दर्शन की वेदान्त-परम्परा ने (उपनिषद्) श्रुतियों को अपना पूर्ण उपजीव्य परिनिष्ठित करते हुये, आत्म-तत्त्व का बृहद् पर्यालोचन किया है। इसमें शाङ्कर वेदान्त की मीमांसा विशिष्ट रही। इसका कारण यह रहा कि, इस मत मे अन्य वेदान्तों से पृथक् आत्मा अथवा जीवात्म-चिति को सत्ता तथा शुद्धता के चरमोत्कर्ष ब्रह्म तत्त्व से पूर्ण अभेध माना गया।

वैदिक संहिताओं मे यह आत्म-तत्त्व देह और प्राण-वायु से लेकर आभ्यन्तर चैतन्य के रूप मे प्रतिष्ठित है। वेदों के उपनिषत् काल ने आत्मा को चेतना, आनन्द एवम् अस्तित्व की वह ऊंचाई प्रदान की, कि इसमे तथा परमसत्ता मे कोई अन्तर न रह गया। यह चरम सत्ता का पर्याय

भी बन गया। चिदेकरसता,[१] उत्कृष्ट चैतन्यरूपता,[२] सर्वात्मयता,[३] सत्यता,[४] आनन्दत्व,[५] सर्वप्रकाशकता,[६] लक्षणातीतता,[७] अचिन्त्यादिपरता[८] तथा समस्तज्ञान संश्रयता[९] प्रभृति रूपों मे उपनिषदें आत्मा का दर्शन करती हैं।

उपनिषद्-साहित्य आत्मा मे परमप्रियता का भी दर्शन करता है।[१०] इसीलिये सब कुछ छोड़ कर इसी को प्राप्त करने का उपदेश भी दिया जाता है।[११]

विचारणीय यह हो जाता है कि, आज भौतिक विज्ञानों की उत्कर्षण चकाचौंध (जो भले ही जड़ात्मक है) के सम्मुख उपनिषदों का आत्म-रूप क्या अपने याथार्थ्य को परिनिष्ठित करने मे समर्थ है? अधुनातन वैज्ञानिक चिन्तनो के आधार पर क्या इसकी प्रासङ्गिकता है? आदि।

इस सन्दर्भ मे प्रथम तो यह ध्यातव्य है कि, यदि हम नितान्त भौतिक धरातल परऔपनिषद आत्म-तत्त्व को समझना चाहेंगे, तो हमे निराशा का अनुभव होगा। साथ ही ऐसा करना इसके साथ अन्याय भी होगा, क्योंकि यह भौतिकेतर सूक्ष्म तथा परा वैज्ञानिक वस्तु है। भौतिक विज्ञानों के सूत्रात्मक नियम, इनकी प्रायोगिक पद्धति तथा इनकी यान्त्रिकता आदि आत्मा जैसे अनुभूतिगम्य, अमूर्त, असीम एवम् अलौकिक तत्त्व का बोध कराने मे अक्षम सिद्ध होते हैं। उपनिषदें जिस तत्त्व के वास्तविक रूप को जानने मे ऊँची बौद्धिकता, बड़े से बड़े तर्क – इन सबको असमर्थ स्वीकार करती हैं, उसे गतिशील तथा नश्वर जगत् के विषयों को आलोच्य

---

१. 'चिदेकरसो ह्ययमात्मा'। नृ. उ. – १
२. 'उत्कृष्टतमं चिन्मात्रम्'। वही – ५
३. 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्।' छा. – ६।८।७
४. 'तत् सत्यं स आत्मा।' छा. – ६।८।१६
५. 'आनन्द आत्मा।' तै. उ. – २।५।१
६. 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।' कठ. – २।२।१५
७. 'अलक्षणम्।' मा. उ. – ७
८. 'अव्यवहार्यमचिन्त्यमपदेश्यमैकात्मप्रत्ययसारम्।' वही – ७
९. 'आत्मनि......विज्ञात इदं सर्वं विदितम्।' बृह. – ४।५।६
१०. 'न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवति। आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति।' वही – ४।५।६
११. 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः, श्रोतव्यः, मन्तव्यः निदिध्यासितव्यश्च॥' वही – २।४।८

बनाने वाले शास्त्रों द्वारा अधीत किया जाना सम्भव नहीं। वस्तुतः औपनिषद आत्मा को भौतिकी मीमांसा के आधार पर व्याख्यायित किये जाने की बात ही असङ्गत है। इसलिये औपनिषद चिन्तन मे आत्मा के स्वरूप मे सन्निष्ठ व्यापकता, नित्यता, चिदानन्दता, शरीरादि की नश्वरता के बावजूद इसकी अनश्वरता आदि को आज के भौतिक विज्ञानो द्वारा समझने का प्रयास मन्द है।

जहाँ तक उपनिषदों को अभीष्ट उपर्युक्त आत्मा के अभौतिक प्रतिष्ठा की बात है, वह जिस तरह जगत् की अस्थिरता, नश्वरता आदि के बीच पूर्व मे सार्थक रही, उसी तरह आज भी है और भविष्य मे भी रहेगी। वह आत्म-तत्त्व की ऐसी सच्चाई है, जो कालत्रय तथा बौद्धिक-अपकर्षोत्कर्ष से असंस्पृष्ट है। इस प्रकार साम्प्रतिक-भौतिक विज्ञानज समुन्नतियों के बावजूद आत्मा के स्वरूप की महत्ता पूर्ववत् अक्षुण्ण है।

यहाँ सामान्य अथवा लोक-स्तर पर यह कहा जा सकता है कि, उपनिषद्-प्रतिपादित आत्मा का नित्यत्व सांसारिक अनुभव के विरूद्ध है। लोक मे हमे शरीरादि के नष्ट होने पर चिदात्मा का अवशेष दृष्टि-गत नहीं होता। यह कायादि के साथ उत्पन्न होकर इन्हीं के साथ नष्ट होता हुआ दिखलाई पड़ता है। पर आत्म-तत्त्व गात्र एवम् इन्द्रियों आदि के साथ मृत्यु को प्राप्त होताहै, यह लोक-स्तर पर भी सिद्ध नहीं किया जा सकता। शरीर प्रभृति मूर्त पदार्थों को नष्ट होते हुये देखा जाता है, परन्तु अमूर्त आत्मा विनष्ट होते कभी भी किसी के द्वारा दृष्ट नहीं होता। अगर अन्य सांसारिक पदार्थों की भांति यह मूर्त होता, तो इसका भी विनाश सुनिश्चत था। मृत्यु की तरह इसकी उत्पत्ति भी वपुस् के साथ प्रमाणित नहीं की जा सकती। अतः औपनिषद आत्मा का स्वरूप उत्पत्तिविनाशप्रकृतिक जागतिक वस्तुओं के सदृश स्वीकार्य नहीं है।

जिज्ञासा उत्थित होती है कि, प्राणिस्थ आत्म-चेतना को शाश्वत मानकर उपनिषद्-श्रुतियां किस रहस्य का उद्घाटन करना चाहती हैं, अथवा इसके पीछे उनका उद्देश्य क्या है? वस्तुतः प्राणिनिहित चिति को नित्य अङ्गीकार करके औपनिषद श्रुतियां कई महत्त्वपूर्ण परावैज्ञानिक सङ्केत देना चाहती हैं। इस परिवर्तनशील एवं विनाशधर्मी जागतिकता के मूल मे नित्य, चिन्मय, तथा अपरिवर्त्य सत्य का अस्तित्व है। प्राणि-निहित चेतना भी उसी का रूप है। वह दृश्यादृश्य तत्त्व, जो समस्त वैश्व प्रपञ्च का कारण

(आश्रय) है, उसके चिदस्तित्व का वोधक जीव-स्थ चेतना है। प्राणियों मे अस्तित्ववान् चैतन्य जो परमार्थतः परमसत्ता का रूप है, उपनिषदें प्राणधारियों को शरीर इत्यादि से ऊपर उठकर इसे जानने हेतु प्रेरित करती हैं। इसके पीछे इनके दो उद्देश्य हैं – प्रथम यह कि, चिद् के अतिरिक्त कायादि समस्त सांसारिक पदार्थ नष्टधर्मा होने के कारण अतात्त्विक हैं, अतः इनका ज्ञान वास्तविक नहीं है। द्वितीय यह कि, चैतन्य ही वास्तविक तत्त्व है, अतः उसका बोध ही सही तथाश्रेयस्कर है। अपने मे स्थित चैतन्य को अगर हम वस्तुतः जान लेते हैं, तो हमे अन्य वैष्टप वस्तुओं को जानने की आवश्यकता भी नहीं रह जाती, क्योंकि सबका मूलाधार यह चैतन्य ही है।

प्रश्न उठाता है कि, जीवो मे निष्ठ चैतन्य को नित्य एवं जीवो का सच्चा रूप पिरिनिष्ठत करने से प्राणियों का कौन सा अभ्युदय हो सकता है? इसका आध्यात्मिक महत्त्व भले ही हो, पर व्यावहारिक दृष्टि से यह महत्त्वाधायी प्रतीत नहीं होता । जींवाधारियों का तो यथार्थ उत्कर्ष इसी मे परिलक्षित होता है कि, भौतिक समृद्धियों से उनका जीवन युक्त हो। इस समय हम देख रहे हैं कि मानव पृथिवी लोक मे विभिन्न भौतिक वैज्ञानिक जानकारियों के फलस्वरूप, अनेक प्रकार की उपलब्धियों से अपने को गौरवान्वित समझता है। वह न केवल पृथिवी पर खगोलीय जानकारियों तथा इन से मिलने वाले परिणामो से अपने को समृद्ध करके सन्तुष्ट है, अपितु उसका प्रयास है कि वह ब्रह्माण्ड के अन्य (चन्द्र मंगल, गुरु, शुक्र आदि) लोकों मे भी अपने अनुसन्धानादि के चमत्कार से अपना वर्चस्व प्रतिष्ठि करे।

सम्प्रति, हम आधुनिक वैज्ञानिक अनुसन्धानो आदि के बल पर प्राकृतिक शक्तियों की दोहनार्हता एवम् अपार ब्रह्माण्डादिविषयक (सीमित) जानकारियों को अर्जन करके, विकास या उन्नति का जो डिण्डिम नाद करते है, औपनिषदानुसार यह वास्तविक तथा पूर्ण उत्कर्ष नहीं है। साथ ही इस प्रकार की उन्नति मे जड़ता एवं भौतिकता की नींव पर खड़ा विकास का प्रासाद कभी भी आदर्श नहीं बन सकता। उपनिषद् चिन्तन जड़ता के स्थान पर चेतनात्मक विकास की वकालत करता है। उपनिषदों की सम्मति मे चेतनाधर्मी अभ्युन्नति मे व्यष्टि एवं समष्टि के अस्तित्व

की रक्षा तथा श्रेय का सातत्य विद्यमान है। इस प्रकार के विकास मे न तो जड़ता का तमस् रहता है, न ही वैकारिकता का दोष।

उपनिषदें प्राणियों के तात्त्विक चैतन्यास्तित्व को अमरणधर्मा प्रतिष्ठित करके कर्म-विज्ञान के महत्त्व को संस्थिर करती हैं। एक जन्म के अभुक्त कर्म - परिणामो को जीवात्मायें प्रारब्ध -द्वार से दूसरे जन्मो मे भोगते हैं। इन्हीं के कारण विश्व मे अनेक योनियों तथा पारस्परिक विषमताओं का औचित्य सिद्ध होता है। यदि जीव को अपने तात्त्विक रूप मे भी नश्वर मान लिया जाय, तो विविधि योनियों मे इनके जन्म एवम् इनको प्राप्त दुःख-सुख मे आन्तर्य की कोई वैज्ञानिक व्यवस्था नहीं रह पाती। साथ ही जीवन को मरणशील मानने पर उदात्त जीवन मूल्यों की महत्ता भी प्रभावित होती है। जीव को अनित्य अङ्गीकार करने पर उसका अस्तित्व शरीर विशेष तक स्वीकार्य बनता है। उसके सत्, असत् अथवा नैतिक, अनैतिक कर्मों का जो भी फल मिलना है, वह प्राप्त शरीर तक ही सीमित रहता है। ऐसी स्थिति मे सदाचरणी प्राणी को अगर (किन्हीं कारणोंवश) अपने कर्मो का सुफल न मिला, तो उसका सत्कर्मों का वर्तन व्यर्थ सिद्ध होता है। लोक मे यह देखने मे भी आता है कि, बहुत से लोग सत् कर्मों का आचरण करने के बावजूद उनका सुफल न प्राप्त करके, नाना प्रकार के यातनाओं से सन्त्रस्त रहा करते हैं। इस स्थिति मे सदाचरणियों की दुर्दशा देख कर लोग सत् अथवा नैतिक कर्मों के प्रति आकृष्ट न होंगे, साथ ही जो सत् या नीतिवर्ती हैं, उनमे भी कुण्ठा का उदय होगा और वे भी धीरे-धीरे इस श्रृत् मार्ग से अलग हो सकते हैं। परन्तु यदि सत्पथी जीव की धारणा इस विषय मे दृढ़ रहती है कि, उसका अस्तित्व इस शरीर के बाद भी रहेगा, तो वह निराश न होकर भावी जन्म मे अपने इन सत्क्रियाओं के सुपरिणामो की आशा से सदयन का परित्याग न करेगा, वह उत्साह के साथ इस पथ पर चलता ही रहेगा।

इसी तरह असत् अथवा अनैतिक मूल्यों के अनुसर्ता को यदि अपने कर्मों का परिणाम वर्तमानशरीर मे आप्त नहीं होता, तो भावी अस्तित्व के अभाव मे वह अनैतिक कर्मों के दुष्परिणाम से बच जाता है। लोक मे यह भी देखने मे आता है कि, कई लोग महान् से महान् अनैतिक कार्य करके इसके कुपरिणामो से अछूते रह जाते हैं। ऐसी स्थिति मे अनैतिक अथवा असत् कृत्यों को बढ़ावा मिलता है। लोगों मे यह विचार दृढ़ होने

पर की व्यक्ति जो भी कर्म करता है, उसका भोग इसी काय तक होना है, साथ ही लोग असत् कर्मों का आचरण करके इससे मिलने वाले कुफल के वजाय सुखी दिखलाई पड़ते हैं। ऐसा देखकर अनैतिक कर्मों के प्रति आकर्षण मे वृद्धि स्वाभाविक है। साथ ही अनैतिक कर्मियों के मनोबल को भी इसके द्वारा बढ़ावा मिलता है।

इस प्रकार जगत् मे सत्-असत् की व्यवस्था तथा यहाँ दृष्ट विविधता एवं विषमता की व्याख्या-हेतु उपनिषदों का अमर्त्य-जीव-वाद और कर्म सिद्धान्त-अत्यन्त मूल्यवान् प्रतिष्ठित होते है। उपनिषदें अपनी इन मान्यताओं द्वारा लोक तथा प्राणियों मे दृष्टि-लब्ध भिन्नतओं का मार्मिक समाधान प्रस्तुत करती हुयीं प्राणियों को सतर्क भी करती हैं। जो व्यक्ति अपने सुकर्मों के फलस्वरूप धन, विद्या अथवा शक्ति से श्रृद्ध है, उसे उपनिषदों का सन्देश है कि, वह इस प्रकार के कर्मों का उपार्जन क़रता रहे, जिससे उसकी यह श्रृद्धि अन्य जन्मो मे भी बनी रहे। यदि वह कर्मच्युत हो जाता है, तो निश्चय ही उसकी यह सम्पन्नता भावी जन्मो मे नहीं रह पायेगी। इसी तरह जो उपयुक्त कर्माचरण के अभाव-वशात् हीनताओं से ग्रस्त है, उसको उपनिषदें सुकर्मों पर आरूढ़ होने का सन्देश देती हैं। यदि ऐसे व्यक्ति द्वारा इस जन्म मे सत् कर्म आचरित होते हैं, तो इसका आगत जन्म अवश्यमेव उपलब्धि परक सिद्ध हो सकता है।[1]

उपनिषद्-श्रुतियों को अभिप्रेत जीव-गत अस्तित्व की चिद्रूपता तथा चैतन्य की संसार-श्रयता का महत्त्व जगत् मे कई रूपों मे अवलोक्य है। उपनिषदें प्राणियों एवं विश्व के मूल मे चैतन्य-तत्त्व को परिनिष्ठित करके चित् को ही सबसे बड़ी शक्ति बतलाती हैं। इनकी सम्मति मे चेतना का सामर्थ्य, इसका प्रकाश अतुलनीय है। अतः व्यष्टि तथा समष्टि– हर स्तर पर चिच्छक्ति एवम् इसके आलोक को प्रतिष्ठा मिलनी चाहिये। उपनिषदों के अनुसार चिदालोकालोकित व्यक्ति, समाज और विश्व किसी भी काल

---

१. कोई भी सुकर्मा दुर्गति को प्राप्त नहीं हो सकता– यह कहकर गीता भी मानव को शोमन कर्माचरण का सन्देश देती है –
पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते।
नहिं कल्याणकृत् कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति॥
प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते॥ (गी. – ६।४०, ४१)

के आदर्श हैं। जिस प्रकार से मनुष्य के स्व मे विद्यमानचिद् रूप का साक्षात्कार, उसकी लौकिक एवम् आध्यात्मिक —उभयप्रकारक अभ्युन्नति का कारण बनता है, उसी प्रकार लोक के अधिष्टान रूप मे स्थित चिद् सत्ता की लोक मे प्रतिष्ठा, चिन्मुखी लोकानुवर्तन-लोक मे श्रेयोमय उत्कर्ष के विधायक बनते हैं। इसलिये उपनिषदें इस बात का बार-बार आह्वान करती हैं कि, चैतन्य जो सम्पूर्ण जागतिक रचना का आश्रय है, उसे हर स्तर पर वरण करना चाहिये। इसके वरण मे ही सम्पूर्ण विश्व का कल्याण निहित है।

उपनिषद्-निचय सारी सृष्टि का हेतुत्व एक चित्तत्त्व मे संस्थापित करके सबको एकसूत्र मे बांधने का जो कार्य करता है, वह वर्णनातीत है। उपनिषदें इसके द्वारा हमारा ध्यान जिस सत्य की ओर आकृष्ट करती हैं, उसमे न किसी धर्म, न किसी जाति, न किसी काल का वर्चस्व है। यह सबका है। इस सार्वभौम सच्चाई का बोध समस्त जगत् को एकता के ऐसे बन्धन से प्रबद्ध करता है कि, जिसका कभी अन्त नहीं।

इस प्रकार ऊपर (संक्षिप्ततः) चर्चित औपनिषद आत्मा के स्वरूप को देखकर यह कहा जाना अनुपयुक्त न होगा कि, यह सर्वथा सर्वदा प्रासङ्गिक है। औपनिषद श्रुतियों मे अभिहित उदात्तता तथा श्रेष्ठता के कारण इसमे सर्वाधिक प्रेमभाजनता की संसिद्धि भी युक्ति-सङ्गत है।

'पञ्चदशी' तत्त्व विवेक प्रकरण मे आत्म-रूप का उद्घाटन 'संविद्' के रूप मे करती है। आत्मा की ज्ञानमयता, जिसका उल्लेख उपनिषदों मे 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' (बृह. ३।९।२८), 'चिदानन्दमरूपमद्भुतम्' (केन. - ६) 'उत्कृष्टतमं चिन्मात्रम्' (नृ. उ. - ५) प्रभृति रूपों मे प्रचुरतः हुआ था, साथ ही जो वेदान्तीय आत्मा का महत्त्वाधायी लक्षण है, इसको विद्यारण्य ने 'संविद्' रूप मे प्रतिपादित किया। आत्मा को संविद् रूप मे 'पञ्चदशी' के पूर्ववर्ती आचार्यों ने भी देखा है, यथा— 'तस्यापि संविन्मात्रेण पूर्णतयैवोच्यते सतः।' (बृह. भा. वा. - १।२।२९) तथा—

नञ्घटार्थावपह्नुत्य संवित्सद्रूपमात्रया।
अवर्गत्यात्मना सत्त्वं सर्वदृक् स्यादविक्रियः॥ (वही, १।४।९८९)

---

१. शष्दस्पर्शादयो वेद्या वैचित्र्याज्जागरे पृथक्।
ततोविभक्ता तत्संविदैकरूप्यान्न भिद्यते॥ (प. द. - १।३)

संविद् (चिन्मयता) आत्मा का ऐसा रूप है, जो जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्ति मे तथा किसी भी काल के संवेद्य पदार्थों मे पारस्परिक भिन्नता के रहने पर भी अभिन्न रूप मे विद्यमान रहा करता है।[१] बोध-रूप-आत्मा का समस्त बोध्यों से पार्थक्य तथा उसकी हर काल, हर अवस्था मे एकरूपात्मक स्थिति – इसके अनादित्व और अन्त-राहित्य के ज्ञापक हैं। इसीलिये पञ्चदशीकार इसे उत्पत्ति तथा विनाश से पर परिनिष्ठित करते हैं :–

मासाब्दयुगकल्पेषु गतागम्येष्वनेकधा।
नोदेति नास्तमेत्येका संविदेषा स्वयंप्रभा॥ (प. द. - १।७)

जो जन्म और मृत्यु से रहित होगा, उसकी चिदाभा भी 'स्वयंप्रभा' होगी। तात्पर्य यह कि, ऐसा ज्ञान न तो किसी का कार्य मान्य है एवं न ही इस ज्ञान का जानने वाला कोई अन्य ज्ञान ही हो सकता है। यह चिदालोक स्वयं प्रभासित होने के फलस्वरूप ऊपर सभी भासमान पदार्थ – समूह का कारण भी सिद्ध होता है।

चैतन्य आत्मा का ऐसा लक्षण है, जिसके अभाव मे किसी भी वस्तु मे आत्म-दर्शन नहीं किया जा सकता। उदा. के रूप मे पञ्चकोशों के प्राणमय, मनोमय तथा विज्ञानमय कोशों मे क्रमशः इन्द्रियों की प्रवर्तन-शक्ति, अहन्ता, ममता का कर्तृत्व एवं चैतन्याभास रूप बुद्धि के बावजूद इनमे वास्तविक चैतन्य के अभाव-वश, इन्हें आत्मा नहीं माना जा सकता।[१] साक्षिरूप आत्मा का उससे भिन्न न कोई ज्ञाता है और न कोई ज्ञान। आत्मा की यह चिन्मयता उसकी प्रकाशरूपता है। आत्मा अपने चिन्मय स्वयंप्रभात्व के कारण सत्य है। आत्म-तत्त्व का स्वज्ञानात्मक आलोक अपना तथा सम्पूर्ण विश्व का प्रकाशक बनता है, जैसा कि योगवशिष्ठकार का कथन है–

'य आत्मानं पदार्थं च प्रकाशयति दीपवत्।' (यो. वा. - ३।५।१०)

आचार्य विद्यारण्य 'तमेवभान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' (मुण्डक. - २।२।१०), श्वे.- ६।१४ एवं कठ. ५।१४ आदि श्रुतियों मे उल्लिखित आत्मा के स्वयंप्रकाशत्व का पोषण इस तरह से करते हैं–

स्वयं ज्योतिर्भवत्येष पुरोऽस्माद् भासतेऽखिलात्।
तमेव भान्तमन्वेति यद्भासाभास्यते जगत्॥ (प. द. - ३।१६)

---

१. प. द. - ३।५।७)

अद्वैतवेदान्त के आत्मा अथवा ब्रह्म मे राराजित लक्षण-त्रय – सत्, चिद् एवम् आनन्द– मे प्रकाशमयता चैतन्य का ही रूप है। आत्मा का यह चिद्रूपत्व जगत् के समस्त ज्ञातृत्व के मूल मे है, अर्थात् इसके बिना कोई बोध सम्भव नहीं है। यह सबका वेत्ता है। जब सब का वेतृत्व उसमे ही प्राप्त है, तब यह सहज सिद्ध हो जाता है कि उसका बोधक अन्य कोई नहीं अङ्गीकार्य हो सकता। 'येनेदं सर्वं विजानाति विज्ञातरमरे केन विजानीयात्' (बृह. २।४।१४) श्रुति की इस प्रस्थापना को पञ्चदशी भी अपनी निम्न पङ्क्तियों –

स वेत्ति वेद्यं तत्सर्वं नान्यस्तस्यास्ति वेदिता।
विदिताविदिताभ्यां तत्पृथग्बोधस्वरूपकम्॥ (प.द. - ३।१८)

द्वारा पोषित करती है। आत्मा की इन्द्रिय-आदि वस्तुओं के द्वारा अवेद्यता इसकी स्व-प्रकाशता का उद्दीपक है।[1]

शाङ्कर अद्वैत के प्राचीन आचार्य गौड़पाद 'सकृज्ज्योतिः'[2] तथा 'सकृद्विभातं'[3] द्वारा आत्मा अथवा ब्रह्म के इसी रूप का ज्ञापन करते हैं। इसका अनुगमन बाद के भी आचार्य करते हैं। संक्षेपशारीरककार इसी को असत्य एवम् अज्ञान का विरोधी बतलाते हैं। इसी तरह 'न्यायमकरन्द' (१।१) मे 'यदभासा निखिलं विभाति विषयो यो न स्वयं ज्योतिषाम्' के इस अभिधान द्वारा आनन्द बोध भी इसी बात का समर्थन करते हैं।

साक्षी आत्मा किसी के अनुभव का विषय नहीं बनता। यह अनुभूति रूप है। स्वातिरिक्त किसी के भी ज्ञातृत्व अथवा ज्ञान का विषय न बनने के कारण इसे अज्ञेय भी कहा जाता है।[4] अनुभूतिस्वभाव आत्मा (अर्थात् अन्यानुभवविषयराहित्यात्) अज और अनन्त होने के कारण परमात्म-रूप है।[5]

---

१. 'अवेद्योऽपरोक्षोऽतः स्वप्रकाशे भवत्ययम्। प. द. - ३।२८

२. मा. भा. का. - ३।३७

३. वही, ३।३५

४. स्वयमेवानुभूतित्वाद्विद्यते नानुभाव्यता।
ज्ञातृज्ञानान्तराभावादज्ञेयो न त्वसत्तया॥ (प. द. - ३।१३)

५. 'सोऽप्यनुभूतिस्वभावः ....अतस्सैवात्मा।
अनन्तत्वात् सैव परमात्मा।' इष्टसिद्धि , पृ. - २४

बोध अथवा ज्ञान आत्मा का ऐसा स्वरूप है, जिसको कोई अस्वीकृत नहीं कर सकता। अगर किसी के द्वारा (हठात्) इसकी अस्वीकृति की जाती है, तो उसका यह कार्य ठीक उसी तरह है, जैसे कोई बोलने वाला यह कहे कि पता नहीं मेरे मुख मे जिह्वा है या नहीं।[१] आचार्य विद्यारण्य ने आत्मा के जिस चिद् तत्त्व को संविद् की संज्ञा देकर अनादि और अनन्त प्रतिपादित किया है तथा जो स्वयं प्रभा के रूप मे भी अङ्गीकृत है। संविद् की यह प्रकाश शीलता अद्वैतवेदान्ताचार्यों का अभिमत सिद्धान्त है। यहाँ चिद् प्रकाश रूप है एवं जड़ता अन्धकार-रूप। आत्म-चैतन्य अबाधित और कालातीत होने के कारण स्वयं प्रकाशमय है। आचार्यों ने स्व एवं पर के प्राकट्य मे परानपेक्षित्व को चित् कहा है। ऐसा चैतन्य केवल आत्मा अथवा ब्रह्म का ही है। आत्मा की यह चिद्रूपता उसकी अनन्तरूपा ज्योति है।

संविदात्मा ही वस्तुतः सत्य है। अद्वैत-वेदान्त मे सत्य का निकष त्रिकालाबाध्यता है।[२] आत्मा समस्त सूक्ष्म तथा स्थूल प्रपञ्च के संश्रय रूप मे स्थित रहता है। सारा प्रपञ्च बाध्य है, मात्र यही अबाध्य है। यह सबका साक्षी है परन्तु स्वयम् असाक्षिक है। जिस प्रकार सारी मूर्त वस्तुओं को दूर करने पर अमूर्त आकाश मात्र अवशिष्ट रहता है, उसी प्रकार शरीर, इन्द्रिय मन आदि सबको निराकृत करने पर जो अमूर्त तत्त्व बचता है, वह अबाधित आत्मा है।[३] श्रुतियों मे उपदिष्ट 'नेति नेति' आत्मा के इसी लक्षण का बोधक है।[४] इदं रूपात्मक दृश्य विश्व अनात्म रूप है और बाधित लक्षणक है। आत्म-तत्त्व इदं से पर साक्षी एवम् अनिदंरूप है।[५]

---

१. प. द. – ३।२२
२. (क) 'सत्यः त्रिकालाबाध्यः।' सं. शारीरक की सारसङ्ग्रह – टीका, पृ.– १४०
   (ख) 'यद्रूपेण यन्निश्चितं तद् रूपं न व्यभिचरति तत् सत्यम्।' तै. उ. शां. भा. पृ.– १०३।१०४
   (ग) 'अबाधिता स्वयं प्रकाशितैकस्य सत्ता।' आचार्य सुरेश्वर-वार्तिक – १।१।१
   (घ) 'सत्यत्वं बाधराहित्यं जगद्बाधैकसाक्षिणः।' (प. द. – ३।२९)
३. शक्येषु बाधितेष्वन्ते शिष्यते यत्तदेव तत्। (प. द. – ३।३०)
४. आचार्य शङ्कर 'नेति-नेति' का अर्थ इस तरह से करते हैं – 'न ह्येतस्माद् ब्रह्मणो व्यतिरिक्तमस्तीत्यतो नेति नेतीत्युच्यते।' ब्र. सू. शां. भा. – ३।२।२२
५. इदंरूपं तु यद्यावतत्त्युक्तुं शक्यतेऽखिलम्।
   अशक्यो ह्यनिदं रूपः स आत्मा बाधवर्जितः॥ (प. द.– ३।३३)

शाङ्कराद्वैत मे सत्य एवं नित्य एक दूसरे के पर्याय रूप हैं। जो नित्य है, वह सत्य है तथा जो सत्य है, वह नित्य है।[१] इस प्रकार की सत्यता और नित्यता मात्र आत्मा/ब्रह्म मे विद्यमान है। ब्रह्म/आत्मा की सत्यता अथवा नित्यता का निर्वचन श्रुतियां इस तरह करती है। — 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै. उ. - २।१।१) 'तत्सत्यं स आत्मा' (छा. ६।८।१६) 'अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणः' (कठ. १।२।१८) इत्यादि। 'योगवाशिष्ठ' मे ब्रह्म की सत्यता एवम् अनन्तता की व्यापक रूप मे प्रतिष्ठा है। आचार्य शङ्कर ने देश, काल और वस्तु की सीमा से पर तत्त्व को अनन्त माना है। ऐसा आनन्त्य ब्रह्म मे ही है। पञ्चदशी शङ्कर-उक्त आनन्त्य को मान्यता देती है। इसके अनुसार सर्वत्र प्याप्त होने के कारण देश-गत, नित्य होने के कारण कालगत एवं सबकी आत्मा होने से वस्तु-गत — त्रिविध आनन्त्य ब्रह्म मे प्राप्त है।[२] आत्मा में देश, काल तथा वस्तु की सीमा--प्रतीति माया के कारण सम्भव होती है। वस्तुतः वह इन सबसे परे है।[३]

इन्द्रिय-आदिकों से आत्मा की परता शून्यत्व का व्यञ्जक नहीं। आचार्य विद्यारण्य, सर्वातीतता के बावजूद आत्मा मे माध्यमिक बौद्धों को अभीष्ट शून्यता का निरास करते हैं। ईद्रक् एवं तादृक् अर्थात् घट, पट आदि दृष्ट पदार्थ तथा परोक्ष धर्माधर्म आदि अदृष्ट पदार्थ — आत्मा इन सबसे पृथक् अवश्य है, परन्तु इसे शून्य नहीं कहा जा सकता, क्योंकि स्वास्तित्वप्रकाशरूप मे यह प्रत्यक्षतः प्रभासित है।[४] प्रकाश-रूप मे प्रकट इस आत्म-तत्त्व की सिद्धि-हेतु अन्य किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं।[५] शून्यवादियों का यह आग्रह कि इन्द्रिय, बुद्धि, मन आदि समस्त वस्तुओं

---

१. 'त्रिविधं ह्यानन्त्यम्, देशतः कालतो वस्तुश्चेति। तद्यथा देशतोऽनन्त आकाशः। ......न तु कालतश्चानन्त्यं वस्तुतश्चाकाशस्य कार्यत्वात्। नैवं ब्रह्मण....।'
तै. उ. शां. भा. - पृ. - ११६, ११७

२. (क) न व्यापित्वाद्देशतोऽन्तो नित्यत्वान्नापि कालतः। (प. द. - ३।३५)
(ख) न देशादि कृतोऽन्तोऽस्ति ब्रह्मानन्त्यं स्फुटं ततः॥ (वही - ३।३६)

३. देशकालान्यवस्तूनां कल्पितत्वाच्च मापया। (वही - ३।३६)

४. प. द. - ३।२८

५. (क) 'न ह्यात्मः प्रमाणमपेक्ष्य सिध्यति।'
(ख) 'मानानपेक्षसिद्धिरेव स्वतः सिद्धिशब्दार्थत्वात्।'
(न्यायामृताद्वैतसिद्धि - प. -२, अनुभूतेः स्वप्रकाशत्वविचारः।)

के निषेध के बाद कुछ नहीं बचता, यह मात्र शून्यता का बोधक है– पञ्चदशी इसका खण्डन करती है। इसकी सम्मति मे सब कुछ निषिद्ध करने के अनन्तर भी साक्षी-रूप चैतन्य अवशिष्ट रहता है। 'सर्व-बाध के बाद कुछ न बाकी रह जाना' – यह सिद्धान्त प्रबाधित होनेवाले वैश्व पदार्थों के लिये स्वीकार्य है, किन्तु साक्षि-आत्म-तत्त्व के लिये नहीं।

पञ्चदशी ने बड़ी ही वैज्ञानिक शैली मे आत्मा/ब्रह्म को प्रज्ञान निरूपित करते हुये इसकी सार्वकालिकता एवम् अद्वितीयता का अभिव्यञ्जन किया है। इसका यह विवेचन अद्वैताचार्यों मे विशिष्ट है। आदि (विवेक) प्रकरण मे ही यह जाग्रत काल के वेद्य, शब्द, रूप, स्पर्शादि मे वैलक्षण्य के कारण, भिन्नता का आख्यान करती हुयी संविद् की एकरूपता का चित्रण करती है। स्वप्न-काल के पदार्थ प्रतीति-मात्र के विषय होते हैं। इनमे स्थिरता नहीं होती। परन्तु जाग्रतकालिक वस्तुयें स्वप्न की अपेक्षा स्थिर होती हैं और दृश्यमान हैं। इस प्रकार दोनो के वेध विषय एक दूसरे से भिन्न दृष्टि-गत होते हैं। किन्तु इनकी वेत्ता संवित् उभय स्थलों पर एक रूप ही रहा करती है। इसी प्रकार सुषुप्ति का स्मृतिपरक ज्ञान, अपने विषयाज्ञान से भले ही पृथक् रहा करता है, पर जाग्रत एवं स्वप्न के ज्ञान से यह अभिन्न है। इस तरह जाग्रतादि तीनो अवस्थाओं के विषयादिकों मे भिन्नता के बावजूद सर्वत्र संविदात्मक बोध की एकरूपता बनी रहती है।[१] बोध का यह ऐक्य काल-विशेष अथवा अवस्था-विशेष मात्र तक ही रहने वाला नहीं है, अपितु यह कालावस्था से बिना प्रभावित हुये हमेशा एक रूप मे स्थित रहने वाली वस्तु है। 'पञ्चभूत - विवेकप्रकरण' के आकाश, वायु, वह्नि, जल तथा पृथिवी और इनके शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध - गुण तथा श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना एवं नासिका इनके स्थान (जिन्हें ज्ञानेन्द्रियों के रूप मे जाना जाता है), साथ ही वाणी, पाणि, पाद, वायु और उपस्थ- ये पञ्चकर्मेन्द्रियां तथा मुखादि मे इनकी स्थिति, दशेन्द्रियेन्द्र मन – ये अब आत्म सत् पर माया की कल्पना के व्यापार हैं। वस्तुतः ये असत् हैं। कल्पना की इस विक्रिया की प्रथम विकृति आकाश है। आकाशादि भूतों तथा इनके कार्यों के स्वरूप की असत्ता एवम् इनमे

---

१. विद्यारण्य की स्वयंप्रभारूप संवित् 'कौल-दर्शन' की त्रिपुरसुन्दरी का रूप है। – द्रष्टव्य, भारतीयदर्शन, आचार्य बलदेव उपाध्याय। पृ. - ५१२

व्याप्त आत्म-तत्त्व की सत्ता का विवेचन पञ्चदशी मे अत्यन्त मार्मिकता के साथ प्रस्तुत है। प्रथम महाभूत आकाश को ही देखें – आकाश की अस्तित्वात्मक प्रतीति मे दो वस्तुयें विद्यमान हैं – माया एवं सत् (आत्मा अथवा ब्रह्म)। परिणामतः यह द्विस्वभावक है– अवकाशात्मक और सत्यात्मक। भ्रम से प्रतीयमान आकाश के अवकाशात्मक रूप को विवेक द्वारा ब्रह्म-सत् से पृथक् कर लिया जाता है, तो आकाश का अवकाशात्मक रूप मिथ्या सिद्ध होता है। इसमे जो सत्यता दृष्टि-गत होती थी, वह आत्म-सत् के कारण थी।[१] एक विचिकित्सा उठती है कि, जिस तरह न्याय घट-द्रव्य से भिन्न घट-रूप को स्वीकार करता है, उसी प्रकार यहाँ सद्रूप से भिन्न आकाश की सत्ता क्यों नहीं स्वीकार्य है? पञ्चदशी इस सन्देह का निराकरण इस तरह से करती है – सत् वस्तु से पृथक् आकाश का रूप अवकाशात्मक सिद्ध होता है। सत् से भिन्न जो भी वस्तु होगी, वह असत् रूप होगी। अतः सत् ब्रह्म से भिन्न आकाश का अवकाशात्मक रूप असत् के अतिरिक्त सत् हो ही नहीं सकता। यथा-जाति-व्यक्ति, देह-देही और गुण-द्रव्य एक दूसरे से पृथक् हैं, उसी प्रकार अवकाशात्मक आकाश तथा सदात्मा को एक दूसरे से भिन्न अङ्गीकार किया जाना युक्ति-सङ्गत है।[२] आकाश-भूत मे जिस तरह सत् ब्रह्म ही वास्तविकता लिये हुये है, उसी तरह आकाश के एक भाग मे स्थित वायु, वायु से दशांशतः न्यून वह्नि, वह्नि से दशांश मे कम जल तथा जल से दशांशतः न्यून पृथिवी एवम् इनके गुणों को सत् से पृथक् करने पर – इन सबका मिथ्यात्व प्रस्थिर होता है। इसी प्रकार सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड एवं चतुर्दशभुवन तथा इनमे निवास करने वाले प्राणियों मे एक ही नित्य वस्तु है, वह है, आत्मा अथवा ब्रह्म।

न्याय आकाश को सत्य मानता है। पञ्चदशी प्रणेता न्याय की इस मान्यता को उनकी बुद्धि का विलास मानते हैं। इनके अनुसार जब वायु, वह्नि आदि चार महाभूत असत् हैं, तो आकाश की सत्यता कैसे सिद्ध

---

१. प. द. – २।६८ एवं
अवकाशात्मकं तत्त्वेदसत्तदिति चिन्त्यताम्।
भिन्नं सतोऽच्च नेति वक्षि चेद् व्याहतिस्तव॥ वही, २।६९

२. जातिव्यक्ती देहिदेहौ गुणद्रव्ये यथा पृथक्।
वियत्सतोस्तथैवास्तु पार्थक्यं कोऽत्र विस्मयः॥ वही, २।७१

हो सकती है। प्रकाश और अन्धकार के सम्मिलित रूप के अतिरिक्त आकाश का दृश्य रूप कुछ नहीं है। तमस् एवं प्रकाश के सम्बन्ध से दृष्टिगम्य आकाश का 'नील' रूप मिथ्यारोप है। ऐसी स्थिति मे अन्य चतुर्भूतों से अलग आकाश की सत्यता भी असिद्ध है। यदि यहाँ यह प्रश्न उठाया जाय कि, गगनवत् सत् वस्तु का भी दर्शन न होने से इसे भी मिथ्यात्मक अङ्गीकार किया जाना चाहिये। परन्तु सत् का मिथ्यात्व इसलिये नहीं सिद्ध किया जा सकता, क्योंकि वह अपने शुद्ध रूप मे अनुभूत होती है।[1] समाधि-अवस्था मे बुद्धि के अभाव मे भी निर्मनस्कभाव से साक्षी रूप मे सत्तत्त्व आलोकित रहता है। इस समय सरलता से इसका बोध सम्भव है।[2] मन के सङ्कल्प विकल्प-शून्य रहने पर तथा माया के कार्य-व्यापार प्रारम्भ होने के पूर्व सत्पदार्थ शान्तभाव मे स्थित रहता है।[3] आत्मा सबका सत्त्व है। विना भ्रम के कोई अपना अस्तित्व अस्वीकृत नहीं कर सकता। श्रुति का भी अभिधान है कि, जो अपने रूप-ब्रह्म को असत् बतलाता है, वह स्वयम् असत् सिद्ध होता है।[4]

'यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्' (तै. उ. - २।१।१) मे प्रयुक्त 'गुहा' शब्द को 'पञ्चदशी' अन्नमयादि पञ्चकोशों का बोधक मानती है। इन पञ्चकोशों मे आत्मभाव के भ्रम को निराकृत करते हुये, पञ्चदशी आत्मा को इनसे पर प्रतिष्ठित करती है। इससे आत्म-तत्त्व की व्यापकता तथा अनन्तता स्पष्ट होती है। पञ्चकोशों का अनात्मत्व निम्न कारणों से स्फुट होता है – माता-पिता द्वारा भुक्तान्नशक्ति से उत्पन्न एवम् अन्न से प्रवर्धित होनेवाली (अन्नमय) शरीर को आत्मा इसलिये नहीं माना जासकता, क्योंकि उत्पन्न होने के पूर्व और मृत्यु के अनन्तर इसका अभाव रहता है। इसके द्वारा शरीर को आत्मा मानने वाले चार्वाक दर्शन का आत्म-सिद्धान्त भी निरसित हो जाता है। पदसे लेकर शिरस् पर्यन्त व्याप्त रहनेवाला इन्द्रियों का प्रवर्तक वायु रूप प्राण भी जड़ होने के कारण

---

१. सद् वस्तु शुद्धं त्वस्माभिर्निश्चितैरनुभूयते। वही, २।४४

२. वही - ४५

३. मनोजृम्मणराहित्ये यथा साक्षी निराकुलः।
मायाजृम्मणतः पूर्वं सत्तथैव निराकुलम्॥ (वही, ४६)

४. असद् ब्रह्मेति चेद् वेद स्वयमेव भवेदसत्।
अतोऽस्य मा भूद्वेधत्वं स्वसत्त्वं त्व म्युपेयताम्॥ (वही - ३।२५)

घटादि वस्तुओं की तरह आत्मा नहीं अङ्गीकृत हो सकता। इसी प्रकार अहन्ता तथा ममता से युक्त मन अथवा मनोमय कोश को भी काम, क्रोध, लोभादि विकृतियों के आस्पद होने के कारण, आत्मा स्वीकार नहीं किया जा सकता।[१] चिच्छायोपेत बुद्धि जो सुषुप्ति-काल मे शान्त पड़ी रहती है, पर जाग्रत-अवस्था मे नख से लेकर पूरे शरीर को व्याप्त कर रखती है। ऐसी विज्ञानमयकोश के रूप मे संज्ञित धी को भी आत्मा नहीं माना जा सकता, क्योंकि यह भी संसार के नश्वर पदार्थों की भांति उत्पत्ति-विनाशशील है।[२]

यहाँ एक जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि, आचार्य विद्यारण्य द्वारा निरूपित मनोमय एवं विज्ञानमय कोश और माध्यमिक योगाचार बौद्ध दर्शन के चित्त तथा आलय विज्ञान, क्या एक रूप हैं? साथ ही क्या आलय विज्ञान को आत्म-चैतन्य माना जा सकता है? पञ्चदशी द्वारा मान्य मनोमय एवं विज्ञानमयकोश तथा विज्ञानवादी बौद्धों के चित्त और विज्ञान मे भिन्नता है। जहाँ तक चिदात्मक साम्यता की बात है, उस दृष्टि से भी दोनो मे पार्थक्य है। पञ्चदशी (तथा अद्वैतवेदान्त) के अनुसार ये चिदाभास भले ही मान लिये जायँ, परन्तु इन्हें शुद्ध चैतन्य नहीं माना जा सकता। किन्तु बौद्धों की मान्यता मे ये चैतन्य रूप हैं। इसी प्रकार माध्यमिकों के चित्त तथा विज्ञान को आत्म-तत्त्व की भी प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं हो सकती। माध्यमिकों की प्रतिष्ठापना मे चित्त व्यापक वस्तु है। विश्व इसका परिणाम है। आत्मा यहाँ 'आत्मोपचार' का एक भेद है। आलय-विज्ञान मे यद्यपि सतत विज्ञान की धारा प्रवाहित होती रहती है, परन्तु इसमे परिवर्तन होता रहता है। अतः इसमे अद्वैतवेदान्त के आत्मा की अबाधित चिदेकरूपता का दर्शन नहीं होता।

पञ्चकोशों का अन्तिम कोश 'आनन्दमय' है। पुण्यकर्मो के फलानुभव के समय बुद्धि की अन्तर्मुखी वृत्ति जो आत्मानन्द के प्रतिबिम्ब से युक्त रहा करती है, वह आनन्दमयकोश रूप है। यह भी सततशीला न होने

---

१. 'विवेकचूड़ामणि' (१६९) में आचार्य शङ्कर 'मनोमय कोश' को इस तरह लक्षित करते हैं –

'ज्ञानेन्द्रियाणि च मनश्च मनोमयः स्यात्
कोशो ममाहमिति वस्तुविकल्पहेतुः॥

२. प. द. – ३।७

के फलस्वरूप आत्मा नहीं स्वीकार्य है। वस्तुतः यह आनन्द का प्रतिबिम्ब है। प्रतिबिात्मक आनन्द का सतत रहनेवाला कारण बिम्ब है, यह बिम्ब आत्मा है।[१] इस तरह अन्नमयादि कोशों मे अनित्यताआदि दोषों के उद्भासनपूर्वक आत्मतत्त्व का सत्यत्व एवम् आनन्त्य स्फुट होता है।

आत्मा/ब्रह्म मे ज्ञान, सत्य और अनन्तता की तरह पञ्चदशी इसमे अनादित्व का भी प्रतिष्ठापन करती है। सृष्टि के पूर्वसत् था या असत्। इस चर्चा क्रम मे 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीन्नान्यत् किञ्चन...' (ऐत. उप. १।१) तथा 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' (छा. ६।२।१)– इन श्रुति-वाक्यों को उपजीव्य बनाती हुयी पञ्चदशी सृष्टि के प्राक् आत्मा अथवा ब्रह्म के स्थित रहने का निर्वचन करती है।[२]

आत्मा/ब्रह्म के स्व-लक्षण मे शाङ्कर वेदान्त सत्य-ज्ञान और अनन्तता के साथ 'आनन्द' को भी समाहित करता है। पञ्चदशी प्रथम प्रकरण मे ही, संविद् रूप आत्मा को परमानन्द रूप स्वीकार करती है।[३] 'यो वै भूया तत्सुखम्' (छा.-७।२३।१), 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' (बृह.-३।२।२८), 'चिदानन्दमयरूपमद्भुतम्' (केन.- ६), 'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात' (तैत्ति०-३।६।१) प्रभृति श्रुतियों को आधार बनाकर शाङ्कर दर्शनआनन्द को ब्रह्म का स्वरूप मानता है। शारीरकभाष्यकार स्वयं तैत्तिरीयौपनिषद् भाष्य मे आनन्द को अधो रूप मे आख्यायित करते हैं– 'निरस्ते त्वविद्याकृते विषयविषयिभागे विद्यया स्वाभाविकः परिपूर्ण एक आनन्दोऽद्वैतो भवति। ...... अभिन्नः स्वाभाविक आनन्दः परमात्मैव।' छान्दोग्योपनिषद् शाङ्कर भाष्य (७।२३।१) मे भूमारूपत्वेन ब्रह्म के आनन्दत्व का आख्यान इस प्रकार से हुआ है – 'भूमैव सुखम्। तृष्णादि- दुःखबीजत्वासम्मवाद् भूम्नः।' वाल्मीकि के 'योगवाशिष्ठ' मे आनन्दरूप ब्रह्म को प्रणाम निवेदित किया जाता है– 'सर्वेषां जीवनं यस्मै तस्मै ब्रह्मानन्दात्मने नमः। (१।१।३) पञ्चदशीकार आत्मा की परानन्दता का कारण

---

१. कदाचित् कत्वतो नात्मा स्यादानन्दमयोऽप्ययम्।
विम्बभूतो य आनन्द आत्माऽसौ सर्वदा स्थितेः। (प. द. - ३।१०)

२. इदं सर्वं पुरा सृष्टेरेकमेवाद्वितीयकम्।
सदेवाऽऽसीन्नामरूपे नास्तामित्यारूणेर्वचः॥ (वही, २।१९)

३. इयमात्मा परानन्दः परप्रेमास्पदं यतः।
मा न भूवं हि भूयासमिति प्रेमात्मनीक्ष्यते॥ (वही, १।८)

इसकी परम प्रेमभाजनता को बतलाते हैं। यह निरतिशय सुख रूप है।[१] जिस तरह बृहदारण्यक श्रुति[२] सारी वस्तुओं मे होने वाली प्रीति का कारण आत्म-प्रीति को प्रतिष्ठित करती है, उसी तरह आचार्य विद्यारण्य भी आत्म-प्रेम को ही[३] दुनिया के हर वस्तु मे होने वाले प्रेम का कारण स्वीकार करते हैं। ब्राह्मण को पूज्य होने से मिलने वाली प्रसन्नता, क्षत्रिय का राज्यसुख, स्वर्ग तथा ब्रह्मलोक की प्राप्ति-इच्छा, भगवान् विष्णु एवं महाकालशिव की अर्चना और अन्य सांसारिक व्यवहार—सब आत्मा की प्रियता के कारण सम्पादित होते हैं, अथवा सब आत्म-प्रेम के कारण ही प्रिय लगते हैं।

आत्म-प्रेम को निरतिशयरूप क्यों माना जाय? इसके उत्तर मे 'पञ्चदशी' का अभिधान है कि, आत्मप्रीति मे अन्य सांसारिक वस्तुओं के प्रेम की भांति हान और आदान का अभाव है। इसलिये इसकी प्रेमरूपता अक्षुण्ण है।[४] जगत् की अन्य वस्तुओं मे विद्यमान प्रेम का त्याग तथा सङ्ग्रहण सम्भव है। कोई व्यक्ति किसी का प्रेम छोड़कर दूसरे से प्रेम कर सकता है। इसी तरह दूसरे का भी प्रेम छोड़कर तीसरे से कर सकता है। परन्तु आत्मविषयिणी अनुरक्ति शाश्वत है। इसमे, त्याग, आदान, उपेक्षा आदि का अवकाश नहीं है। यहाँ एक संशीति उत्थित होती है कि, अगर आत्मा अत्यन्त प्रिय पदार्थ है, तो कभी-कभी जीवन से ऊबे हुये व्यक्ति मे मुमूर्षा का उद्भव कैसे हो जाता है? इसका समाधान पञ्चदशी इस तरह से करती है – 'वस्तुतः मुमूर्षु जीवन से निराश होकर शरीर का त्याग करना चाहता है, आत्मा का नहीं। आत्मा उसका 'स्व' है। इसका परित्याग असम्भव है। शरीर से सम्पन्न होने वाले समस्त क्रिया-कलापों का यही साक्षी रहता हैं। अतः प्राणी के इससे पृथक् रहने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता।'

---

१. आत्मा प्रेयान्प्रियः शेषो द्वेषोपेक्षे तदन्ययोः। (पं. द. - १२।५५)

२. द्रष्टव्य, बृह. उप. - ४।५।६

३. अवलोक्य, प. द. - १२।५ से ३२ तक

४. एकं त्यक्त्वाऽन्यदादत्ते सुखं वैषयिकं सदा।
नात्मा त्याज्यो न चादेयस्तस्मिन् व्यभिचरेत् कथम्। (पं. द. - १२।२६)
हानादान विहीनेऽस्मिन्नपेक्षा चेत्तृणादिवत्।
उपेक्षितुः स्वरूपत्वान्नोपेक्ष्यत्वं निजात्मनः॥ वही, २७

लोक मे यह भी देखने में आता है कि, वित्त से पुत्र, पुत्र से शरीर, शरीर से इन्द्रियां, इन्द्रियों से प्राण और प्राण से अधिक (अर्थात् सर्वाधिक) प्रियास्पदता आत्मा मे रहा करती है। इन वस्तुओं मे क्रमशः प्रियता का आधिक्य इस बात का द्योतक है कि, जो आत्मा के जितना पार्श्व है, वह उतनी ही अधिक प्रिय है।[१] मित्र की अपेक्षा पिता द्वारा पुत्र को अधिक प्रेम दिये जाने का कारण, पुत्र का मित्र की तुलना मे आत्मा के अधिक सान्नैकट्य है।[२]

प्रेमास्पदता, अथवा सुख-रूपता को दृष्टि मेंरखकर 'पञ्चदशी' आत्माको तीन रूपों मे प्रस्तुत करती है –

१. गौण
२. मिथ्या एवं
३. मुख्य।[३]

पुत्र का आत्मत्व गौण है। पुत्र मे आत्मत्व की प्रतीति औपचारिक रहा करती है। जिस प्रकार 'यह सिंह-पुरुष' है। इस वाक्य मे सिंह और पुरुष का ऐक्य गौण (अथवा औपचारिक) है। वस्तुतः इन दोनो मे भेद है। उसी प्रकार पुत्र मे आत्मत्व की प्रतीति गौण है। वास्तविक रूप मे इन दोनो मे भिन्नता विद्यमान है। दृष्टान्त मे यथा, पुरुष सिंह नहीं हो सकता, दार्ष्टान्तिक मे तथा पुत्र आत्मा नहीं हो सकता। मिथ्या-आत्मा के अन्तर्गत पञ्चकोशों मे प्रतीत होने वाला आत्मा है। साक्षी (शुद्ध) आत्मा तथा पञ्चकोशों मे यद्यपि भिन्नता स्पष्ट भासित नहीं होती, परन्तु आत्मा से ये भिन्न हैं। इनमे प्रतीयमान आत्मत्व मिथ्यात्मक है। अतः पञ्चकोशों मे आत्मत्व की प्रतीति मिथ्या-आत्मा के रूप में अङ्गीकार्य है।[४] साक्षि-रूप आत्मा ही मुख्य आत्मा है। यह जीवात्मा का वास्तविक रूप है। पुत्रादि

---

१. वित्तात्पुत्रः प्रियः पुत्रात्पिण्डः पिण्डात्तथेन्द्रियम्।
इन्द्रियाच्च प्रियः प्राणः प्राणादात्मा प्रियः परः॥ (पं. द. – १२।६०)

२. आत्मर्थत्वेन सर्वस्य प्रीतेश्चात्मा ह्यतिप्रियः।
सिद्धो यथा पुत्रमित्रात्पुत्रः प्रियतरस्तथा॥ (वही, १२।३०)

३. बाढ़मेतावता नात्मा शेषो भवति कस्यचित्।
गौड़मिथ्यामुख्यभेदैरात्मायं भवति त्रिधा॥ (वही, १२।३९)

४. भेदोऽस्ति पञ्चकोशेषु साक्षिणो न तु भात्यसौ।
मिथ्यात्मताऽतः कोशानां स्थाणोश्चौरात्मता तथा॥ (प. द. – १२।४१)

गौण आत्मा का जिस तरह अन्यों से भेद परिलक्षित होता है, उस तरह इसका किसी से भेद नहीं दृष्टि-गत होता। भेद का कारण प्रतियोगित्व है। पुत्र मे दिखाई पड़नेवाला आत्मत्व तथा देहादि कोशों मे दिखने वाला आत्मत्व–ये दोनो एक दूसरे के प्रतियोगी हैं। अतः इनमे भिन्नता का दर्शन होता है। साक्षि-आत्मतत्त्व का कोई प्रतियोगी नहीं है।[१] यह पुत्रादिक मे दृष्ट आत्मा का भी साक्षी है, सबका आन्तरिक रूप है। अतः औपचारिक आत्मा तथा मिथ्या आत्मा से भिन्न यही आत्मा के रूप मे मान्य है। पददीपिकाकार केवल व्यतिरेकी अनुमान के द्वारा साक्षि-आत्मा के मुख्यत्व का प्रतिपादन इस तरह से करते हैं–'साक्षी मुख्यात्मा भवितुमर्हति, सर्वान्तरत्वात्, यो मुख्यात्मा न भवति स सर्वान्तरोऽपि न भवति, यथाऽहङ्कारादिरिति।'[२]

आत्मा की सर्वाधिक प्रीतिभाजनता इसके परमानन्दत्व का ज्ञापक है। जो वस्तु जितनी अधिक आनन्दमय होगी, उतनी ही अधिक उसके प्रति प्रीति होगी। चूँकि, आत्मा सबसे अधिक प्रिय है, इसलिये इसमे आनन्द का अतिशय स्वीकार्य है।[३] पञ्चदशी- टीकाकार रामकृष्ण आत्मा मे परानन्दता की सिद्धि केवल व्यतिरेकी अनुमान द्वारा इस प्रकार करते हैं–'आत्मा परमानन्दरूपः, निरतिशयप्रेमविषयत्वात्, यः परमानन्दरूपो न भवति, स निरतिशयप्रेमविषयो न भवति यथा घटादिरिति।'[४] आत्मा का आनन्द इसके चिद् से अभेध है। पर बुद्धि-वृत्ति मे चैतन्य का ही अवभासन होता है, आनन्द का नहीं।[५] इसको विद्यारण्य दीपक के दृष्टान्त से प्रमाणित करते हैं। गृह मे रखे गये दीपक के प्रकाश से पूरा घर प्रकाशित रहता है, परन्तु इसकी ऊष्मा दीपक के पास तक ही सीमित रहती है। इसी प्रकार

---

१. न भाति भेदो नाप्यस्ति साक्षिणोऽप्रतियोगिनः।
सर्वान्तरात्वात्तस्यैव मुख्यमात्मत्वमिष्यते॥ (वही, १२/४२)

२. द्रष्टव्य, प. द. - १२/४२ की टीका।

३. परप्रेमास्पदत्वेन परमानन्दरूपता। (वही, १२/७२)

४. द्रष्टव्य, प. द. - १२/४२ की टीका।
इसी को प. द. की १/८ की टीका मे इन शब्दों में वर्णित किया गया है – 'आत्मा परमानन्दरूपः, परप्रेमास्पदत्वात्, यः परमानन्दरूपो न भवति, नासौ परप्रेमास्पदमपि यथा घटः, तथा चायं परप्रेमास्पदं न भवतीति न, तस्मात् परमानन्दरूपो न भवतीति।'

५. मैवमुष्णप्रकाशात्मा दीपस्तस्य प्रभागृहे।
व्याप्नोति नोष्णता तद्वच्चितेरेवानुवर्तनम्॥ (पं. द. - १२/७४)

आत्मा की चिदाभा से वृद्धि भासित होती है, पर आनन्द ऊष्मा की भांति आत्मा मे ही रहा करता है। किन्तु सत्त्वगुण की वृत्तिगत निर्मलता मे आत्मा के चैतन्य और आनन्द दोनो की प्रतीति सम्भव है।

लोक के अन्य सुखों से आत्म-सुख का वैलक्षण्य है। अन्य सुख सावधिक हैं। इनमे आनन्द की वह शुद्धता एवम् उदात्तता नहीं है, जो आत्मानन्द मे है। आत्मा के आनन्द को सबसे उत्कृष्ट तथा सन्ततशील होने के कारण 'पञ्चदशी' इसे अवाङ्मनसगोचर प्रतिष्ठित करती है।[1]

एक विचिकित्सा उत्पन्न होती है कि, यदि आनन्द आत्मा का रूप है, तो जीवात्माओं को दुःख, पीड़ा, शोक का अनुभव क्यों होता है? इसका कारण अद्वैतवेदान्त अविद्या को मानता है। जिस तरह अविद्या के विनाशानन्तर ही आत्मा का (वास्तविक) चिद् भासित हो पाता है, इसी प्रकार आत्मा का आनन्द भी अविद्या आवरण के दूर होने के बाद ही शुद्ध रूप मे प्राकट्य ले पाता है। अनादि अविद्या आत्मा के आनन्द-प्रस्फुटन मे बाधक बनती है।[2]

आत्मा का आनन्द 'पञ्चदशी' की दृष्टि मे भासित, अभासित — उभयप्रकारक है। यदि इसे प्राणियों मे अभासित स्वीकार किया जाय, तो यह अतिशयानन्द की अर्हता न ले सकेगा। इसी प्रकार अगर यह भासित (मात्र) माना जाता है, तो (इसकी सर्वाधिक प्रेमास्पदता के कारण) अन्य सांसारिक सुखों के प्रति इच्छा जागृत न होगी। अतः निर्दुष्टता इसी मे है कि इसके आनन्द को भानाभानात्मक माना जाय।[3]

'पञ्चदशी' मे आनन्द को ३ रूपों में विवेचित किया जाता है —

(१) ब्रह्मानन्द

(२) वासनानन्द एवं

(३) विषयानन्द।

ब्रह्मानन्द ही समस्त आनन्दों का मूल है। 'रसो वै सः' (तै. २।६), 'रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति' (तै. - २।६) सदृश औपनिषद वाक्यों को

---

१. आवाङ्मनसगम्योऽयमात्मानन्दस्ततः परम्॥ (प. द. १४।३३)

२. इहानादिरविद्यैव व्यामोहैकनिबन्धनम्॥ (वही, १।९४)

३. 'यतो भानाभानपक्षयोरूभयोरपि दोषोऽस्ति, अतः कारणादात्मनोऽसौ परमानन्दताभानेऽपि प्रतीतौ सत्यामपि अभाता न प्रतीता भवति।' अवलोक्य, पं. द. १।११ की पददीपिका तथा पं. द.-१।११

उपजीव्य रूप मे ग्रहण करते हुये यतीन्द्र विद्यारण्य ब्रह्मज्ञ पुरूष को आनन्द (रस) रूप ब्रह्म की आप्ति से आनन्द-रूप बतलाते हैं।[१] 'आनन्दाद्धयेव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति...' (तै. - ३।६)– इस श्रृति-स्थापना को परिनिष्ठा देते हुये पञ्चदशीकार आनन्दब्रह्म से ही समस्त जगत् की उत्पत्ति, स्थिति एवं विलय काआख्यान करते हैं।[२]

एक संशय का अविर्भाव होताहै कि, पञ्चदशी मे ऊपर वर्णित ब्रह्मानन्द, वासनानन्द एवं विषयानन्द तथा एकादश प्रकरण के एकादश पद्य में अभिहित ब्रह्मानन्द, विद्यानन्द और विषयानन्द मे से आनन्द के किस त्रैविध्य को मान्यता दी जानी चाहिये। इसी प्रकरण के ८७वें श्लोक मे यह भी कहा जाता है कि, जगत् मे ब्रह्मानन्द, वासनानन्द एवं प्रतिबिम्बानन्द के अतिरिक्त और कोई आनन्द नहीं है।[३] यहाँ उक्त प्रतिबिम्बानन्द ऊपर के उभयआनन्द-त्रिपुटियों से पृथक् दिखलाई पड़ता है। अतः इसे लेकर आनन्द-त्रय की तीन श्रेणियां स्थिर होती हैं। किन्तु अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति से अन्तर्मुखी मन मे प्रतिबिम्बित विषयानन्द ही प्रतिबिम्बानन्द है। अतः विषयानन्द और प्रतिबिम्वानन्द के एक ही सिद्ध होने पर, आनन्द-त्रय की दो ही सृतियां बनती हैं। इन दोनो सरणियों मे भी मात्र द्वितीय आनन्द आर्थात् वासनान्द तथा विद्यानन्द मे भेद दिखता है। किन्तु यहाँ भी विद्यानन्द विषयानन्द की भांति अन्तःकरण की वृत्ति का विषय होने के फलस्वरूप विषयानन्द के अन्तर्गत ही गण्य है।[४] इसलिये पूर्वोक्त ब्रह्मानन्द, वासनानन्द एवं विषयानन्द ही आनन्द के तीन रूप सिद्ध होते हैं। इन तीन आनन्दों के अतिरिक्त निजानन्द, मुख्यानन्द, आत्मानन्द, योगानन्द और अद्वैतानन्द ये सभी ब्रह्मानन्द मे अङ्गीकार्य हैं।

ब्रह्म का अद्वैतात्मक आनन्द ही परमार्थानन्द है। तैतिरीयोपनिषद् मे उल्लिखित भृगुने अपने पिता वरूण से अन्नमयादि पञ्चकोशों से पृथक् आनन्दलक्षणक ब्रह्म का ही ज्ञान प्राप्त किया था। यह भूमा रूप है। भूमा

---

१. ब्रह्मवित् परमाप्नोति शोकं तरति चात्मवित्।
रसो ब्रह्म रसं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति नान्यथा॥ (पं. द. - ११।२)

२. द्रष्टव्य, वही पं. द. - ११।९३

३. ब्रह्मानन्दो वासना च प्रतिबिम्ब इति त्रयम्।
अन्तरेण जगत्यस्मिन्नानन्दो नास्ति कदाचन॥ (वही, ११।८७)

४. विषयानन्दवद् विद्यानन्दो धीवृत्तिरूपकः। (पं. द. - १४।२)

का सुख देश, काल एवं वस्तु से अपरिच्छिन्न है। 'पञ्चदशी' द्वैत मे सुख का दर्शन नहीं करती । इसकी दृष्टि मे अद्वैत ही वास्तविक सुख है।[१] ब्रह्म का अद्वैत रूप तथा उसमे समाहित आनन्द सृष्टि के पूर्व था, यह कैसे स्वीकार किया जाय? 'पञ्चदशी' मे श्रुति-प्रमाण के आधार पर सृष्टि के पहले द्वैत का अभाव तथा अद्वैत का अस्तित्व स्थिर किया जाता है। सृष्टि ही नहीं हुयी, तो द्वैत का अभाव स्वयं सिद्ध होता है। जब द्वैत था ही नहीं, तब अद्वैत का होना भी स्वयं सिद्ध मान्य हो जाता है। जगत् की नामरूपात्मकता एवं ब्रह्म की सच्चिदानन्दात्मकता- उपनिषद् श्रुतियों को अभिप्रेत है। पञ्चदशी भी इसे पूर्ण मान्यता देती है।[२] नामरूपात्मक जगत् के मिथ्यात्व बोध के अनन्तर ब्रह्म का सत् चित् एवं सुख रूप प्रमाता को स्वयम् अनुभूत होने लगता है।[३]

ब्रह्म के अखण्डानन्द रूप का भोग जब उपाधि द्वार से अन्तःकरण की वृत्तियों के माध्यम से सम्पादित होता है, तब यही विषयानन्द वन जाता है।[४] ब्रह्म जब समस्त मायिक उपाधियों से रहित होकर स्वी यः चिदाभा मे भासित होता है, उस समय इसका आनन्द स्व-रूप मे प्रकट रहता है। यह द्वैत-शून्य आनन्द है।[५]

यथा, आकाश के घटाकाश, महाकाश, जलाकाश तथा अभ्राकाश – ये चार रूप दृष्टि-गत होते हैं, तथैव (प्रतीति गत सत्ता मे) चैतन्य भी चतुर प्रकारक है – कूटस्थ, ब्रह्म, जीव एवम् ईश्वर।[६] इनमे से कूटस्थ आत्मा का सही रूप है। कूटस्थ आत्म तत्त्व पर शुक्ति मे रजत की भांति स्थूल तथा सूक्ष्मशरीर संवेष्टित अध्यस्त वस्तु चिदाभास है।[७] 'पञ्चदशी' युक्तियों एवम् उदाहरणो के द्वारा कूटस्थ तत्त्व की चिदाभास से भिन्नता प्रतिष्ठित

---

१. मास्त्वद्वैते सुखं किन्तु, सुखमद्वैतमेव हि।
किं मानमिति चेन्नास्ति मानाकाङ्क्षा स्वयंप्रभे॥ (पां द०, ११।२३)

२. अवलोकनीय, पं. द. - १३। ६२। ६३

३. वही, १३।१०५

४. अवलोक्य, पं. द. - १५।१, २

५. वही, १५।३३

६. वही, ६।१८

७. अविद्यावृतकूटस्थे देहद्वययुता चितिः।
शुक्तौ रूप्यवदाध्यस्ताविक्षेपाध्यास एवहि॥ (वही, ६।३३)

करती है। 'स्वयम्' और 'अहम्' शब्दों मे भैन्न का निरूपण करते हुये यहाँ 'स्वयम्' आत्म तत्त्व का एवम् अहम् चिदाभास का बोधक बतलाया गया है। स्वरूप कूटस्थ-आत्मा तथा अहं रूप चिदाभास मे अमेदात्मक विचार ठीक वैसा ही भ्रामक है, जैसे सीपी मु रजत-बोध। वस्तुतः कूटस्थ मे कल्पित चिदाभास का विक्षेप 'अहम्' है।[१] विक्षेपावस्था मे कूटस्थ की असङ्गता एवम् आनन्द रूपता उसी तरह से लुप्त रहा करती है, जैसे सीपी मे चांदी का भ्रम उत्पन्न होने पर सीपी के पृष्ठ की नीलिमा तथा त्रिकोणिमा नहीं दिखलाई पड़ती । माया विकार-शून्य कूटस्थ पर विश्व का आरोपण करके इसे चिादाभास बना देती है। इसी प्रकार जीव एवम् ईश्वर को अलग-अलग करने का कार्य भी इसी के द्वारा सम्पादित होता है।[२] आत्मा (कूटस्थ) अन्तःकरण की वृत्तियों के प्रागभाव का साक्षी है॥ अनात्म-वस्तुओं का आलम्बन एवं प्रकाशक भी यही आत्म-तत्त्व है। यही शिव है। स्वरूपतः कूटस्थ चैतन्य चिदाभास से पृथक् होकर भी अध्यास के कारण अभिन्न प्रतीत होता है।[३] अध्यासावस्था के कारण ही अज्ञानी लोग कूटस्थ को 'अहम्' शब्द का वाच्य भी मान बैठते हैं। प्रश्न उठता है कि, तत्त्ववेत्ताओं को भी 'मै असङ्ग हूं', 'मै चिद्रूप हूं' – इस प्रकार की अनुभमूति मे 'अहम्' शब्द प्रभावी रहता है, अतः यहाँ यह कैसे शुद्ध तत्त्व का बोधक माना जा सकता है ? तत्त्वज्ञानियों के इस प्रकार के बोध मे अथवा इस प्रकार के अनुभव मे 'अहम्' पद लक्षणा द्वारा शुद्ध आत्म-तत्त्व का बोधक बनता हुआ अपनी सार्थकता सिद्ध करता है। जिज्ञासा उठती है कि, कूटस्थ के अतिरिक्त चिदाभास का अस्तित्व क्या है? चिदाभास की उत्पत्ति मे दो वस्तुयें हैं – कूटस्थ चैतन्य और आभास। इनमे चिदाभास का शुद्ध रूप कूटस्थ चिति मात्र सत् है। आभास मिथ्या है।[४] आभास के मिथ्यात्व के कारण चिदाभास-संश्रित 'मै असङ्ग हूं', 'मै चिदात्मा हूं'

---

१. कूटस्थाध्यस्तविक्षेपनामाहमिति निश्चयः॥ (वही, ६।३६)

२. कूटस्थासङ्गमात्मानं जगत्त्वेन करोति सा।
चिदाभासस्वरूपेण जीवेशावपि निर्ममे॥ (वही, ६।१३३)

३. अन्योन्याध्यासरूपेण कूटस्थाभासयोर्वपुः।
एकीभूय भवेन्मुख्यस्तत्र मूढैः प्रयुज्यते॥ (वही, ७।१०)

४. आभासत्वस्य मिथ्यात्वात् कूटस्थत्वावशेषणात्॥ (पं. द. – ७।१५)

प्रभृति बोध भी मिथ्या सिद्ध होते हैं। 'कूटस्थोऽहमस्मि'—इस वाक्य मे कूटस्थत्व ज्ञान लक्षणा के द्वारा चिदाभास को कूटस्थ से पृथक् करने पर सम्भव है। गुरु-आदि से प्रथमतः इसका परोक्ष ज्ञान होता है। इसके अनन्तर श्रवणादि साधनो की परिपाकावस्था मे अपरोक्ष ज्ञानोदय भी सम्भव हो जाता है।[१]

पञ्चदशीकार पदार्थों के बोध-प्रसङ्ग मे ब्रह्म एवं चिदाभास के पार्थक्य का भी निरूपण करते हैं। चिदाभास (जीव) पदार्थैकाकार बुद्धि मे स्थित होकर मात्र पदार्थ को आभासित करता है। पदार्थ का ज्ञातृत्व पदार्थाधिष्ठान ब्रह्मचैतन्य द्वारा सम्भव होता है इस प्रकार किसी वस्तु के ज्ञान-हेतु वस्त्वाकार बुद्धि मे स्थित जीव चैतन्य तथा वस्तु मे व्याप्त ब्रह्मचैतन्य दोनो के संयोग की अपेक्षा रहती है।[२] जिस प्रकार शरीर से बाहर जीव एवं ब्रह्म-चिति का भैन्न स्थिर होता है, तद्वत् देहान्तर्गत चिदाभास एवं कूटस्थ चैतन्य का पार्थक्य बना रहता है। 'अहम्' तथा काम, क्रोध, लोभ आदि विकृतियों मे तपते हुये लौह पिण्ड मे अग्नि के सदृश चिदाभास की सत्ता बनी रहती है।[३] इन विकारों का अविर्भाव जाग्रत एवं स्वप्न मे सम्भव है, परन्तु सुषुप्ति और मूर्च्छा आदि मे इनका अभाव – दोनो, जिस निर्लिप्त (पर) चैतन्य के द्वारा प्रकाश मे आते हैं, वही साक्षी कूटस्थ चिति है।[४] अकूटस्थ आत्मा का स्वरूप पञ्च महाभूतों से उत्पन्न देह तथा इन्द्रियों की उपाधि से उपहित रहता है। इन्द्रियों इत्यादि के अवसानानन्तर इसका जीवत्वाहङ्कार भी नष्ट हो जाता है। इस प्रकार आत्मा के औपाधिक रूप का विनाश श्रुतियों को अभीष्ट है।[५] इससे भिन्न जो अमरणप्रकृतिक, शब्दादिविषयासंस्पृष्ट अनुपहित आत्म चैतन्य है, यही उपनिषदों मे असङ्ग अथवा कूटस्थ संविद् के रूप मे प्रतिष्ठित है।[६]

---

१. वही, ७।३१

२. घटैकाकारधीस्था चिद्घटमेवावभासयेत्।
घटस्य ज्ञातता ब्रह्मचैतन्येवावभासते॥ (वही, ८।४)

३. द्रष्टव्य, (पं. द. - ८।१८)

४. अन्तःकरणतद्वृति साक्षीत्यादावनेकधा।
कूटस्थ एव सर्वत्र पूर्वाचार्यैर्विनिश्चितः॥ (वही, ८।२५)

५. अवलोक्य, पं. द. - ८।३९ तथा इसकी 'पददीपिका'।

७. वही, ८।४०

आचार्य विद्यारण्य का इस बात पर आग्रह है कि, श्रुत्यर्थ के समालोचन से साक्षी के अतिरिक्त आत्मा का अन्य रूप सिद्ध नहीं होता। अन्नमयादि पञ्चकोशों से पृथक् करके आत्मा के इस रूप की अनुभूति सम्भाव्य है।[१] जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्ति अवस्थाओं मे एक की निवृति के पश्चात् दूसरे की अवाप्ति का आभासक चिद्रूप आत्मतत्त्व है,[२] इस प्रकार का ज्ञान आत्मा के सही रूप का अनुभावक है। आत्मा का यही रूप 'तत्त्वमसि' महावाक्य मे 'त्वम्' पदार्थ का लक्ष्यार्थ बनता है। इसी का ब्रह्म-चिति से अभेद सिद्ध होता है।[३] समस्त सृष्टि की अधिष्ठानता ब्रह्म मे तथा कायेन्द्रियादिमय जीव का अधिष्ठानत्व कूटस्थ मे विद्यमान है।[४] पञ्चदशीकार पुराणोक्त शिव को इसी कूटस्थ का रूप मानते हैं। यह असत्य जगत् का आश्रय होते हुये भी सत्य है। समस्त अचेतन पदार्थों का प्रकाशक होने से चिद्रूप और सर्वदा प्रेम का आस्पद होने के कारण आनन्दमय है।[५] सर्वावभासक होने के फलस्वरूप सबसे सम्बद्ध यह तत्त्व पूर्णता लिये हुये है।[६]

मुमुक्षु को कूटस्थ आत्मा की जन्म-मृत्यु से परता तथा इसकी असङ्गता को सर्वदा मनन करने की सलाह पञ्चदशी देती है।[७] कूटस्थ का स्वरूप यद्यपि वाणी एवं मन से पर है, पर उपनिषद्-श्रुतियां जगत्, जीव, एवम् ईश्वर के व्याख्याद्वार से इसका बोध कराने मे समर्थ बनती हैं।[८] अहङ्कार तथा बुद्धि एवं शब्दादि विषयों को चैतन्य काआलोक आत्मा से ही मिलताहै। निरन्तर प्रकाशमान निर्विकार कूटस्थ शुद्ध ज्ञप्ति रूप है।

---

१. वही, १२।५७

२. जागरस्वप्नसुप्तीनामागमापाय भासनम्।
यतो भवत्यसावात्मा स्वप्रकाशचिदात्मकः॥ (वही, १२।५८)

३. शोधितस्त्वं पदार्थों यः कूटस्थो ब्रह्मरूपताम्। (वही, ८।४७)

४. वही, ८।४८

५. वही, ८।५७

६. आनन्दरूपः सर्वार्थसाधकत्वेन हेतुता।
सर्वसम्बन्धवत्त्वेन सम्पूर्णः शिवसंज्ञितः॥ (वही, ८।५८)

७. असङ्ग एव कूटस्थः सर्वदा नास्य कश्चन।
भवत्यतिशयस्तेन मनस्येवं विचार्यताम्॥ (पं. द. – ८।७०)

८. अवाङ्मनसगम्यं तं श्रुतिर्बोधयितुं सदा। (वही, ८।७२)

यदि हम इसे नृत्यशालास्थ दीप के रूपक मे व्यक्त करना चाहें, तो यह इस प्रकार होगा – 'नृत्यशाला मे स्थित सबको प्रकाशित करनेवाला दीपक साक्षी आत्मा है। विषय-भोग की सफलता एवम् असफलता से उत्पन्न होने वाले हर्ष और विषाद का अभिमानी स्वामी अहङ्कार, अभिमान शून्य प्रेक्षक विषय, अनेक प्रकार की (अभिनयादि) विकृतियों सेपूर्ण नर्तकी बुद्धि तथा नर्तकी के अनुकूल व्यापार कर्ता तालवादक इन्द्रिय रूप है।'[1] शरीर के अहङ्कारादि एवं बाहर घट, पट आदि के प्रकाशकत्व के बावजूद कूटस्थ की परता निर्दुष्ट है। इन्द्रियों के साथ क्रिया कलापों का साक्षि चैतन्य पर आरोप मिथ्यात्मक है। इसको निम्न दृष्टान्त द्वारा इस प्रकार समझा जासकता है। घर की खिड़की से घर के अन्दर आनेवाला भास्कर का प्रकाश अचल है, पर हस्तादि सञ्चालन से वह हिलता हुआ दृष्टिगोचर होताहै। साक्षी भी भास्कर-आलोक की तरह बुद्धिगत क्रियाओं से विना प्रभावित रहे अचल रहा करता है। किन्तु बुद्धि मे भासित होते हुये बुद्धि की चञ्चलता के कारण वह चञ्चल दिखाई पड़ता है। इसके अचाञ्चल्य की अनुभूति हम बुद्धि के शान्त हो जाने पर सहजतः कर सकते हैं। यदि वह इस प्रकार के क्रिया-व्यापारों से सम्बद्ध होता, तो बुद्धि को शान्तावस्था मे भी इसे गतिमान् रहना चाहिये। पर ऐसा होता नहीं।[2] आत्मा वाणी एवं बुद्धि से अगोचर होकर भी बुद्धि तथा इसके विषयों मे साक्षित्व द्वार से अपने अस्तित्व का ज्ञापन करता है।[3] स्वयं प्रकाश रूप आत्मा के अपरोक्ष बोधार्थ अन्य किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं पड़ती। श्रुतियों का अभ्यास एवं गुरुपदेश इसके साक्षात्कार मे उपयोगी सिद्ध होते हैं। न्याय-दर्शन को मान्य आत्मा मे दुःखाभावत्व को पञ्चदशी साक्षी मे ही देखती है।[4]

---

१. अहङ्कार प्रभुः सभ्या विषया नर्तकी मतिः।
तालादिधारीण्यक्षाणि दीपः साक्ष्यवभासकः॥ (वही, १०।१४)

२. पं. द. – १०।२०

३. यद्यद्रूपादि कल्पयेत् बुद्ध्या तत्तत्प्रकाशयन्॥
तस्य तस्य भवेत्साक्षी वाग्बुद्ध्यगोचरः॥ (वही, १०।२३)

४. तद्घनत्वं साक्षिभावं दुःरवाभावं प्रचक्षते।
लौकिकास्तार्किका यावद्दुःखवृत्ति विलोपनात्॥ (वही, १०।७१)

पञ्चदशी अन्य दार्शनिक सम्प्रदायों द्वारा स्वीकृत आत्मा के विभिन्न रूपों पर दृष्टि डालते हुये, इन्हें आत्मा के वास्तविक रूप का अपरिचायक मानकर, इनको अग्राह्य बतलाती है। ऐसे मतों द्वारा प्रस्तुत स्वमत-सम्पोषणार्थ श्रुतियों का उद्धरण भी प्रकरण-विरूद्धता से दूषित हैं। मात्र प्रत्यक्ष प्रमाण को मान्यता देने वाला चार्वाक दर्शन 'शरीर' को ही आत्मा स्वीकार करता है। इसके लिये वह 'स वरुष पुरुषोऽन्नरसमयः' (तै. उप. २।१।१) श्रुतियों को प्रमाण रूप मे उद्धत करता है। इसी लोकायतिक की एक शाखा मरणधर्मागात्र से पृथक् वाक् आदि इन्द्रियों को चेतन अङ्गीकार करती हुयी, इनमे आत्म-दर्शन करती है। 'हिरण्यगर्भोपासक' इन्द्रियों के राहित्य मे भी प्राणान्तर्गत जीवन-शक्ति मानते हुये प्राण को ही आत्मा मानते हैं।

कुछ लोग प्राण के स्थान पर 'मन' मे आत्मत्व प्रतिष्ठित करते हैं। ये लोग 'तस्माद् वा एतस्मात्प्राणमयादन्योऽन्यतर आत्मा मनोमयः' (तै. उप. २।२)। यें इस मनोमयकोश का वर्णन करने वाले श्रुति-वाक्य को अपना साक्ष प्रस्तुत करते हैं। विज्ञानवादी बौद्ध मन के वजाय 'विज्ञान' को आत्मा अङ्गीकृत करने मे आस्थावान हैं। विज्ञानवाद मे विज्ञानमन का कारण है। किन्तु विज्ञान और मन का वाच्य एक ही अन्तःकरण के होने के फलस्वरूप दोनो मे कारण-कार्य-भाव का संस्थापन अशक्त प्रतीत होता है। अहम् एवम् इदम् – अन्तःकरण की दो पृथक्-पृथक् वृत्तियां हैं, अतः इनमे कार्य-कारण-भाव सम्भाव्य है। इस प्रकार मन तथा विज्ञान अन्तःकरण रूप से एक होते हुये भी वृत्ति की अपेक्षा से भिन्नता भी लिये हुए रहते हैं। क्षणिकविज्ञानवाद मे विज्ञान की वृत्ति 'अहम्' एवं मन की वृत्ति 'इदम्' है। 'अहम्' (विज्ञान) इदम् अर्थात् बाह्यजागतिक पदार्थों का कारण है।[१] विज्ञानवादी अपने मत का पोषण 'तस्माद् वा एतस्मान्मनोमयादन्योन्यतर आत्मा विज्ञानमयः' (तै. उप. – २।२) – इस विज्ञानमयकोशाभिव्यञ्जक श्रृति वाक्य से करते हैं।

माध्यमिक बौद्ध क्षण-क्षण परउत्पन्न एवं नष्ट होने वाले विज्ञान को आत्मा न मानकर, इससे पृथक् (अपरिवर्तनशील) शून्य को आत्मा अङ्गीकार करते हैं। 'असदेवेद- मग्र आसीत्' छान्दोग्योपनिषद् (३।१९।१) की यह श्रृति इसका समर्थक मानी जा सकती है। 'पञ्चदशी' शून्य के अस्तित्व के लिये साक्षित्व की स्थापना आवश्यक मानती है। यह साक्षी आत्म-तत्त्व

---

१. द्रष्टव्य, (पं. द. – ६।७१)

है, विना इसके 'शून्य है' –यह कथन स्वयं मे शून्य है।[१]

'वैदिक दर्शन' आनन्द को आत्मा स्वीकार करता है। यह सिद्धान्त 'तस्माद् वा एतस्माद् विज्ञानमया-दन्योऽन्यतर आत्मा' (तै. उप. - २।५) – श्रुति के इस अभिधान पर श्रित है।

कतिपय दर्शन-कुल चिद् को आत्मा का स्वरूप न मानकर उसका गुण स्वीकार करते हैं। ऐसे दर्शनमतों मे नय्यायिक एवं प्राभाकर मीमांसक अभिगण्य हैं। इनके अनुसार आत्मा आकाशवत् द्रव्य है। चैतन्य इसका उसी तरह गुण है, जैसे शब्द आकाश का। इच्छा, प्रयत्न, द्वेष, धर्म, अधर्म, सुख तथा दुःख एवम् इनके संस्कार – ये सब चिति के ही सदृश आत्मा के गुण हैं।[२] इन गुणों के कारण आत्मा (शुभाशुभ कर्मों के कर्तृत्ववशात्) इनका कर्ता और भोक्ता भी बनता है। पञ्चकोशों मे सुषुप्ति अवस्था मे अवशिष्ट आनन्दमयकोश आत्मा का स्वरूप है। इस तरह इनकी सम्मति मे ज्ञानमयता के साथ आनन्दत्व भी आत्मा का रूप सिद्ध होता है।[३]

सांख्य का आत्मा चेतन और असङ्ग है। प्रकृति जड़ रूप त्रिगुणात्मिका है। यह पुरुष के भोग तथा मोक्ष-हेतु प्रवर्तित होती है। नय्यायिकों की भांति जीवात्माके बन्धन एवं मोक्ष के सम्पादनार्थ सांख्य भी आत्मा का अनैक्य अङ्गीकार करता है।

आत्मा के स्वरूप के सदृश ही इसके परिमाण के विषय मे भी दार्शनिकों में मत-भेद है। अणु, मध्यम तथा महत्– इन तीन रूपों मे परिमाणत्व की चर्चा है।[४] अणुवादियों के अनुसार सूक्ष्मनाडियों मे प्रविष्ट आत्मा अणु-रूप है। यह रोम के सहस्त्रांश सदृश है। 'एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः' (मुण्ड. ३।१।९) सदृश श्रुतिवाक्य इनके समर्थक हैं। जैन दर्शन के दिगम्बरसम्प्रदायी आत्मा को मध्यम परिमाण वाला मानकर पद से मस्तिष्क पर्यन्त पूरे शरीर में इसे व्याप्त अङ्गीकारकरते हैं। 'स एष इह प्रविष्ट

---

१. निरधिष्ठानविश्रान्तेरभावादात्मनोऽस्तिता।
शून्यस्यापि ससाक्षित्वादन्यथा नोक्तिरस्य ते॥ (वही, ६।७६)

२. इच्छाद्वेषप्रयत्नाश्च धर्माधर्मो सुखासुरवे।
तत्संस्काराश्च तस्यैते गुणाश्चिति वदीरिताः॥ (वही, ६।८९)

३. प. द., ६।९४, ९५

४. अणुर्महान् मध्यमो वेत्येवं तत्रापि वादिनः।
बहुधा विवदन्ते हि श्रुतियुक्तिसमाश्रयात्॥ (पं. द. - ६।७८)

आनखाग्रेम्यः' (बृह - १।४।७) प्रभृति श्रुति-अमिधान इस मान्यता को पुष्टि देते हैं। मध्यमपरिमाण मे एक असङ्गति प्रतीत होती है कि, छोटे एवं बड़े आकार वाले-- उभय प्रकारक जीवों मे मध्यमाकारक एक सदृश आत्मा की प्रविष्टि कैसे सम्भव है? इसका निराकरण जैनाचार्य इस तरह से करते हैं कि, कायानुसार इसमे सङ्कोच तथा बृद्धि सम्भाव्य होने के प्रतिफलस्वरूप इसका प्रवेश और निर्गम हर प्रकार के जीवों मे हो सकता है।

शाङ्कर वेदान्त को आत्मा का महत् परिमाण मान्य है। आकाश के समान यह सर्व-गत एवं निखयव है। 'आकाशवत् सर्वगतश्च नित्यः' (गौड. ३।३) 'निष्कलं निष्क्रियम्' (श्वे. ६।१९) – श्रुतियां इसकी पोषक हैं।

ऊपर चर्चित दार्शनिकों की विभिन्न आत्मविषयक सम्मतियों के उल्लेख-द्वार से पञ्चदशी इनकी न्यूनताओं को सङ्केतित करती है। साथ ही इसके माध्यम से वह अद्वैतमताभीष्ट आत्माके सही रूप को जानने का मार्ग भी प्रशस्त करती है।

ब्रह्मात्मैक्य :- शाङ्करवेदान्त मे आत्मा एवं ब्रह्म मे अभेद है।[१] जहाँ तक श्रौती परम्परा की बात है, इसमे उपनिषदें प्राणिनिष्ठ चैतन्य को आत्मा तथा समस्त चराचर विश्व के मूल को ब्रह्म रूप मे परिनिष्ठित करती हुयी भी दोनो मे ऐक्य काव्यपदेश करती हैं। 'अयमात्मा ब्रह्म' (बृह. - २।५।१९), 'स आत्मा तत्त्वमसि' (छा.- ६।१२।३), 'इदं सर्वं यदयमात्मा' (बृह०--२।४।६) आदि उपनिषद्, श्रुतियां इसका उदहरण हैं।

एक जिज्ञासा उठती है कि, आत्मा एवं ब्रह्म को यदि एक ही तत्त्व का बोधक माना जाता है, तो एक ही सत्य के लिये इस प्रकार के दो भिन्न शब्दों के प्रयोग का औचित्य क्या है? परमार्थदृष्ट्या आत्मा तथा ब्रह्म एक ही अनादि, अनन्त और ज्ञानानन्द तत्त्व के प्रकाशक हैं। परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से प्राणियों के अन्तःकरणोपहित जीव-चैतन्य का जो साक्षी (असङ्ग) रूप है, वह आत्म-तत्त्व है। इसी आत्म-चैतन्य का ही अविद्योपहित रूप चिदाभास के रूप मे जाना जाता है। 'पञ्चदशी' ब्रह्म और आत्मा के इसी व्यावहारिक रूप को व्यक्त करने के लिये पराचिति का चार रूप बतलाती है।—

---

१. विशेषः- शाङ्कर दर्शनके लिये प्रथित निम्न पद्यांश मे भी इसका स्पष्ट उल्लेख है – 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः।'

कूटस्थो ब्रह्म जीवेशावित्येवं चिच्चतुर्विधा।
घटाकाशमहाकाशौ जलाकाशाभ्रखे यथा॥ (पं. द. - ६।१८)

परा सत्ता के इन चार रूपों मे उपाधिद्वार से ब्रह्म ईश तथा कूटस्थ जीव के रूप मे प्रतीत होताहै। इस प्रकार प्राणियों के अन्तःकरणस्थ चैतन्य की अपेक्षा से, इसका जो साक्षी (शुद्ध) चित् है, वह आत्मा एवं जगत् की उत्पत्यादि के आधिष्ठान रूप मे जो (निरूपाधिक) चैतन्य है, वह ब्रह्म रूप मे बोध्य है। इन दोनो मे अभेद है अर्थात् दोनो एक हैं। ब्रह्म-चैतन्य तथा आत्म-चैतन्य पृथक्-पृथक् स्थानो (अर्थात् गात्र के बाहर एवं गात्र के भीतर) मे अस्तित्ववान् प्रतीत होने के परिणति-रूप, भिन्न-भिन्न (अवश्य) दिखलाई पड़ते हैं। पर यह भिन्न प्रतीति औपाधिक है, वास्तविक नहीं। जैसा कि ऊपर कहा गया है कि, अनौपाधिक आत्मा तथा उपाधि-शून्य ब्रह्म पूर्ण अभिन्न हैं। इनमे भिन्नता अकल्प्य है। आचार्य शङ्कर शरीरक भाष्य (१।३।१९) मे जीवात्मा तथा परमात्मा के भेद को अपारमार्थिक प्रस्थिर करते हुये कहते हैं– 'एवं मिथ्याज्ञानकृत एव जीवपरमेश्वरयोर्भेदो न वस्तुकृतः'। इसी बात का समर्थन भामती इन शब्दों में करती है– 'जीवोऽप्यविद्याकल्पितदेहेन्द्रियधुपहितं रूपं ब्रह्मणो न तु स्वाभाविकः'। (बृ. सू. शां. भा. के. - १।३।१९ की भामती)

अगर यहाँ यह कहा जाय कि शरीर धारियों के अन्तःकरण की उपाधि स्वीकार करने वाली चिति आत्मा भले ही मानी जा सकती है, परन्तु इससे ब्रह्म का अभेद उचित नहीं। यह कथन जीव और जगत् की आभासिक घटादि वस्तुओं की सत्ता को ज्ञापित करने के लिये संसारिक स्तर पर भले ही उपयुक्त मानाजा सकताहै, लेकिन परमार्थतः चैतन्य एक ही है। आत्मा एवं ब्रह्म उसी के बोधक हैं। 'पञ्चदशी' अन्तःकरण की साहित्यात्मक उपाधि को ही जीव की ब्रह्म से भिन्नता का कारण मानती है।[१] उपाधि-समाप्ति के बाद दोनो मे किसी प्रकार का भेद नहीं रह जाता।

एक ही पर तत्त्व को जीव, ईश्वर, ब्रह्म और कूटस्थ रूप मे

---

१. अन्तःकरणसाहित्यराहित्याभ्यां विशिष्यते।
उपाधिर्जीवभावस्य ब्रह्मतायाश्च नान्यथा॥ (पं. द. - ७।८५)

पृथक्-पृथक् प्रतीत होने काकारण जड़ प्रकृति है। यह माया एवम् अविधा रूप मे इस प्रकार का चामत्कारिक कार्य सम्पादित करती है। प्रकृति के जिस रूप मे शुद्ध सत्त्वगुण प्रकाशित रहता है, वह माया एवं जिसमे तमस् तथा रजो दूषित सत्व का आलोक कहा करता है, वह अविद्या कही जाती है। माया मे प्रतिफलित चैतन्य ईश्वर है अविद्या मे पायी जाने वाली अशुद्धि के न्यूनाधिक्य के कारण जीवों की अनेक श्रेणियां तथा इनके बहुसंख्यक रूप मिलते है।[१]

मायोत्पाद्य ईश्वर तथा जीव का यह भेदात्मक प्रपञ्च तभी तक वास्तविकता लिये हुये है, जब तक माया एवम् अविद्या मे शुद्ध चैतन्य की प्रतिबिम्बात्मक स्थिति कायम रहती है। 'तत्त्वमसि' प्रभृति महावाक्यों मे प्रयुक्त तत् और त्वम् आदि पदों के अभिधाऽऽर्थ ब्रह्म एवं जीव की इसी स्थिति के परिचायक हैं। इनमे ब्रह्म विश्वहेतुत्वादि तथा जीवात्मा अन्तःकरणोपाधि की विशेषताओं से युक्त रहता है। इन दोनो मे ऐक्य तदादि पदार्थों के लक्ष्यार्थ द्वारा सिद्ध होता है।

आत्मा एवं ब्रह्म की इस एकता का आख्यान औपनिषद श्रुतियां अनेकशः करती हुयी दिखती हैं। 'ऐतरेयोपनिषद्' मे व्यञ्जित इस ऐक्य को पञ्चदशीकार आरोप और निषेध-द्वार से निम्नानुसार वर्णित करते हैं —"आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसन्नान्यत् किञ्चन मिषत्' (ऐत. १।१।१) — इस वाक्य मु ईरित, 'सृष्टि के पूर्व आत्मा अकेला था और कुछ नहीं था' — यह ब्रह्म कावास्तविक और अप्रत्यक्ष लक्षण है। यही ब्रह्म 'सईक्षत लोकान्नु सृजाइति' (ऐत. - ४।१।२) इस श्रृति के अनुसार अपनी सङ्कल्पेच्छा से जगत् की रचना करना चाहता है। 'तस्य त्रयआवसथास्त्रयः' (ऐत. -४।३।१२)— इस मन्त्र के द्वारा ब्रह्म मे जगत् के आरोपित होने का सङ्केत है। 'स जातो भूतान्यभिव्यैक्षत किमिहान्यं वावदिषत्' (ऐत. ४।३।१२)— द्वारा उपनिषद् आरोपित प्रपञ्च का निषेध (अपवाद) करती हुयी दिखती है और 'स एतमेव पुरुषं ब्रह्म ततमपश्य दिदमदर्शमिति' (ऐत. ४।३।१२) —इस वाक्य द्वारा यहाँ जीवात्मा तथा ब्रह्म के अभिन्न होने का उल्लेख किया जाता

---

१. द्रष्टव्य, पं. द. - १।१७

है। यह अभेद कैसे सुलभ हो सकता है, यह 'कोऽयमात्मेति वयमुपास्महे' (ऐत. ५।४।१) — इस श्रुति द्वारा ब्रह्माभिन्न आत्मा के वास्तविक रूप के जानने मे सङ्केतित है।[१] इस प्रकार के अध्यारोप और अपवाद विधि से मिलनेवाला आत्मब्रह्मैक्य-बोध परोक्ष रूप का है। प्रत्यक्ष-बोध महावाक्यों आदि के संश्रय से सम्भाव्य है।[२] तमः प्रधानता, विशुद्ध सत्त्वप्रधानता एवं मलिन सत्त्व प्रधानता की त्रिपुटी द्वारा माया ब्रह्म मे अनेकता की सृष्टि करती हुयी जीव तथा ब्रह्म को पृथक्-पृथक् रूप मे प्रत्यायित कराती है। महावाक्यों प्रभृति साधनो के द्वारा उपाधियों से रहित जीव और आत्मा के भासित होने पर दोनों मे तादात्म्य स्पष्ट झलकने लगता है। उभयत्र अद्वितीय सच्चिदानन्द ब्रह्म दृष्टि-पथ मे आने लगता है।[३] जीवात्मा का पञ्चकोशों अथवा स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण शरीर से संश्लेष — ब्रह्म से इसकी भिन्नता का कारण बनता है। शरीरोपाधि से आत्म-तत्त्व को विविक्त कर लेने परआत्मा ब्रह्म रूप मे भासित होने लगता है। विवेक द्वारा देह-त्रय से पृथक् आत्मा का वास्तविक रूप वैसे ही दिखने लगताहै, जैसे मुञ्ज नामक घास के ऊपरी (कर्कश) भाग को अलग कर लेने पर उसका (वास्तविक) मृसृण रूप अक्षि-गोचर बन जाता है।

'पञ्चदशी' मे अनेक स्थलों पर आत्मा तथा ब्रह्म की एकता का स्पष्ट प्रतिपादन हुआहै। महावाक्यों के वर्णन मे और श्रवणादि के द्वारा प्राप्त बोध-प्रसङ्गों मे यह एकता बार-बार उल्लिखित हुयी है। जन्मादि के बन्धन से शाश्वत मुक्ति पाने के लिये जीव तभी समर्थ बन पाता है, जब वह जीवत्व रूप से पृथक्, अपने सत्य, ज्ञान तथा सुखद रूप अर्थात् ब्रह्म का साक्षात्कर्ता बन जाता है। इस अवस्था मे जीव तीनो लोकों मे व्याप्त भोग्य वस्तुओं एवं विश्व, तैजस और प्राज्ञ रूप मे विद्यमान भोक्तृत्व से इतर निरतिशयानन्दात्मक निज रूप का अनुभव करता है। यही जीव

---

१. आत्मा वा इदमित्यादौ परोक्षं ब्रह्म लक्षितम्।
अध्यारोपापवादाभ्यां प्रज्ञानं ब्रह्मलक्षितम्॥

२. अवान्तरेण वाक्येन परोक्ष ब्रह्म धीर्मवेत्।
सर्वत्रैव महावाक्यविचारादपरोक्षधीः॥ (वही, ७।६९)

३. वही, १।४६

तथा ब्रह्म का स्व-रूप है।

ऊंपर चर्चित जीवात्मा एवं परमात्मा के शुद्ध रूप मे पूर्णतः अभेद है। आत्मा का अन्तःकरणात्मक सम्बन्ध तथा ब्रह्म की मायिकता – इन दोनो के वास्तविक रूप अर्थात् सच्चिदानन्दात्मक ऐक्य' को प्रकट नहीं होने देते। इस प्रकार के कल्पित अवरोधों के समाप्त होते ही आत्मा और ब्रह्म की अखण्डैकता स्फुट होने लगती है। अन्तःकरणात्मक बन्धन से पर साक्षी आत्मा मे ब्रह्म-भाव सुलभ हो जाता है–

अन्तःकरण सन्त्यागादवशिष्टे चिदात्मनि।
अहं ब्रह्मेति वाक्येन ब्रह्मत्वं साक्षिणीक्ष्यते।। (पं. द. - ७।८९)

द्वितीय-परिच्छेद

अनिर्वचनीय तत्त्व :

अद्वैत वेदान्त मे शुद्ध तत्त्व को उपाधिवान् बनाकर उससे जगत् की उत्पत्ति सम्पादित कराना अनिर्वचनीय तत्त्व का कार्य है। यह शक्ति तत्त्व है। इसकी प्रमुख संज्ञा माया है। माया शब्द का विनियोग संहिताओं मे भी अनेकशः हुआ है, यथा – 'मायिनो दानवस्य माया अपादयत्..' (ऋ. संहिता – २।११।१०), मायाविनो ममिरे अस्य मायया नृचक्षसः पितरो गर्भमादधुः।' (ऋ. संहिता - ९।८४।३), 'रूपं रूपं मघवा वोभवीति मायाः कृण्वामस्तन्वं परिस्वाम्' (वही, ३।५३।८)। माया सहिताओं मे विभिन्न अर्थों मे प्रयुक्त है। जड़ता, सर्वकर्तृत्वसम्पन्नता, वैलक्षण्य, शक्तित्व-आदि माया के लक्षण हैं।

वेदान्त (उपनिषद्-वाङ्मय) मे भी माया कई अर्थों मे वर्णित है। शक्ति, प्रकृति, अव्यक्त, अविद्या, अज्ञान, जड़ प्रभृति शब्द माया के लिये प्रयुक्त हुये हैं। परमात्मा की सर्जनेच्छा को भी इसी शक्ति का रूप कहा जा सकता है। 'अस्मान् मायी सृज्यते विश्वमेतत्' (श्वे. ४।९), 'मायां तु प्रकृतिं विद्यात् मायिनं तु महेश्वरम्' (वही, ४।१०), 'पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते' (वही, ६।८) तथा 'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां (श्वे. ४।५) – इन उपनिषद् श्रुतियों मे माया प्रकृति, शक्ति एवं परमेश्वर की सृष्टीक्षा के रूप मे चित्रित है।

इन वैदिक ग्रन्थों के अतिरिक्त योग-वाशिष्ठ, माण्डूक्योपनिषद्-भाष्य-कारिका, और पुराणो आदि मे भी माया का चित्रण है। योगवाशिष्ठ इसके मिथ्या-रूप को निम्नानुसार व्यक्त करता है–

मायेयं स्वप्नवद् भ्रान्तिर्मिथ्यारचितचक्रिका।
मनोराज्यमिवालोल सलिलावर्त सुन्दरी॥ (४।४७।४१)
न क्वचित् संस्थितापीह सर्वत्रैवोपलक्ष्यते।
इयं दृश्यभरभ्रान्तिर्नन्वविधेति चोच्यते।

वस्तुतो विद्यते नैषा तापनद्यां यथा पयः॥ (वही, ६।२५२।५)

यत्तु वस्तुत एवास्ति न कदाचन किञ्चन। (वही, ६।२१३।१२)

आचार्य गौऽपाद माया को समम्मोहिका, स्वप्न तथा गन्धर्वनगर के सदृश अस्तित्ववाली, द्वैत का कारण, मिथ्या जननी एवम् असत् रूप मे प्रतिष्ठित करते हैं, यथा–

प्राणादिभिरनन्तैश्च भावैरेतैर्विकल्पितः।
मायैषा तस्य देवस्य यथा सम्मोहितः स्वयम्॥ (मा. उप. का. २।१९)
स्वप्नमाये यथा दृष्टे गन्धर्वनगरं यथा।
तथा विश्वमिदं दृष्टं वेदान्तेषु विचक्षणैः॥ (वही, २।३१)
मायया भिद्यते ह्येतन्नान्यथाऽजं कथञ्चन। (वही, ३।१९)
धर्माय इति जायन्ते जायन्ते ते न तत्त्वतः।
जन्म मायोपमं तेषां साच माया न विद्यते॥ (वही, ४।५८)

इसी तरह इसे स्वरूपभूतया नित्यशक्त्या मायाख्यया युतः।
अतो मायामयं विष्णुं प्रवदन्ति सनातनम्॥[१]

सर्वैर्युक्ता शक्तिभिर्देवता सा परेति यां प्राहुरजस्त्रशक्तिम्।
नित्यानन्दा नित्यरूपा जड़ा चया शाश्वतात्मेति यां वदन्ति॥[२]

इन पङ्क्तियों मे इसे परमेश्वर (विष्णु) की नित्य शक्ति के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त है।

शाङ्कर वेदान्त मे माया और अविद्या की एक रूपता अथवा भिन्नता पर आचार्यों मे वैमत्य है। आचार्य शङ्कर माया तथा अविद्या मे स्पष्ट भेद करते नहीं दिखते।[३] परवर्ती आचार्यों मे वार्तिककार भी शङ्कराचार्य का ही अनुगमन करते हैं। आचार्य विमुक्तात्माने ज्ञान-विरोधी होने के रूप मे इसे अविद्या और अनिर्वचनीयता के रूप मे माया माना है। वाचस्पति मिश्र एवं सर्वज्ञात्ममुनि इन दोनो मे अभेद दर्शन करते हैं।

---

१. द्रष्टव्य, उद्धृत माध्व ब्र.सू.भा. - ३।२।३८

२. वही, २।१।३०

३. 'अव्यक्ता हि सा माया, तत्त्वान्यत्वनिरूपणस्य अशक्तत्वात्।
अविद्या ह्यव्यक्तम्...। (ब्र. सू. शा. भा. १।४।३)

आचार्य विद्यारण्य सच्चिदानन्द परमात्मा के प्रतिबिम्बस्वरूप त्रिगुणात्मिका प्रकृति के दो रूप स्वीकार करते हैं। इनमे से एक माया है और दूसरा अविद्या।[१] माया विशुद्ध सत्त्वगुण के प्रकाश से सम्पृक्त रहा करती है, पर अविद्या रजस् एवं तमस् से आश्लिष्ट सत्व से प्रकाशित रहती है।[२]

इस प्रकार माया और अविद्या विद्यारण्य की दृष्टि मे एक ही (अनिर्वचनीय) शक्ति के दो रूप हैं। परन्तु दोनो का कार्य-क्षेत्र पृथक्-पृथक् है। माया के प्रतिबिम्ब से ब्रह्म का ईश्वरत्व एवम् अविद्या के प्रतिबिम्ब से ब्रह्म का जीवत्व परिनिष्ठित होता हैं।[३] जीवात्मा की अविद्या का निवर्तन विद्या से होता है।[४]

पञ्चदशी की दृष्टि मे माया त्रिरूपा है–

१. असत्तात्मिका

२. जड़ात्मिका एवं

३. दुःखात्मिका।[५]

माया के ये तीनो रूप सत्ता, चैतन्य एवम् आनन्द लक्षणक ब्रह्म से नितान्त भिन्न है। इसीलिये मिथ्यात्मक है। 'नरश्रृंङ्ग' सदृश पदार्थों मे माया की असत्ता स्पष्ट परिलक्षित होती है। इसी प्रकार काष्ठ, पाषाण, मृत्तिका आदि वस्तुयें माया के जड़ रूप के उदाहरण हैं। बृद्धि की घोर तथा मूढ़ वृतियों मे माया के दुःखात्मक रूप का दर्शन किया जा सकता है। पञ्चदशी तापनीय श्रुति को उपजीव्य बनाती हुयी माया के तमोरूप मे आस्था व्यक्त करती है, चूंकि माया प्रकृतितः जड़ात्मिका और मोहरूपा है, अतः इसकी तमोमयता वास्तविकता लिये हुये है। माया की अचिद्रूपता एवं मोहमयता का अनुभव सामान्य व्यक्ति भी कर सकता है।

---

१. चिदानन्दमयब्रह्मप्रतिबिम्बसमन्विता।
तमोरजः सत्वगुणा प्रकृतिर्द्विविद्या चसा॥ (पं. द. - १।१५)

२. सत्त्वशुद्धियविशुद्धिभ्यां मायाविद्ये चते मते। (वही, १।१६)

३. वही, १।१६, १७

४. (क) चित्सुखाचार्य अनादि रूप से विद्यमान अविद्या की विद्या द्वारा निवृत्ति को इन शब्दों मे मान्यता देते हैं – 'अनादिभावरूपत्वे सति ज्ञाननिवर्त्यत्वम्'। (चित्सुखी, पृ. ९७)
(ख) द्रष्टव्य, पं. द. - ६।१०

५. असत्ता जाड्यदुःखे द्वे मायारूपं त्रयं त्विदम्। (वही, १५।२३)

पञ्चदशी मे माया को त्रिविध रूप मे जानने का उपदेश है। ये रूप हैं–

१. तुच्छ

२. अनिर्वचनीय और

३. वास्तविक।[१]

माया की यह रूप-त्रयी श्रुति, तर्क तथा लोक पर आधारित है। श्रुतियों के द्वारा इसका ज्ञान इसे तुच्छ (त्याज्य) स्थित करता है। इस विषय में नृ. उ. ता. (९) का कथन है। 'तुच्छमिदं रूपमस्य।' तर्क से जब हम इसका लक्षण निर्धारित करना चाहते हैं, तो यह न सत् और न आसत् अर्थात् दोनो से विलक्षण सिद्ध होती है यह विलक्षणता अवर्ण्य है। लोक स्तर पर जब हम इसकी विवेचना करते हैं, तो यह घट, पट आदि वस्तुओं के रूप मे वास्तविक प्रतीत होती है। मायाका पूरा का पूरा रूप वैलक्षण्य लिये हुये है। यह जड़ होते हुये भी चैतन्य से आभासित होने के कारण चेतनवत् दिखलाई पड़ती है।[२] यही नहीं, यह समस्त सांसारिक वस्तुओं की नियन्तृ शक्ति है। आनन्दमय से लेकर समस्त ब्रह्माण्ड मे समायी हुयी है।[३] शक्ति के रूप में माया शक्तिमान् ब्रह्म से अलग अस्तित्व नहीं रखती। यह पूर्णतः परमात्माधीन है।[४] शक्तिधारक से भिन्न (स्वतन्यतः) शक्ति का अस्तित्व असिद्ध्य है। तत्त्वशून्यता और केवल कार्य द्वारा अनुमेय

---

१. तुच्छाऽनिर्वचनीया च वास्तवी चेत्यसौ त्रिधा।
ज्ञेया माया त्रिभिर्बोधैः श्रौतयौक्तिकलौकिकैः॥ (पं. द. - ६।१३०)

२. चिच्छायावेशतः शक्तिश्चेतनेव विभाति सा।
तच्छक्त्युपाधिसंयोगात् ब्रह्मेश्वरतां व्रजेत्॥ (प.द, ३।४०)

३. शक्तिरस्त्यैश्वरी काचित्सर्ववस्तुनियामिका।
आनन्दमयमारभ्य गूढा सर्वेषु वस्तुषु॥ (वही, ३।३८)

४. (१)(क) सर्वथाशक्तिमात्रस्य न पृथगगणना क्वचित्।
शक्तिकार्यं तु नैवास्ति द्वितीयं शङ्क्यते कथम्॥ (वही, २।५३)

(ख) अस्वतन्त्रा हि माया स्यादप्रतीतेर्विना चितिम्। (वही, ६।१३२)

(ग) अद्वैतसिद्धिकार अविद्या को चिदधीन इसप्रकार निरूपित करते हैं – 'अज्ञानस्य चिदाश्रयत्वे चिदधीनस्थितिकत्वेऽपि चिति अविद्याश्रितत्वतदधीनस्थितिकत्वयोर भावात्।'
(न्यायामृताद्वैतसिद्धि, प्र.प्र., अविद्यायाः सर्वाश्रयत्वविचारः।)

होने पर भी [१] यह नियामक है। साथ ही स्व-प्रभुता से यह अपना अलग से अस्तित्व भी घोषित करती हुयी दिखती है। माया के ये स्वरूप उसके वैचित्र्य के परिचायक हैं।

शक्ति का अस्तित्व शाक्त के पूर्ण रूप मे समाहित रहता है– आचार्य विद्यारण्य इस बात का निषेध करते हैं। 'पादोऽस्य सर्वाभूतानि त्रिपादस्ति स्वयंप्रभः' इसरूप मे श्रुति को उपजीव्य बनाते हुये शक्ति को परमात्मा के एक भाग मे विद्यमान रहने की मान्यता पञ्चदशी-प्रणेता की अभीष्टि है।[२] शक्तिमान मे शक्ति की यह उपस्थिति लौकिक वस्तुओं मे भी अवलोक्य है। उदाहरणार्थ, घट को उत्पन्न करने की शक्ति पूरी मृतिकामे नहीं दृष्टि-गत होती। यह मात्र आर्द्रमृत्तिका मे ही देखी जाती है।

माया अथवा शक्ति का रूप लक्षणातीत होने के फलस्वरूप अनिर्वचनीय सिद्ध होता है। पञ्चदशी की मान्यता है कि लौकिक अथवा अलौकिक- किसी भी दृष्टि से विचार करने पर माया का स्वरूप अनिर्वचनीय ही सिद्ध होता है। जो वस्तु न सत् है और न असत् अर्थात् उभयात्मक जिसका अस्तित्व प्रतीत हो, वह अनिर्वचनीय है। माया अथवा शक्ति का ऐसा ही स्व-रूप प्रतिष्ठेय है। चूंकि, माया का अस्तित्व (कार्यादि रूपों से) भासित होता है, अतः इसे असत् नहीं कहा जा सकता। परन्तु तत्त्वतः यह बाधित होने के कारण सत् भी नहीं मानी जा सकती।[३] 'नेहनानास्ति किञ्चन' (बृह.-४।४।१९) प्रभृति श्रुतियाँ इसके सत्तात्व का स्पष्ट निषेध करती हैं। इस प्रकार सत् एवम् असत्-उभयप्रकारक भासित होने के परिणाम-स्वरूप इसकी स्वता न तो सत्य सिद्ध होती है और न असत्य ही। स्वरूप की यह विलक्षणता ही इसे अनिर्वचनीय बनाती है। लोक मे जिस प्रकार से

---

१. निस्तत्त्वाकार्यगम्याऽस्य शक्तिर्मायाग्निशक्तिवत्।
न हि शक्तिः क्वचित् कैश्चिद्‌बुध्यते कार्यतः पुरा॥ (पं. द. - २।४७)

२. पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्ति स्वयंप्रभः।
इत्येकदेशवृत्तित्वं मायाया वदति श्रुतिः॥ (पं. द.- २।५५)
इस बात का समर्थन स्मृति (गीता) भी करती –
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्।
इति कृष्णोऽर्जुनायाह जगतस्त्वेकदेशताम्॥ (वही, २।५६)

३. नासदासीद्‌विभातत्त्वान्नो सदासीच्च बाधनात्।
विद्यादृष्ट्या श्रुतं तुच्छं तस्य नित्यनिवृत्तितः॥ (वही, ६।१२९)

ऐन्द्रजालिक शक्ति स्वरूपतः अवर्ण्य होने पर भी (अर्थात् इसका रूप सदसत् परक होने के बावजूद) स्पष्ट रूप मे (कार्य रूप मे) भासित दिखती है, तद्वत् माया भी अपने विकारों द्वारा स्पष्टतः दिखलाई पड़ती है।[1]

माया एवं तदुत्पन्न विश्व को सत्य मानने वाले नय्यायिकों आदि के द्वारा माया के विषय मे रखे गये प्रश्नो को नगण्य स्वीकार करती हुयी पञ्चदशी का अभिधान है कि, इसके विषय मे तर्क-वितर्क अथवा प्रश्न निक्षेपण व्यर्थ है। इसका कारण यह है कि, यह स्वंय मे एक प्रश्न है। मायाके स्व-रूप को जानने के वजाय इसको दूर करने का उपाय ढूंढ़ना उचित है।[2] इतना ही नहीं, पञ्चदशी का तो यह भी मानना है कि, एक नहीं प्रत्युत जगत् के समस्त विद्वान् (मिलकर) यदि माया तथा इससे आविर्भूतप्रपञ्च के स्व-रूप का विवेचन करना चाहें, तो भी नहीं कर सकते।[3]

माया के अविर्वचनीयत्व के कारण मायाजात समस्त विकार भी अचिन्त्य लक्षणक सिद्ध होते हैं। मानव का शरीर ही लिजिये, अगर इसकी उत्पत्ति का कारण शुक्र-कीट माना जाता है, तो प्रश्न उठता है कि, इससे माता के गर्भ मे ही ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों आदि की उत्पत्ति एवम् इसमे चैतन्य का आधान—ये सब कैसे सम्भव हो जाते हैं। इसी प्रकार जड़ पदार्थों को देखें, लघु बीज से विशाल वृक्ष की उत्पत्ति हो जाती

---

१. (क) न निरूपयितुं शक्या विस्पष्टं भासते च या।
सा मायेतीन्द्रजालादौ लोकाः सम्प्रतिपेदिरे॥ (वही, ६।१४१)

(ख) पददीपिकाकार माया की सदसदतीतता का उल्लेख इस तरह करते हैं —
'मायास्वरूपं सत्त्वासत्त्वाभ्यां निर्वचनानर्हमित्यभिप्रायः।'
द्रष्टव्य पं. द. २।४९ की पददीपिका।

(ग) आचार्य शङ्कर 'विवेकचूड़ामणि' (१११) मे माया की अनिर्वचनीयता अधोरूप मे वर्णित करते हैं —
सन्नाप्यसन्नाप्युभयात्मिका नो भिन्नाप्यभिन्नाप्युभयात्मिका नो।
साङ्गाप्यनङ्गाप्युभयात्मिका नो महाद् भुतानिर्वचनीयरूपा॥

२. विस्मयैकशरीरा या मायायाश्चोधरूपतः।
अन्वेष्यः परिहारोऽस्या बुद्धिमद्भिः प्रयत्नतः॥ (पं. दं. ६।१३९)

३. निरूपयितुमारब्धे निखिलैरपि पण्डितैः।
अज्ञानं पुरतस्तेषां माति कक्षासु कासुचित्॥ (वही, ६।१४३)

है। एक छोटे से बीज मे विशाल वृक्ष को उत्पन्न करने का सामर्थ्य कैसे और किस रूप मे रहता है, इसको बुद्धि तथा युक्ति द्वारा अनिरूप्य ही कहा जा सकता है। मायिक वस्तुओं मे इस प्रकार की स्वरूपावाच्यशक्यता माया की अनिर्वचनीयता की ही परिणति है।

नय्यायिकों के जगत्- स्वरूप- विवेचन- विषयक- अहङ्कार का वैयर्थ्य सिद्ध करते हुये शाङ्कर आचार्यों ने तर्क के स्थान पर वैश्व प्रपञ्च को अचिन्त्यरचनारूप अङ्गीकार करने की बात कही है।[1] जागतिक पदार्थों के अचिन्त्यरूपत्व का हेतु (बीज) अचिन्त्यरचनालक्षणी माया है।[2]

---

१. अचिन्त्याः खलुयेभावा न तांस्तर्केषु योजयेत्।
अचिन्त्यरचनारूपं मनसापि जगत्खलु॥ (प. द., ६।१५०)

२. अचिन्त्यरचनाशक्तिबीजं मायेति निश्चिनु।
मायाबीजं तदेवैकं सुषुप्तावनुभूयते॥ (वही, ६।१५१)

विशेष :– पञ्चदशी द्वारा संस्थापित वैष्टप पदार्थों का अचिन्त्यत्व, क्या वैज्ञानिक निकष पर भी युक्ति-सङ्गत प्रतीत होता है? प्रसङ्गतः इस पर भी दृष्टि-पात कर लेना समीचीन होगा। वैज्ञानिक दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि सांसारिक वस्तुओं को उत्पत्ति देने वाले कारणो (बीजों) मे इनको उत्पन्न करने का सामर्थ्य विद्यमान रहता है। उदाहरणार्थ, वट का विशाल वृक्ष है, इसके बीज मे वट को जन्म देने की शक्ति रहा करती है। इस बीज को पृथिवी में वपित करने पर अनुकूल जल, मिट्टी आदि के सहयोग से विशाल वट वृक्ष की उत्पत्ति होती है। प्रश्न उठता है कि इसमे अचिन्त्यता की कौन सी बात है। पर पञ्चदशी अचिन्त्य कहकर जिस रहस्य का सङ्केत देती है, वह अपने मे अक्षुण्ण है। वैज्ञानिक मनीषा के धरातल पर भी इसकी प्रासङ्गिकता बनी हुयी है। एक लघु बीज मे पदार्थ विशेष को जन्म देने का सामर्थ्य, जो अप्रत्यक्ष है, साथ ही जो मिट्टी, जल आदि की अपेक्षा से ही एक (विशाल) वृक्ष के रूप मे अभिव्यक्ति ले पाता है। जिज्ञासा उठती है, वृक्ष को व्यक्ति देने मे बीज के अतिरिक्त जल, मृतिका आदि की आवश्यकता क्यों? यदि यह कहाजाय कि वृक्ष का उपादान (अर्थात् वृक्ष को उत्पन्न करने का वास्तविक या मुख्य सामर्थ्य रखनेवाला पदार्थ) बीज ही है, मिट्टी जल आदि इसमे (अर्थात् बीज से वृक्ष का रूप धारण करने मे) सहयोग मात्र करते हैं। पुनः जिज्ञासा को अवकाश मिलताहै कि, उपादान बीज के साथ वृक्षोत्पत्ति मे जलादि की अपेक्षा क्यों? अकेले बीज ही वृक्ष का जन्मदाता क्यों नहीं बन पाता? अगर जलादि के सहयोग से ही बीज द्वारा वृक्ष-रूप की आप्ति सम्भव हो पाती है, इसका मतलब कि जलादि का भी वृक्षोत्पादन में किसी न किसी रूप मे सामर्थ्य अङ्गीकार्य है। ऐसी स्थिति मे वृक्षाभिव्यक्ति मे बीज, जल, मृत्तिका तथा वातावरण का अंश कितना और किस-किस रूप मे है, यह निर्णीत किया जाना अत्यन्त दुष्कर है। अतः स्वरूप-निर्णयन की दृष्टि से जागतिक वस्तुओं को अनिर्वचनीय प्रकृतिक माना जाना अनुपयुक्त नहीं लगता। आचार्य विद्यारण्य लघु बीज मे विशाल वृक्ष के रूप मे परिणत होने वाले सामर्थ्य को अचिन्त्यलक्षणक ही स्वीकार करते हैं। इनकी सम्मति मे यौक्तिक स्तर पर इसकी संसिद्धि असम्भव है।

जिस प्रकार जल का द्रवत्व, अग्नि का औष्ण्य तथा प्रस्तर का काठिन्य स्वभाव है, उसी प्रकार माया का स्वभाव है–दुर्घटता अर्थात् वैचित्र्योत्पत्ति।[१] माया अपनी इस प्रकृति के कारण कुछ भी चमत्कार उत्पन्न कर सकती है। माया की अचिन्त्यरूपता के ही कारण सांसारिक वस्तुओं की इनके कारणो से भिन्नाभिन्नता दृष्टि-गत होती है। उदाहरण के रूप मे घट मृत्तिका से पृथक नहीं माना जा सकता, क्योंकि मिट्टी के अभाव मे हमे घट का दर्शन नहीं हो सकता। साथ ही घट को मृत्तिका से अभिन्न भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि उत्पत्ति के पूर्व वह घटीय पिण्ड के रूप मे नहीं देखा जा सकता।[२] घट का मिट्टी से इस प्रकार का भेदाभेदत्व माया की ही भांति इसके अस्तित्व की अनिर्वचनीयता का द्योतक है। घट हमे जिस स्थूल एवं वर्तुलाकार रूप मे दृष्टि-गोचर होता है, शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध इन पांच गुणों से युक्त मृतिका इसका कारण (उपादान) होती है। पञ्चदशीकार कारण रूप मिट्टी तथा कार्यरूप घट को उत्पन्न करने वाली शक्ति (घट-शक्ति) को – इन दोनो से अलग स्वीकार करते हैं। यह शक्ति घट-कार्य के अविर्भूत होने के पूर्व मृत्तिका मे अदृश्य रूप मे विद्यमान रहती है। कुम्भकार के दण्ड, चक्रादि उपकरणो के सहयोग से सम्पादित कुम्भाकार के कार्य-व्यापार द्वारा इसकी अभिव्यक्ति घट (कार्य) रूप मे होती है।[३] इसमें न तो कारणरूप मृत्तिका के शब्दादि धर्म दिखलाई पड़ते हैं और न ही पृथुत्वादि घटीय धर्म के ही दर्शन होते हैं। यह घट-सृष्टि के प्राक् कारण-मृत्तिका मे छिपी रहती है। उत्पत्ति प्रक्रिया पूर्ण होने के अनन्तर घट-कार्य मे भी इसका दर्शन होता है। शक्ति का यह रूप अग्नि मे प्राप्त उसकी दाहकता मे अवलोक्य है। अग्नि के अङ्गारों मे अग्नि को कारण रूप मे एवम् इसके स्फोट मे कार्य रूप मे देखा जा सकता है।[४]

---

१. द्रवत्वमुदके वह्नावौष्ण्यं काठिन्यमश्मनि।
मायाया दुर्घटत्वं च स्वतः सिध्यति नान्यतः॥ (पं. द. - ६।१३५)

२. स घटो न मृदो भिन्नो वियोगे सत्यनीक्षणात्।
नाप्यभिन्नः पुरा पिण्डदशायामनवेक्षणात्॥ (प. द, १३।३५)

३. कार्योत्पत्तेः पुरा शक्तिर्निगूढ़ा मृद्यवस्थिता।
कुलालादिसहायेन विकाराकारतां व्रजेत्॥ (वही, १३।३२)

४. कार्यादाश्रयतश्चैषा भवेच्छक्तिर्विलक्षणा।
स्फोटाङ्गारौ दृश्यमानौ शक्तिस्तत्रानुमीयते॥ (वही, १३।२९)

उपर्युक्त शक्ति मे कारण अथवा कार्य के भी (पूर्ण) लक्षण परिलक्षित न होने का कारण, इसके रूप मे समाहित वैलक्षण्य है। इस प्रकार स्पष्ट-स्वरूपाभाववश माया की अनर्विचनीयता ही निर्दोष सिद्धान्त है।

अद्वैताचार्य ऐन्द्रजालिक की शक्ति की भांति माया तथा इससे निर्मित जगत् को संस्थिर करते हैं। जादूगर की शक्ति मन्त्रादि-प्रयोग के पूर्व प्रयोक्ता मे अप्रकट रूप मे विद्यमान रहती है। मन्त्रादि के प्रयोग-द्वारा जादूगर इस शक्ति को गन्धर्व नगर इत्यादि रूप मे अभिव्यक्त कर देता है। जादूगर की शक्ति का व्यक्त तथा अव्यक्त उभय स्थलों मे अस्तित्व, इसकी अनिर्वचनीयता का निरूपक है। माया भी कार्याभिव्यक्ति के पूर्व मायी मे अव्यक्त रूप मे रहा करती है। कार्य के व्यक्त होते ही वह कार्य-द्वार से अपने रूप का अभिव्यञ्जन करती है।

आचार्य विद्यारण्य के प्राक्कालिक, समकालिक एवम् उत्तरवर्ती अद्वैताचार्यों ने भी माया तथा अविद्या के अनिर्वाच्यत्व की प्रचुर समीक्षा की है। आचार्यों ने माया तथा अविद्या को भावरूप अनिर्वचनीय माना है। मधुसूदन सरस्वती ने 'सिद्धान्तविन्दु' में अविद्या की सत्, असत् और सदसत् – तीनो से परता निरूपित करते हुये इसे अनिर्वचनीय बतलाया है। इसी बात का पोषण चित्सुखाचार्य भी करते हैं –

प्रत्येकं सदसत्त्वाभ्यां विचारपद्वीं न यत्।
गाहते तदनिर्वाच्यमाहुर्वेदान्तवेदिनः॥ (त. प्र. - १।१३)

विमुक्तात्मा ने रज्जु मे होने वाले सर्प के अज्ञान को सर्प के समान ज्ञान का विषय कहा है और इसे अनिर्वचनीयसत्ताक बतलाया है। प्रकटार्थविवरणकार भ्रमात्मक अज्ञान को सत्, असत् तथा सदसत् – सब प्रकार से सन्दिग्धात्मक निरूप्य अङ्गीकार करके, इसे अनिर्वचनीय प्रतिपादित करते हैं।[1]

शाङ्कर के पश्चात्वर्ती वैष्णववेदान्तों ने भी शक्ति को अचिन्त्य स्वरूपा माना है। गौड़ीय वेदान्त भगवान् की इस शक्ति की अचिन्त्यता (अनिर्वचनीयता) पर अधिक बल देता है। वस्तुतः इस मत की दार्शनिकता का उपजीव्य ही परमात्मा की अविचिन्त्य शक्ति है। चूंकि, शक्ति एवं शक्ति धारक के बीच भिन्नता और अभिन्नता दोनो की संसिद्धि असम्भव है, अतः चैतन्यवेदान्त

---

१. 'सर्वथा वास्तवाकारेण निरूपणा सहिष्णुता चानिर्वाच्यता।' (प्र. वि. -१।१।१)

इसे अचिन्त्य मानता है।[१] अद्वैतवेदान्तियों के सदादि से पर होने के कारण शक्ति (माया) की अनिर्वचनीयता एवं चैतन्य वेदान्तादि की शक्ति तथा परमात्मा के सम्बन्ध एवं शक्ति पदार्थों के मध्य विद्यमान अनिर्वचनीयता (अचिन्त्यता) मे भिन्नता है। अद्वैतवेदान्त शक्ति अथवा माया को इस अनिर्वचनीयता के द्वारा मिथ्या प्रतिष्ठित करता है। परन्तु वैष्णव-वेदान्तों को माया का मिथ्यात्व अभीष्ट नहीं। वे इसको परमात्मा की वास्तविक शक्ति स्वीकार करते हुये, इसे अचिन्त्य सामर्थ्यशीला अङ्गीकार करते हैं। परमेश्वर अपनी इसी शक्ति के कारण जगत् का निर्माणादि कार्य करते हुये भी इनसे अप्रभावित रहा करता है। यह परमात्मा तथा जागतिक प्रपञ्च से अचिन्त्य (अवर्ण्यभिन्नाभिन्नात्मक) रूप से सम्बद्ध रहा करती है। संसार के समस्त पदार्थ भी इसी के कारण एक-दूसरे से अचिन्त्यरूप मे ही प्रबद्ध दिखलाई पड़ते हैं।

महाभारत भीष्मपर्व (५।१२) मे अचिन्त्य भावों को तर्क के द्वारा न जानने की बात कही जाती है –

अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्।
प्रकृतिभ्यः परं यच्च तदचिन्त्यस्य लक्षणम्॥

महाभारत का यह पद्य अंशतः पञ्चदशी ६।१५० मे भी उद्धृत है।

परमार्थतः तत्त्व रहित होकर भी माया मायी परमात्मा से अभिन्न रहकर आकाशादि पदार्थों की उत्पत्ति करने मे समर्थ बनती है। यही नहीं, वह अपने दुर्घट सामर्थ्य से कूटस्थ चित् को विना विकृत किये ही उस पर सांसारिक पदार्थों को प्रकल्पित कर देती है।[२] माया के दुर्घटात्मक रूप का परिचय जब तक नहीं होता, तब तक लोग इसके द्वारा सम्पादित कार्यों से विस्मय का अनुभव करते हैं। पर इसके स्वरूप का ज्ञान हो जाने पर विस्मय दूर हो जाता है।[३]

---

१. 'तस्मात् स्वरूपादभिन्नत्वेन चिन्तयितुमशक्यत्वात् भेदः, भिन्नत्वेन चिन्तयितुमशक्यत्वाद भेदश्चप्रतीयत इति शक्तिशक्तिमतोर्मेदाभेदावेवाङ्गीकृतौ, तौ च अचिन्त्यौ।' अवलोक्य, सर्वसंवादिनी की श्रीभगवत्सन्दर्भ-व्याख्या।

२. कूटस्थमनुपद्रुत्य करोति जगदादिकम्।
दुर्घटैकविधायिन्यां मायायां का चमत्कृतिः॥ (पं. दं. – ६।१३४)

३. वही, ६।१३६

माया शक्ति की शक्तिमान् परमात्मासे सत्यता एवं शशविषाणवत् – असत्यता दोनो नहीं परिनिष्ठित होते। अतएव शक्ति की शक्ति-धर्ता से भिन्नता और अभिन्नता– दोनो ही नहीं सिद्ध हो पाते। अग्नि से उसकी दाहकता (शक्ति) को न तो हम अग्नि से पृथक् और न ही अपृथक् प्रतिष्ठित कर सकते हैं। यह चन्द्रकान्ता मणि प्रभृति प्रतिबन्धक पदार्थों के योग मे अवरूद्ध रहा करती है। इसके हटते ही पुनः उद्दीप्त हो जाती है। इससे यह प्रमाणित होताहै कि, यह शक्ति अग्नि से पार्थक्य लिये हुये है। आनुकूलिक स्थिति मे यह अग्नि मे प्रकट रहा करती है। इसी प्रकार पृथकता के अनन्तर भी दाहकता अग्नि से (नितान्त) अलग भी नहीं मानी जा सकती, क्योंकि शक्तिमान् के अस्तित्व मे ही शक्ति का दर्शन होने से, अग्नि से भिन्न इसका अस्तित्व ठहरता नहीं। अग्नि और उसमे व्याप्त उसकी शक्ति की दाहकता के समान अनिर्वचनीयरूपारव्य माया परमात्मा से भिन्नाभिन्नात्मक रूप मे (ही) स्वीकार्य है। इसकी सत्ता आकाश कुसुम प्रभृति नितान्त असत् पदार्थों की भांति असत् नहीं है। इसकी इस असत्यता का खण्डन इससे अविर्भूत सांसारिक पदार्थों द्वारा स्वयं हो जाता है। परन्तु उत्पन्न वैश्व पदार्थों के पूर्व शक्ति का स्व-रूप क्या रहता है, यह अबोध्य ही है। वह्नि से भिन्न जिस प्रकार इसकी ज्वलन शक्ति की अस्तित्वात्मक प्रतिष्ठा अशक्य है, उसी प्रकार सत् परमात्मा से पृथक् उसकी माया शक्ति की सत्ता असिद्धय है।[१]

---

१. न सद वस्तु सतः शक्तिर्नहि वह्नेः स्वशक्तिता।
सद् विलक्षणताया तु शक्तेः किं तत्त्वमुच्यताम्॥ (वही, २।४८)

तृतीय-परिच्छेद

सृष्टि : शाङ्कर मत मे सृष्टि को शशश्रृङ्ग, इन्द्रजाल, गन्धर्वनगर, सीपी मे रजत अथवा रज्जु मे अहि-भ्रम से लेकर अनिर्वचनीय माया की विकृति मानते हुये, असत् प्रतिष्ठा प्राप्त है। यहां सृष्टि के विषय मे तीन दृष्टियां प्रकाश मे आयीं। इनको अजातवाद, दृष्टि-सृष्टिवाद एवं सृष्टि-दृष्टि-वाद के रूप मे जाना जाता है।

अजातवाद के अनुसार जगत् न कभी जात हुआ और न कभी जात होगा। जगत् का (वस्तुतः) अस्तित्व नहीं है। मात्र 'अज' तत्त्व ही अस्तित्ववान् है। कतिपय औपनिषद श्रुतियों को आधार बनाकर इस स्थापना को प्रामुख्येण योग-वाशिष्ठ और 'माण्डूक्योपनिषद्कारिका' मे महत्त्व मिला है। इन दोनो ग्रन्थों मे जगत् की अनुत्पत्ति अर्थात् अजातता को ही उत्तम सत्य बतलाया गया है—

एतत् तदुत्तमं सत्यं यत्र किञ्चन्न जायते। (यो. वा. - ६।२।१४६)

योगवाशिष्ठ मे मन को जगत्कर्ता ब्रह्मा के रूप मे निरूपित करके, जगत् और जीव को उसकी कल्पना का परिणाम कहा गया है —

मनोनाम्नो मनुष्यरूप विरिञ्च्याकारधारिणः।
मनोराज्यं जगदिति सत्यरूपमिव स्थितम्॥ (३।३।३३)

निम्न पङ्क्ति मे जगत् की उत्पत्ति तथा इसके अस्तित्व का निरसन करते हुये कहा जाता है—

जगन्नाम्ना न चोत्पन्नं न चास्ति न दृश्यते। (यो. वा. ३।७।४०)

माण्डूक्यकारिका अजाति की सत्यता तथा अमर्त्य सत्य से मर्त्य विश्व की औत्पत्तिक असम्भाव्यता का चित्रण अधः प्रकार से करती है—

न कश्चिज्जायते जीवः सम्भवोऽस्य न विद्यते।
एतत् तदुत्तमं सत्यं यत्र किञ्चिन्न जायते॥ (मा. का. ४।७१)
अजातस्यैव भावस्य जातमिच्छन्ति वादिनः।
अजातो ह्यमृतो भावो मर्त्यतां कथमेष्यति॥ (वही, ३।२०)
न भवत्यमृतं मर्त्यं न मर्त्यममृतं तथा।

प्रकृतेरन्यथाभावो न कथञ्चित् भविष्यति॥ (वही, ३।२१)

योगवाशिष्ठकार ब्रह्म को सतत-अविकृत एवम् अद्वितीय स्वीकार करते हुये इस बात को स्पष्ट करते हैं कि, ब्रह्म से न किसी वस्तु की उत्पत्ति हो सकती है और न किसी भी वस्तु का उसमे विलय सम्भव है। ब्रह्म किसी का भी न तो उपादान कारण बन सकता है एवं न ही निमित्त।[१] आचार्य गौड़पाद उत्पत्ति-विषयक वाद-विवाद करने वालों को बार-बार स्मरण दिलाते हुये दिखते हैं कि 'ब्रह्म' (अमर तत्त्व) से किसी प्रकार के भी मर्त्यधर्मी पदार्थ के अविर्भाव की बात, पूर्ण असम्भव है।[२] योगवाशिष्ठ का अभिधान है कि निराकार तथा विर्विकार तत्त्व से साकार एवं विकारी वस्तुओं की उत्पत्ति न तो कभी सुनी गयी है और न कहीं देखी गयी है–

अविकारादनाकाराद्विकार्याकृतिभासुरम्।
उदेतीति किलास्माभिर्नैव दृष्टं न च श्रुतम्॥ (६।१५९।३६)

इस तरह अजातवादियों की दृष्टि मे जगत् का उत्पादक कोई दृष्टि-गत होता नहीं, अतः इसे अनुत्पन्न माना जाना ही उपयुक्त सिद्धान्त है। अद्वैताचार्यों ने वन्ध्यापुत्र, आकाशकुसुम, इन्द्रजाल, गन्धर्वनगर, मृगमरीचिका, अलातचक्र प्रभृति दृष्टान्तों के माध्यम से ब्रह्म की सत्यता तथा प्रतीत होने वाले जगत् का मिथ्यात्व प्रतिष्ठित किया है। यथा तरङ्ग जल से एवं कुण्डलादि (आभूषण) स्वर्ण से भिन्न (जनित) वस्तु नहीं है, तथैव विश्व भी ब्रह्मातिरिक्त कुछ नहीं है। अजातवाद के अनुसार जगत् की सत्ता स्थिर होती नहीं, जैसा कि योगवाशिष्ठकार का उद्गीरण है–

वन्ध्यापुत्रो व्योमवने यथा न स्वतः कदाचन।
जगदाद्यखिलं दृश्यं तथा नास्ति कदाचन॥ (३।११।४)

जाग्रत मे प्रतीत होने वाले प्रापञ्चिक पदार्थों की भी वितथता स्वाप्निक पदार्थों की ही भांति सिद्ध होती है। जैसे स्वाप्न वस्तुयें स्वप्न-द्रष्टा के द्वारा देखे जाने परभी जाग्रत मे अस्तित्व शून्य दिखलाई पड़ती हैं, तद्वत् जाग्रतकालिक वस्तुयें भी जाग्रत काल मे द्रष्टा के द्वारा देखे जाने पर

---

१. स्वसत्तायां स्थितं ब्रह्म न बीजं न च कारणम्॥ (यो. वा. - ६।९७।१)

२. द्रष्टव्य मा. का. - ४।६

भी (क्षरणशील होने के फलस्वरूप) अवितथ नहीं अङ्गीकृत हो सकतीं।[१]

'दृष्टि-सृष्टि' की दृष्टि मे वैष्टप-सत्ता 'अजात' रूप मे प्रतिष्ठेय नहीं है, प्रत्युत यह प्रतिभासिक रूप मे अङ्गीकार्य है। दृष्टि अविद्या है। इसके द्वारा सृष्टि-कार्य सम्पादित होता है। इसके अनुसार जब तक दृष्टि का अस्तित्व है, तभी तक सृष्टि (जगत्) भी अस्तित्ववती रहती है। इसके अनुसार व्यक्ति मे जब तक अविद्या का प्रभाव रहता है, तभी तक उसे सार्ष्टिक पदार्थों मे सच्चाई दृष्टि-गत होती है। अविद्या के आवरण के अपनीत होते ही, सृष्ट-पदार्थों का मिथ्यात्व दिखने लगता है।

दृष्टि-सृष्टि के अनुसार भी जगत् स्वप्न कालिक वस्तुओं की तरह (ही) असत् है। स्वप्न मे वस्तुओं के असद्भाव मे भी वस्तु-दर्शन होता है। पर यह मिथ्यात्मक रहा करता है। जाग्रत-अवस्था मे सत् दृष्टि-गोचर होनेवाले पदार्थ स्वप्न की भांति, तत्त्वज्ञों को असत् रूप मे ही दृष्टि-गत होते हैं।[२]

माण्डूक्योपनिषद्कारिकाकार सार्ष्टिक प्रपञ्च के वैतथ्य हेतु एक महत्त्वपूर्ण युक्ति प्रस्तुत करते हैं – 'सृष्टि-प्रपञ्च अपने उद्भव के पूर्व नहीं था। अनागत मे नष्ट होने के कारण यह नहीं रहेगा। अतः जिसकी सत्ता आदि और अन्त तक नहीं रहती, उसे मध्य मे कैसे स्वीकार किया जा सकता है।[३]

शाङ्कर परम्परा जगत् के अस्तित्वात्मक वैलक्षण्य का उल्लेख करती हुयी, इसको सीपी मे रजत् और रज्जु मे अहि-भ्रम की तरह भ्रान्ति-रूप मानती है। वैश्व प्रपञ्च अन्तहीन होकर भी वर्तमान मे भासित होता है। इस प्रकार इसका भास रस्सी मे काकोदर भ्रम अथवा गन्धर्व नगर सदृश है। इस तरह जगत् की सत्ता मात्र प्रतिभासात्मक है।[४] आचार्य शङ्कर[५] से

---

१. यथा स्वप्नेऽवनिर्नास्ति स्वानुभूताऽपि क्वचित्।
तथेयं दृश्यता नास्ति स्वानु भूताप्यसन्मयी॥ (यो. वा. – ६।२।१६१,१६२)

२. स्वप्नमाये यथा दृष्टे गन्धर्वनगरं यथा।
तथा विश्वमिदं दृष्टं वेदान्तेषु विचक्षणैः॥ (मा. का. –२।३१)

३. आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा। (वही, ४।४५)

४. प्रतिभाससमुत्थानं प्रतिभासपरिक्षयम्।
यथा गन्धर्वनगरं तथा संसृतिविभ्रमः॥ (यो. वा. ६।३३।४५)

५. माया मायाकार्यं सर्वं महदादिदेहपर्यन्तम्।
असदिदमनात्मकं त्वं विद्धि मरूमरीचिकाकल्पम्॥ (वि. चू. १२५)

लेकर आचार्य सुरेश्वर, मधुसूदन सरस्वती, सर्वज्ञात्ममुनि आदि आचार्यों ने स्वप्न, मानसी कल्पना तथा शुक्ति मे रजत भ्रम आदि को उदाहृत करते हुये, जागतिक वस्तुओं को प्रतिभासात्मक एवम् असत् सत्तात्मक निरूपित किया है।

सृष्टि-दृष्टिवाद सृष्टि का व्यावहारिक अस्तित्व अङ्गीकार करता है। यहां जगत् मायी ईश्वर की रचना है। श्रुतियो मे उक्त ईश्वर के 'एक से अनेक होने की इच्छा'[१] को सृष्टि-दृष्टि मे अर्थवत्ता प्राप्त है। इसके अनुसार सांसारिक प्रपञ्च के प्रति ब्रह्म की उभयकारणता (उपादान एवं निमित्त-हेतुत्व) स्वीकार्य है।[२] एक संशीति उत्पन्न होती है कि, अगर ब्रह्म की उपादानता वैष्टप प्रपञ्च के प्रति मानी जाती है, तो इसे परिणाम-युक्त मानना ही होगा। शाङ्कर आचार्यों ने युक्तियों तथा उदाहरणों द्वारा इस संशय का निराकरण किया है। आचार्य शङ्कर जगत् का उपादानत्व एवं निमित्तत्व ब्रह्म मे उसी तरह समीचीन ठहराते हैं, जैसे मकड़ी मे जाल के प्रति उपादान और निमित्त-दोनो की कारणता देखी जाती है। मकड़ी अपने चिदंश से जाल का निमित्त एवं शरीर से उपादान कारण बनती है। मकड़ी की ही तरह (सोपाधिक) ब्रह्म अपने चेतनांश से जगत् का निमित्त तथा मायात्मक उपाधि द्वारा उपादान बनता है। वार्तिककार सुरेश्वर 'वृहदारण्यक-भाष्य-वार्तिक' मे विश्व की वास्तविक उपादानता अविद्या अथवा अज्ञान मे ही संस्थिर करते हैं –

'अस्य द्वैतेन्द्रजालस्य यदुपादानकारणम्।
अज्ञानं तदुपाश्रित्य ब्रह्मकारणमुच्यते॥ (१।४।३७१)

---

१. (क) 'सोऽकामयत बहुस्यां प्रजायेयेति।
सर्वमसृजत यदिदं किञ्च।' (तैति. २।६)
(ख) 'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति।' (छा. - ६।२।३)

२. आचार्य शङ्कर स्व्यं ब्रह्मसूत्र-भाष्य के प्रथमाध्याय के प्रथम-पाद मे ही (१।१।५ से ११ पर्यन्त) विश्व के प्रति कारणता ब्रह्म की ही प्रतिपादित की है, यथा–
'तस्मात् सर्वज्ञं ब्रह्म जगतः कारणम्, नाचेतनं प्रधानमन्यद् वेति सिद्धम्।' (शां.भा. १।१।११)
इसी तरह 'यथा तु तर्केणापि ब्रह्मण एव कारणत्वं निर्वोढुं शक्यते, न प्रधानादीनां' (वही, १।१।५)

ब्रह्म को परिणमन-दोष से दूर रखने के लिये (ही) विवर्त-सिद्धान्त को प्रतिष्ठा दी जाती है।[१]

परमात्मा की प्रापञ्चिक कारणता इसकी अनिर्वचनीय माया-शक्ति के कारण अङ्गीकार्य है। ब्रह्म की यह कारणता माया के साथ तीन रूपों मे अवलोक्य है –

१. मायाविशिष्ट ब्रह्म की कारणता या

२. माया शक्ति से युक्त ब्रह्म की कारणता अथवा

३. विश्वसर्जक माया के अधिष्ठान रूप मे ब्रह्म की कारणता।

इस प्रकार मायोपहित ब्रह्म अथवा ईश्वर अपने प्रभुत्व से पञ्चीकरण प्रक्रिया के द्वार से समस्त वैश्व पदार्थों एवं प्राणियों का उद्भाव करता है।

उपर्युक्त दृष्टि-त्रय (वाद-त्रय) के विषय मे हमे यह ध्यान मे रखना चाहिये कि, इन्हें आचार्य विशेषों की पृथक-पृथक् दृष्टि नहीं माना जानी चाहिये। यह बात अलग है कि, किसी आचार्य का बल किसी पर अधिक हो। पर यह दृष्टि-समवाय समूचे शाङ्कर वेदान्त का विवेच्य है। शाङ्कर भाष्यों मे ही हर दृष्टि के अनुकूल विवेचन मिल जाता है। पञ्चदशी मे भी हम इन तीनो वादों तथा इनके प्रथित उदाहरणो का दर्शन कर सकते हैं।

विवेक-प्रकरण मे विवेचित सृष्टि-प्रक्रिया, जो 'सृष्टि-दृष्टि' के अन्तर्गत विचार्य है, वह निम्नानुसार है। माया मे प्रतिबिम्बित ब्रह्म (अर्थात् ईश्वर) अपनी एक से अनेक अथवा बहुत होने की कामना से सृष्टि-कार्य प्रारम्भ करता है। विभिन्न श्रुतियों पर संश्रित ईश्वर-सङ्कल्पज सृष्टि का चित्रण पञ्चदशी 'द्वैत-विवेक-प्रकरण' मे अधः प्रकार से करती है–

---

१. (अ) विवर्त के अनुसार मात्र कारण मे सत्यता रहती है, कार्य उस पर कल्पित रहा करता है–

मृत्कार्य भूतोऽपि मृदो न भिन्नः, कुम्भोऽस्ति सर्वत्र तु मृत्स्वरूपात्।
न कुम्भरूपं पृथगस्ति कुम्भः, कुतो मृषा कल्पितनाममात्रः॥ (वि. चू. - २३०)

(ब) 'वेदान्तसार' मे विवर्त निम्नतः लक्षित है –

सतत्त्वतोऽन्यथा प्रथा विकार इत्युदीरितः।
अतत्त्वतोऽन्यथा प्रथा विवर्त इत्युदाहृतः॥ (अपवाद)

बहुस्यामहमेवातः प्रजायेयेति कामतः।
तपस्तप्त्वाऽनुसृजत् सर्वं जगदित्याह तित्तिरिः॥ (पं. दं. - ४।५)
इदमग्रे सदेवासीद् बहुत्वाय तदैक्षत।
तेजोऽबन्नाण्ऽजादीनि ससर्जेति च सामगाः॥ (वही, ४।६)
विस्फुल्लिङ्गा तथा बहेर्जायन्तेऽक्षस्तस्तथा।
विविधाश्चिज्जड़ा भावा इत्यर्थवणिका श्रुतिः॥ (वही, ४।७)

आनन्दरूप परमेश की बहुत्वेच्छा हिरण्यगर्भरूप धारण करके सृष्टि का विकास करती है।[१] प्रकृति की द्वितीय शक्ति अविद्या मे प्रतिबिम्बित ब्रह्म जीव के रूप मे उद्भूत होता है। जरायुज, अण्डज, स्वेदज तथा उद्भिदज रूप मे उत्पन्न जीवों के भोगादि के लिये परमात्मा के निर्देशन मे तमस्-प्रधान प्रकृति आकाशादि पञ्च भूतों की उत्पत्ति करती है।[२] जीवों के विविध प्रकारक अन्नादि योग्य पदार्थों एवं शरीरादिकों के उत्पत्ति हेतु ईश्वर द्वारा पञ्चमहाभूतों का पञ्चीकरण किया जाता है।

पञ्चपञ्चात्मक क्रिया मे हर भूत को प्रथमतः दो भागों मे विभाजित कर लिया जाता है। तदनन्तर हर भूत के प्रथमार्द्ध भाग के चार-चार भाग कर लिये जाते हैं। इसके बाद प्रत्येक भूत के द्वितीय अर्द्ध भाग को पञ्चभूतों के प्रथम भागीय चार भागों के एक-एक भाग से संयोजित करने पर पञ्चीकरण सम्पन्न होता है।[३] महाभूतों की पञ्चीकृतता मे अर्द्धांश एक महाभूत का रहता है और शेष अर्द्धांश मे चार महाभूतों के अर्द्धांश के चतुर्थांश विद्यमान रहते हैं। इसका गणितीय रूप इस प्रकार सिद्ध होता है– प्रत्येक महाभूत का १/२ भाग और अन्य चार महाभूतों के १/२ भाग के १/८ भाग मिलकर पञ्चीकृत होते हैं। पञ्चभूतों मे प्रथम भूत आकाश है। आकाश को अन्य भूतों से पञ्चीकृत करते समय आकाश का १/२ भाग एवं वायु, अग्नि, जल तथा पृथिवी के १/२ भागों मे १/८ वायु १/८ अग्नि, १/८ जल एवं

---

१. आनन्दमय ईशोऽयं बहुस्यामित्यवैक्षत।
हिरण्यगर्भरूपोऽभूत्सुप्तिः स्वप्नो यथा भवेत्॥ (पं. द. - ६।१९८)

२. तमःप्रधानप्रकृतेस्तद्भोगायेश्वराज्ञया।
वियत्पवनतेजोऽम्बुभुवो भूतानि जज्ञिरे॥ (वही, १।१८)

३. द्विधा विधाय चैकैकंचतुर्धा प्रथमं पुनः।
स्वस्वेतर द्वितीयांशैर्योजनात् पञ्च पञ्च ते॥ (वही, १।२७)

१/८ पृथिवी के मिलने से पञ्चीकरण सम्पन्न होता है। इसी प्रकार वायु आदि भूत भी अपने १/२ से अन्य चार भूतों के १/२ भागों के १/८ भागों में मिलकर पञ्चीकृत होते हैं। इस प्रकार पांचों भूतों के १/२ भाग शेष चार भूतों के १/२ भाग के १/८ भागों से संयुक्त होने पर पञ्चीकरण प्रक्रिया पूर्ण होती है।[१]

पञ्चीकृत भूतों से ब्रह्माण्ड, ब्रह्माण्ड से भुवन, प्राणियों के भोगने योग्य पदार्थ तथा शरीरादिकों की उत्पत्ति सम्भव होती है।[२] इस तरह सम्पूर्ण सृष्टि का विकास होता है। इसमे देवताओं से लेकर पशु, पक्षी, कीट, पतङ्ग सब नदी के भवर मे फंसे हुये कीट की तरह घूमते रहते हैं। तात्पर्य यह है कि, भव चक्कर मे फंसे हुये ये जीव विविधयोनियों मे अनेक जन्मो को धारण करते हुये सुखी नहीं हो पाते।

संसार-प्रपञ्च की उत्पत्ति के विषय मे शाङ्कर वेदान्त 'विवर्त' का संस्थापक रहा है। चूंकि, यह मत मात्र कारण की वास्तविक सत्ता स्वीकार करता है, इसलिये इसके द्वारा विवर्त को प्रतिष्ठा दी जाती है। विवर्त मे वस्तुतः उत्पत्ति होती नहीं। कारण की अन्यथा रूप मे प्रतीति ही वैवर्तिक उत्पत्ति है।

पञ्चदशी जगदुत्पत्ति विष्ज्ञयिणी तीन मान्यताओं — आरम्भ, परिणाम एवं विवर्त- मे विवर्त को ही सैद्धान्तिक मान्यता देती है। इस मान्यता-त्रय मे 'आरम्भवाद' नय्यायिकों को मान्य सिद्धान्त है। इसके अनुसार कार्य कारण से उत्पन्न होकर एक पृथक् पदार्थ के रूप मे अस्तित्ववान् रहता है। तन्तु के उत्पन्न पट एवं मृत्तिका से जात घट — ये दोनो अपने तन्तु आदि (समवापि) कारणो से भिन्न पदार्थ हैं। कारण का परिवर्तित होकर अन्य रूप मे होना, परिणामोत्पत्ति है। इसके उदा. के रूप मे दुग्ध से दधि तथा सुवर्ण से कुण्डलादि ग्रहणीय हैं। इसमे दूध दही एवं स्वर्ण कुण्डलादि रूपों मे परिणत हो जाता है। वेदान्त के भास्कर तथा वल्लभ

---

१. विशेष : पञ्चदशी द्वारा निरूपित इस पञ्चीकृत का महत्व मात्र दार्शनिक है अथवा वैज्ञानिक दृष्टि से भी इसकी महत्ता प्रतिष्ठित होती है। अनुसन्धानो द्वारा इसमे छिपी सच्चाई अथवा इससे मिलने वाले सङ्केतों का ज्ञान अपेक्षित है।

२. तैरण्डस्तत्र भुवनं भोग्यभोगाश्रयोद्भवः।
हिरण्यगर्भः स्थूलेऽस्मिन्देहे वैश्वानरो भवेत्॥ (पं. द. - १।२८)

मत इसके समर्थक हैं। विद्यारण्य के पूर्ववर्ती आचार्य अपरिणामी ब्रह्म से विश्वजनि के विषय मे विवर्त मे ही वास्तविक सिद्धान्तता का दर्शन करते हैं। कारण मे विना किसी परिवर्तन (अर्थात् पूर्वावस्था के तथावत् बने रहने पर) भी उसका अन्यथा मान विवर्त है।[१] भामतीकार विवर्त को अद्यः प्रकार से प्रतिष्ठित करते हैं –

विवर्तस्तु प्रपञ्चोऽयं ब्रह्मणोऽपरिणामिनः।
अनादिवासनोद्भूतो न सारूप्यमपेक्षते॥ (उद्धृत 'सर्वदर्शन सङ्ग्रह' मे शाङ्कर दर्शन)

विवर्त के उदा. हैं– रज्जु मे सर्प अथवा सीपी मे रजत की प्रतीति। इनमे रज्जु तथा सीपी के तथावत् बने रहने पर भी अहि और चांदी का अवभास होता है। इन उदाहरणों के आधार पर ब्रह्म की वैवर्त प्रतीति माने जाने पर पूर्वपक्ष की ओर से एक सन्देह उठाया जा सकता है कि, इस प्रकार की वैवर्तिक प्रतीति वटी आदि सावयव पदार्थों में स्वीकार्य है, परन्तु ब्रह्म तो निरवयव है, उसमें इसे कैसे सम्भव माना जा सकता है। सिद्धान्त पक्ष की ओर से इसका समाधान यह है कि, इस प्रकार का विवर्त सावयव मे ही नहीं, निरवयव मे भी द्रष्टव्य है। आकाश निरवयव है, पर इसे लोग अद्योमुखी, नीलवर्णी प्रभृति रूपों मे देखते हैं।

अवयवशून्य सच्चिदानन्द ब्रह्म के जागतिक विवर्त का कारण पञ्चदशी माया को मानती है।[२] यह माया शक्ति जादूगर की जादुयी शक्तिवत् ब्रह्म पर जगत् को आरोपित कर देती है। उसके द्वारा इस प्रकार का आरोपण तथा सत्य रूप मे प्रत्यायन (ठीक) उसी तरह से सम्भव हो पाता है, जैसे ऐन्द्रजालिक व्यक्ति अपनी शक्ति से नाना प्रकार की वस्तुओं की (असत्) रचना करके लोगों को दिखाता है और इससे अभिभूत लोग इसे सच भी मान बैठते हैं।

ब्रह्म पर वैश्व प्रपञ्च को प्रकल्पित करने वाली माया को श्रुतियों मे तीन प्रकार से स्व-कार्य सम्पादित करते हुये कहा गया है–

---

१. (क) 'सिद्धान्तलेश' (प्र. प.) मे परिणाम एवं विवर्त का लक्षण इस तरह दिया गया है– 'कारणसलक्षणोऽन्यथाभावः परिणामः, तद् विलक्षणो विवर्तः।'

(ख) अवस्थान्तरभानं तु विवर्तो रज्जुसर्पवत्। (प. द. - १३।९)

२. ततो निरंश आनन्दे विवर्तो जगदिष्यताम्।
मायाशक्तिः कल्पिका स्यादैन्द्रजालिकशक्तिवत्॥ (वही, १३।१०)

१. क्रियारूप

२. ज्ञानरूप

३. एवम् इच्छारूप।

इस प्रकार क्रिया, ज्ञान तथा बल रूप मायाशक्ति विविध रूपों मे अस्तित्ववती रहती है।[१]

सत्य को अद्वैत रूप मे माननेवाला शाङ्कर वेदान्त 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्' (छा. ६।१।४) श्रुति को उद्धृत करते हुये, कारण मात्र मे सत्यता परिनिष्ठित करता है। कार्य की नितान्त असत्यता अथवा इसके प्रतिभासिक रूप मे अस्तित्व की अद्वैत वेदान्तीय स्थापना कितनी अदुष्ट है, इसकी चर्चा का यहां अवकाश नहीं है। पर यह अवश्य कहा जा सकता है कि, मात्र एक सत्य का पक्षधर शाङ्कर दर्शन श्रौतिक और यौक्तिक स्तर पर अपने सिद्धान्त प्रतिष्ठापन मे पर्याप्त सफल है। केवल कारण की वास्तविकता अङ्गीकार किये जाने पर कार्य की अवास्तविकता स्वयं संसिद्ध्य हो जाती है। पञ्चदशी भी मात्रकारण मे सत्यता का आलोकन करती है। मृत्तिका एवं घट के पारम्परिक उदाहरण मे पञ्चदशीकार केवल मृत्तिका की ही सत्ता निरूपित करते हैं। घट, वाणी से उच्चरित शाब्दिक नाममात्र मृत्तिका का (एक) विकार है।[२] शब्द-वाच्य घट-कार्य स्वरूपतः तत्त्वशून्य है, क्योंकि यह उत्पत्ति-विनाश-धर्मा है। उत्पत्ति के पूर्व इसका अभाव था और कालान्तर मे इसका पुनः अभाव हो जायेगा। घट यह नाम इसे उत्पन्न होने के बाद लोक-व्यवहार मे प्राप्त होता है। पृथूदरत्व एवं वर्तुलाकारत्व-रूप भी इसे जनन के अनन्तर ही मिलता है। ये नाम और रूप दोनो पूर्वपरत्वाभाव के कारण असत् हैं।[३] इस प्रकार कार्य की सत्ता असदात्मक है। घट मे अनुस्यूत मृत्तिका (अर्थात् घट का अधिष्ठान मिट्टी) व्यक्त, अव्यक्त तथा इनके संश्रय - तीनो रूपों में विद्यमान होने के फलस्वरूप सत्य स्वीकार्य है। तात्पर्य यह कि व्यक्तकालिक घट और

---

१. देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढां मुनयोऽविदन्।
पराऽस्य शक्तिर्विविधा क्रियाज्ञानबलात्मिका॥ (वही, १३।३)

२. वाङ्निष्पाद्यं नाममात्रं विकारो नास्य सत्यता।
स्पर्शादिगुणायुक्ता तु सत्या केवलमृत्तिका॥ (पं.द. - १३।३९)

३. निस्तत्त्वाद् विनाशित्वाद् वाचारम्भणनामतः।
व्यक्तस्य न तद्रूपं सत्यं किञ्चिन्मृदादिवत्॥ (वही, १३।४३)

घट को व्यक्त करने वाली अव्यक्त शक्ति मे इन दोनो की आधारभूत मृत्तिका घट के व्यक्ति-काल मे, इसकी अभिव्यक्ति के पूर्व एवम् इसके नष्ट होने के बाद भी विद्यमान रहती है. अतः यही तत्त्ववती वस्तु है।[१]

विवर्त सिद्धान्त मे कारण से पृथक् कार्य की प्रतीति होने पर भी कारण पूर्ववत् अपरिवर्त्य बना रहता है! घटोत्पत्ति के सन्दर्भ मे भी यह पूर्ण चरितार्थ है। घट की निर्मिति के बाद भी मृतिका अपने मृद् रूप मे बनी रहती है।[२]

अगर यहां यह संशीति उत्पन्न की जाय कि, घट के नष्ट हो जाने पर मृत्तिकात्व नहीं रह जाता, इसके टुकड़े-टुकड़े रह जाते हैं। इसके उत्तर मे सिद्धान्त पक्ष का अभिधान है कि, ये टुकड़े-टुकड़े क्या हैं? इनको तोड़कर देखा जाय, तो मिट्टी ही तो इनमे रहती है। इसी प्रकार कुण्डल आदि को गलाकर नष्ट कर देने पर स्वर्ण की ही आप्ति होती है। पञ्चदशी-टीकाकार रामकृष्ण केवल व्यतिरेकी अनुमान द्वारा घटादि कार्यों की निस्तत्त्वता इसतरह संस्थित करते हैं – 'घटादिरूपः कार्य असत्योभवितुमर्हति, निस्तत्त्वात्, यदसत्यं न भवति न तन्निस्तत्त्वम्, यथा घटाद्युपादानं मृदिति।' (द्रष्टव्य पं. द. १३।४३ की टीका।)

मृत्तिका एवं घट के सदृश ब्रह्म तथा तदुत्पन्न जगत् मे विवर्त प्रभावी है। जगत् ब्रह्म का विवर्त है। विवर्त द्वाराअविकृत ब्रह्म से जगत् का आविर्भाव और इसका आभासन-उभय निर्दुष्टतः सिद्ध हो जाते हैं। ऐसी स्थिति मे जगत् की असत्यता तथा ब्रह्म की सत्यता दोनो की सिद्धि भी एक साथ हो जाती है। विवर्त उत्पत्ति का कारण माया है। यह अपने अलक्षण भाव से विश्व एवं ब्रह्म दोनो से पृथक् बनकर सार्टिष्क कार्य सम्पन्न करती है।

मायेश ईश्वर और आविद्यक जीव के माध्यम से भासित जगत् का मिथ्यात्व (अथवा इसका अनिर्वाच्यत्व) भी पञ्चदशी का अभीष्ट सिद्धान्त है। माया एवम् अविद्या के प्रतिबिम्ब रूप से भासित ईश्वर तथा जीव की सत्ता ही प्रथमतः सच नहीं है। ऐसी स्थिति मे ईश और जीव द्वारा सृष्ट

---

१. मृद्रूपस्यापरित्यागाद् विवर्तत्वं घटे स्थितम्॥ (वही, १३।४८)

२. घटे मग्ने न मृद्भावः कपालानामवेक्षणात्।
मैवं चूर्णेऽस्ति मृद् रूपं स्वर्णरूपं त्वतिस्फुटम्॥ (वही, १३।५०)

सांसारिक पदार्थों का अस्तित्व कैसे अमिथ्यात्मक मान्य हो सकता है।[१] अविद्या-जात जीव द्वारा सृष्ट जाग्रतादि पदार्थों की सत्यता तो दूर रही, पहले इसके स्व-रूप पर दृष्टि-पात करें– यह बुद्धि कर्तृत्व-भोक्तृत्व आदि धर्मों के साथ आत्मा की स्फूर्ति से युक्त प्रत्यक्ष अनुभूत होता है। इसका यह रूप भ्रमात्मक अथवा कल्पना-श्रित है। अतः इस प्रकार की विशेषताओं से सम्पृक्त जीव द्वारा उत्पादित वस्तुओं मे क्या सच्चाई होगी? बुद्धि, चिदाभास और आत्मा का क्या स्वरूप है?आत्मतत्त्व पर जगत् का आरोपण कैसे होता है? –इन विषयों का निर्णय न होने से अज्ञान (मोह) की उत्पत्ति होती है। यह अज्ञान संसार संज्ञक है।[२]

पञ्चदशी जगत् की असत्यता तथा इसकी (रहस्यात्मक) अनिर्वचनीयता का हेतृत्व माया मे देखती है। जिस तरह माया असत् एवम् अनिर्वचनीय है, इसी तरह इससे जात जागतिक प्रपञ्च भी असत् और अनिर्वचनीय है। आचार्य विद्यारण्य को सृष्टि-मिथ्यात्व के सन्दर्भ मे अनिर्वचनीयता सर्वाधिक अभीष्ट है। अतएव पञ्चदशी मे अनिर्वचनीयता का पौनःपुन्येन उल्लेख हुआ है। पञ्चदशी का यह सिद्धान्त बाद के शाङ्कर वेदान्तियों को भी प्रभावित करता है। इसके परिणति-रूप विश्वासद् प्रकरण मे अनिर्वचनीयता प्रभावी दिखलाई पड़ती है।[३] माया से सम्बद्ध होने के कारण जगत् की अनिर्वचनीयता का प्रतिपादन पञ्चदशी से पूर्व के भी अद्वैतीय

---

१. मायाभासेन जीवेशौ करोतीति श्रुतत्वतः।
कल्पितावेव जीवेशौ ताभ्यां सर्वं प्रकल्पितम्॥ (पं. द. - ७।३)

२. का बुद्धिः कोऽयमाभासः को वात्माऽत्र जगत् कथम्।
इत्यनिर्णयो मोहः सोऽयं संसार इष्यते॥ (पं. द. - ८।५३)

३. (क) अद्वैतसिद्धि मे मधुसूदन सरस्वती का अभिधान है –
'सदसदनधि करणत्वरूपमनिर्वाच्यत्वम्।' (पृ. ४८)

(ख) इतना ही नही, अद्वैतसिद्धिकार विश्वोत्पत्ति के सन्दर्भ मे सत्कार्यवाद एवम् असत्कार्यवाद– दोनो का निरास करते हुये अनिर्वचनीयतावाद को मान्यता देते हैं –
'सत्कार्यवादासत्कार्यवादनिषेधेनानिर्वचनीयताकार्यवादमन्ये कार्यकारणभावपर्यवसानात्।' (न्यायामृताद्वैतसिद्धिः, प्र. प. प्रतिकूलतर्कविचारः।)

ग्रन्थों मे हुआ है। पञ्चपादिका अनिर्वचीनयोक्ति को मिथ्या कहती है – 'मिथ्याशब्दोऽनिर्वचनीयतावचनः' (प्र. पृ. २३)[१] माया तत्त्वरहित वस्तु है। माया के द्वारा उत्पादित नामरूपात्मक प्रपञ्च अपने कारण माया की ही भांति तत्त्वविहीन है॥ निस्तत्त्व माया द्वारा तत्त्वब्रह्म पर प्रकल्पित विश्व की सत्ता जल मे दिखाई पड़नेवाले बुल्ले तथा तरङ्ग की तरह है। जल एवं बुल्ले मे अस्तित्व की वास्तविकता मात्र जल मे रहती है, बुल्लों तथा तरङ्ग की सत्ता केवल प्रतीतात्मक एवं मिथ्या रहा करती है। ब्रह्म पर अध्यस्त वैष्टप पदार्थों का वैतथ्य इससे भी प्रमाणित होता है कि सत्ता के वास्तविक रूप के साक्षात्कारानन्तर इन पदार्थों की असत्यता स्वयम् अनुभूत होने लगती है।[२] पञ्चदशी का यह भी अभिधान है कि, उपहित चैतन्य से उदभूत नामरूपात्मक अभिव्यक्ति, जो पञ्चभूतों से लेकर ब्रह्माण्डादि पर्यन्त व्याप्त है, इसका सत्यत्व (भ्रम के विना) कथमपि सिद्ध नहीं किया जा कसता। यही कारण है कि इसमे जब तक सत्-भाव दृढ़ रहता है, तब तक सत्य का साक्षात्कार नहीं हो सकता है।[३]

विश्व की अचिन्त्यता और इसके कारण इसका मिथ्यात्व – इसके उपादान के कारण है। इस संसार का अचिन्त्यत्व इसकी उपादान माया से मिलता है। माया स्वरूपतः अनिर्वाच्य (सदसदतीत) है, पुनरपि भासित होती है। जगत् भी माया का कार्य होकर मायावत् अनिर्वचनीय रूपात्मक है, फिर भी भासमान् दिखलाई पड़ता है।[४] इस प्रकार विश्व का अस्तित्व

---

१. (क) आचार्य शङ्कर माया के रूप को अनिरूप्य बतलाते हैं –
'अव्यक्ता हि सा माया, तत्त्वान्यत्वनिरूपणस्याशक्यत्वात्।
(ब्र. सूं. शां. भा. - १।४।३)

(ख) विवेकचूड़ामणि - १११ मे इसे अनिर्वचनीयलक्षणा कहा गया है –
सन्नाप्यसन्नाप्युभयात्मिका नो भिन्नाप्यभिन्नाप्युभयात्मिका नो।
साङ्गाप्यनङ्गाप्युभयात्मिका नो महाद्भुताऽनिर्वचनीयरूपा॥

२. सच्चिदानन्दरूपेऽस्मिन् पूर्णे ब्रह्मणि वीक्षिते।
स्वयमेवावजानाति नामरूपे शनैः शनैः॥ (पं. द. - १३।८०)

३. भूतभौतिकमायानामसत्त्वऽत्यन्तवासिते।
सद्वस्त्वद्वैतमिथ्येषा धीर्विपर्येति न क्वचित्॥ (पं. दं. - २।९८)

४. स्पष्टं भाति जगच्चेदमशक्यं तन्निरूपणम्।
मायामयं जगत्तरमादीक्षस्वपक्षपाततः॥ (वही, ६।१४२)

भी माया के ही सदृश है। संसार के पदार्थों की निर्मिति मे इनके उपादानो के अतिरिक्त सहयोगी अथवा निमित्त कारणो के रूप मे अन्य वस्तुओं का भी अस्तित्व दृष्टि-गोचर होता है। उदा. के रूप मे पट के निर्माण मे तन्तु के साथ तन्तु-संयोग, बुननेवाले तथा बुननेवाले-यन्त्र की अपेक्षा रहा करती है। इस प्रकार तन्तु से पट बनने की स्थिति तक पटोत्पत्ति मे कई वस्तुओं के सहयोग-वशात् पट का तत्त्वतः निर्वचन अशक्य है। अचिन्त्यरचनास्वभावक सांसारिक प्रपञ्च को पञ्चदशी-प्रणेता माया-रूप से ही संज्ञित करते हैं।[१] वैश्व की यह मायात्मक अचिन्त्यता इसकी मिथ्यात्मकता का बोधक है – 'अचिन्त्यरचनारूपं यस्य तत्तथाविधं सकलं जगत् मायैव मिथ्यैवेत्येन प्रकारेणानि – र्वचनीयत्वान्मिथ्यात्वं द्वैतस्य...।' (द्र. पददीपिका, पं. द. - ६।२४६) ब्रह्म रूपी पट पर चित्ररूप जगत् कल्पित है। माया की प्रकल्पना के परिणति-रूप परमात्मचिति के अन्तर्यामी आदि रूप एवं ब्रह्मा से लेकर नदी, पर्वत आदि समस्त जात-समूह भात होते हैं। पट पर आलिखित मानव के शरीरों के लिये विविध रङ्गों मे वस्त्रों का भी निर्माण कर लिया जाता है। चित्र मे विद्यमान शरीरों हेतु रचित वस्त्रों की भांति चिदध्यस्त देहों के अनेक चिदाभास कल्पित हो जाते हैं।[२] माया द्वारा अर्पित इस जडाजडात्मक विश्व को (असत् होने के कारण ही) पञ्चदशी उपेक्ष्य निरूपित करती है। इसकी उपेक्षा के अनन्तर अनुपेक्ष्य सत् प्रकाशित होने लगता है।

माया तथा इससे जात जगत् के अनिर्वाच्यत्व के कारण मान्य मिथ्यात्व के प्रति एक विचिकित्सा को अवकाश मिलता है कि, माया और इसके विकार अनिर्वचनीयता के कारण असत् होने के साथ-साथ सत् भी तो हैं? अतः इन्हें मिथ्या मानना उचित नहीं। पर ऐसी बात नहीं। सत्य का जो लक्षण अद्वैतवादियों को स्वीकार्य है (जिसकी चर्चा आत्मा / ब्रह्म के

---

१. अचिन्त्यरचनारूपं मायैव सकलं जगत्।
इति निश्चित्य वस्तुमद्वैते परिशेष्यताम्॥ (प. द., ६।२४६)

२. चित्रार्पितमनुष्याणां वस्त्राभासाः पृथक् पृथक्।
चित्राधारेण वस्त्रेण सदृशा इव कल्पिताः॥ (पं. द. - ६।६)
पृथक् पृथक् चिदाभासाश्चैतन्या ध्यस्तदेहिनाम्
कल्प्यन्ते जीवनामानो बहुधा संसरन्त्यमी॥ (वही, ६।७)

परिचयात्मक परिच्छेद मे की गयी है) उसके अनुसार माया एवम् इसके कार्यों को किसी भी प्रकार से सच्छेणी मे अङ्गीकार नहीं किया जा सकता। त्रैकालिक अबाधता अथवा त्रिकालिक सत्तात्व सत्य का रूप है। माया और एतदुत्पन्न जगत् मे यह रूपता अप्राप्त है। माया तथा तदुद्भूत वस्तुओं का अस्तित्व इनकी उत्पत्ति के प्राक् तथा सत् वस्तु के साक्षात्कार के पश्चात् असत् दृष्टि-गत होता है। जहां तक माया और इसकी विकृतियों मे दृष्ट अनिर्वचनात्मक सत्यता की बात है, वह मात्र प्रतीत्यात्मक है। यह काल विशेष तक प्रतीत होनेवाली ऐन्द्रजालिक वस्तुओं की सत्ता के सदृश है। इसको सत्य के अन्तर्गत नहीं रखा जा सकता। प्रापञ्चिक द्वैत के प्रागभावत्व को पञ्चदशी इसकी अनित्यता का सबल साक्ष मानती है। उत्पत्ति के पूर्व जागतिक वस्तुओं का राहित्य साक्षी चित् तत्त्व द्वारा अनुभूत है। यदि यह कहा जाय कि मायिक पदार्थों की तरह चित् का भी प्रागभावत्व माना जा सकता है। परन्तु चित् के प्रागभाव का कोई अनुभविता न होने से यह अस्वीकार्य है। जड़ पदार्थ इसका अनुभव कर नहीं सकते। अगर यह माना जाय कि इसका अनुभवकर्ता चैतन्य हो सकता है। पर यह इसलिये सम्भव नहीं क्योंकि, चित् तो एक ही है, अतः उससे भिन्न उसके अनुभविता का प्रश्न ही नहीं उठता।[१]

इस प्रकार ईश्वर और जीव से सम्बद्ध समस्त मायात्मक रचना की वितथता ही मान्य सिद्धान्त दिखलाई पड़ता है। भोक्ता-भोग्य, कर्ता-कार्य ये सारे जागतिक भाव अपनी सच्चाई तभी तक प्रतिष्ठित कर पाते हैं, जब तक आत्म-धी का समुदय नहीं रहता। आत्म-बोधानन्तर इन भावों की असत्यता उसी तरह से भासित होने लगती है, जैसे इद्रजाल के मिथ्यात्व (वास्तविकता) का ज्ञान होने के पश्चात् इससे उत्पादित पदार्थों की असत्यता का मान होने लगता है।[२] पञ्चदशी वास्तविक सौन्दर्य एवं रमणीयता का दर्शन सत्य तत्त्व मे करने का परामर्श देती है। यही कारण है कि, वह आपाततः रमणीय लगने वाली वस्तुओं को असुन्दर और अहितकर मानती

---

१. प्रागभावो नानुभूतश्चितेर्नित्या ततश्चितिः।
द्वैतस्य प्रागभावस्तु चैतन्येनानुभूयते॥ (पं. द. - ६।२५४)

२. जागन्मिथ्यात्वधीभावादाक्षिप्तौ काम्यकामुकौ।
तयोरभावे सन्तापः शाम्येन्निःस्नेहदीपवत्॥ (वही, ७।१३६)

हुयी, कभी भी इनमे विवेकी प्राणी को चित्त रमाने की सलाह नहीं देती। सांसारिक वस्तुओं के यथार्थ को जानकर इसमे अननुरक्ति पञ्चदशी का उपदेश है।[१]

पञ्चदशी रचनाकार तत्त्व विवेक के आदिम चार प्रकरणो मे जाग्रतादि अवस्थाओं, पञ्चभूतों, पञ्चकोशों तथा द्वैत के माध्यम से सारे जागतिक प्रपञ्च मे असत्यता का चारू उद्घाटन करते हैं। जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्ति मे स्वाप्न वैश्व मे तुच्छता तथा नश्वरता का हम दैनन्दिन अनुभव करते हैं। जाग्रत का संसार स्वप्न मे प्रतीत न होने से असत् रहा करता है। जाग्रत और स्वप्न दोनो की असत्यता सुषुप्ति मे रहा करती है। सौषुप्त का अस्तित्व स्वप्न एवं जाग्रत मे मिथ्यात्मक दिखता है। इस तरह त्रैकालिक विश्व की असत्यता द्योतित होती है।

अनिर्वचनीयता रूप असत्ता शुक्ति मे रजत अथवा रज्जु मे अहि के प्रथित उदाहरणों मे अवलोक्य है। शुक्ति मे रजत का ज्ञान न तो शुक्ति की तरह सत् है और न ही वन्ध्या-पुत्र, आकाशकुसुम आदि की तरह असत् है। सत् इसलिये नहीं, क्योंकि, यह भ्रमज है और भ्रम-नाश के अनन्तर यह नहीं रह जाता। असत् भी इसलिये नहीं, क्योंकि प्रतीति का विषय बनता है। ऐसी स्थिति मे यह सदसदात्मक मान्य होता है। परन्तु सत्ता का रूप सत् एवम् असत्-उभयप्रकारक नहीं हो सकता। अतः सीपी मे रजत ज्ञान को सत् असत् एवम् सदसत् सबसे पृथक् मानाजाना उपयुक्त लगता है। सत्ता के रूप की यह विलक्षणता इसे अनिर्वचनीय स्थिर करती हुयी मिथ्या सिद्ध करती है। पञ्चदशी वैष्टप प्रपञ्च की कारण माया मे अनिर्वचनीयता का उद्घाटन करती हुयी, इससे उत्पन्न पदार्थों में मिथ्यात्व का प्रतिपादन करती है। माया अपने आश्रय ब्रह्म तथा स्व-विकृति मय सांसारिक वस्तुओं से भिन्नाभिन्नात्मक रहकर अचिन्त्य रूप वाली सिद्ध होती है। माया का यह भैन्नाभैन्न सदसदात्मक रूप मे भी अवलोकनीय है। उदाहरण के रूप मे मिट्टी कुम्भ का कारण है। कुम्भ को उत्पन्न करने वाली शक्ति (माया) कुम्भोत्पत्ति के पूर्व मृतिका मे अवस्थित रहकर कुम्भकादि के नैमित्तिक सहयोग से कुम्भ के रूप मे व्यक्त हो जाती है।

---

१. स्वप्नेन्द्रजाल सदृशमचिन्त्यरचनात्मकम्।
दृष्टनष्टं जगत्पश्यन् कथं तत्रानुरज्यति॥ (वही, ७।१७१)

कुम्भ को व्यक्ति देने वाली इस शक्ति को शब्दस्पर्शादि गुणो से अन्वित न तो मृद्रूप माना जा सकता है और न ही नामरूपात्मक विशेषणो से विशिष्ट कुम्भ ही स्वीकार किया जा सकता है, क्योंकि इन दोनो मे निहित वैशिष्ट्यो का इसमे अभाव परिलक्षित होता है। यह शक्ति की अनिर्वाच्यता है।[१] इस प्रकार शक्ति कुम्भोपादान मृत् मे मृत् की भांति सत् नहीं मानी जा सकती, क्योंकि इसका मिट्टी की तरह कुम्भाविर्भाव के पूर्व अस्तित्व अनुभूत नहीं होता। साथ ही इसे खपुष्पवत् असत् भी नहीं अङ्गीकृत किया जा सकता, क्योंकि विना सत्तात्व के इसकी अभिव्यक्ति कुम्भादिमृत् पदार्थों के रूप मे सम्भाव्य नहीं। ऐसी स्थिति मे यह अपने अधिष्ठान तथा स्वाधिष्ठेय कार्य – दोनो से सदसदात्मक प्रतीत होने के कारण, अवर्ण्य अर्थात् मिथ्या रूप मे स्वीकार्य सिद्ध होती है। कुम्भ को व्यक्त करनेवाली शक्ति का रूप जैसे मिट्टी एवं कुम्भ दोनो से अनिर्वचनीय प्रतिष्ठेय है। इसी तरह विश्वसर्जन-शक्ति अर्थात् माया स्वाधिष्ठान तत्त्व ब्रह्म मे न तो सत् और न ही असत्-उभय रूपों मे अङ्गीकार्य हो सकती है। यदि इसे ब्रह्मवत् सत्य माना जाता है, तो ब्रह्म की तरह इसका अबाधित रूप अनुभूत होना चाहिये। पर ऐसा होता नहीं। अगर इसकी सत्ता ब्रह्म से पृथक् बिलकुल आकाश कुसुम के समान असत् मानी जाय, तो भी ठीक नहीं, क्योंकि सांसारिक वस्तुओं के रूप मे यह अनुभूति का विषय बनती है। इस प्रकार यह अपने अधिष्ठान ब्रह्म तथा कार्य जगत् (अर्थात् कुम्भादिजागतिक वस्तुओं) दोनो मे सदसदात्मक रूप मे दिखलाई पड़ती है। अतएव इसका रूप अनिर्ववाच्य होने के फलस्वरूप मिथ्या प्रतिष्ठित होता है। इस प्रकार यह बात स्पष्ट होती है कि, शक्ति अपने आश्रय और कार्य दोनो से भिन्नभिन्नात्मक अथवा सदसदात्मक रूप मे जुड़ने के कारण उभयत्र अपना वैलक्षण्य प्रकाशित करती है। इसका उल्लेख पूर्व के परिच्छेद मे किया गया है कि, अचिन्त्यशक्तिबीजत्व के कारण संसार के हर पदार्थ अचिन्त्यप्रकृतिक हैं। तात्पर्य यह कि शक्ति

---

१. न पृथ्वादिर्नशब्दादिः शक्तवस्तु यथा तथा।
अतएव ह्यचिन्त्यैषा न निर्वचनमर्हति॥ (पं. द. – १३।३१)
द्रष्टव्य, इसक पददीपिका – 'शक्तौ पृथुत्वादिकार्यधर्मो नास्ति, शब्दादिकः आश्रयधर्मोऽपि न विद्यते, अतो विलक्षणेत्यर्थः। ......भेदेनाभेदेनाचिन्त्यत्वादिना वा येन केनापि रूपेण निर्वचनं नार्हतीत्यर्थः।'

की भांति इनका भी स्व-रूप तथा इनका पारस्परिक सम्बन्ध – सब मे भेदाभेद अथवा सदसदता प्रभावी है। उदाहरण के रूप मे उपर्युक्त कुम्भ को ही लिजिये। यह स्व-अविर्भाविका शक्ति से भिन्नाभिन्नात्मक होने के साथ-साथ अपने उपादान मृत् से भी भेदाभेदमय है। न इसे मृद्रूप माना जा सकता है और न मृद् से भिन्न ही। इसे मृद् रूप इसलिये नहीं स्वीकार किया जा सकता, क्योंकि मृतिका इसके मूल (वास्तविक) अस्तित्व मे विद्यमान है। इस तरह सदसदात्मक होकर यह अनिर्वचनीय लक्षणक तथा असत्य रूप सिद्ध होता है। कुम्भ की ही भांति जगत् के अन्य वस्तुओं का अस्तित्व उनका स्वजातीय एवं विजातीय वस्तुओं से सम्बन्ध-सब भेदाभेदात्मक अनिर्वचनीयता पर संश्रित हैं। इसलिये सबका अस्तित्व मिथ्या परक है।

द्वैतः-

अनिर्वचनीय माया से भासित जगत् अद्वैत वेदान्त मे 'द्वैत' के रूप मे विवेच्य है। यह चर एवम् अचर – द्विप्रकारक है। वेदान्त के हर सम्प्रदाय द्वैतात्मक सृष्टि के प्रादुर्भाव तथा इसके विकास मे परमात्मा के साथ माया-शक्ति का सहयोग किसी न किसी रूप मे अङ्गीकार करते हैं।

पञ्चदशी द्वैत प्रपञ्च की निर्मिति ईश्वर एवं जीव- दोनो द्वारा स्वीकार करती है।[१] मायोपहित परमेश्वर जागतिक प्रपञ्च का स्रष्टा है, विद्यारण्य इसकी सम्पुष्टि श्वेताश्वेश्तर, ऐतरेय, तैत्तिरीय, छान्दोग्य, मुण्डक तथा बृहदारण्यक-उपनिषद्-श्रुतियों को आधार बनाकर करते हैं।[२] आचार्य की इस पुष्टि द्वारा यह भी स्थिर होता है कि, माया की उपाधि से युक्त (अर्थात् सगुण) ब्रह्म ही सृष्टि-कर्ता है। ईश्वर इस अव्याकृत प्रपञ्च को नामरूप मे व्याकृत करता है। इसके प्रतिफलस्वरूप विराट् से लेकर सारी स्थावर-जङ्गम सृष्टि सम्भव होती है।[३] श्रुतियों के अनुसार मायोपाधिक ईश्वर जैव रूप

---

१. ईश्वरेणाऽपि जीवेन सृष्टं द्वैतं विविच्यते।
विवेके सति जीवेन हेयोबन्धो स्फुटीभवेत्॥ (पं. द. =४।१)

२. द्रष्टव्य पं.द. - ४।२ से ९ तक

३. जगत् व्यक्त तथा अव्यक्त द्विधा प्रकारक है। नाम और रूप मे यह व्यक्त होता है तथा अनिर्वचनीय माया ही इसका अव्यक्त रूप है –
अव्याकृतं पुरा सृष्टेरूर्ध्वं व्याक्रियते द्विधा।
अचिन्त्यशक्तिमयिषा ब्रह्मण्यव्याकृताभिधा॥ (प. द, १३।६५)

से देह मे प्रवेश करके प्राणधारण करते हुये जीव की संज्ञा प्राप्त कर लेता है।[१] ऐसे जीव को अज्ञानी बनाने का कार्य माया का है—

माहेश्वरी तु माया या तस्या निर्माणशक्तिवत्।
विद्यते मोहशक्तिश्च तं जीवं मोहत्यसौ।। (पं. द. - ४।१२)

मोह में पड़ा हुआ जीव ईष्टाप्ति तथा अनिष्ट— निवृत्ति के सामर्थ्य से शून्य होकर शोकाम्बुधि में डूब जाता है।[२] माया की उपाधि से ईश्वर एवं जीव को जो रूप प्राप्त होते हैं, उनमें आनन्दमयता ईश्वर का तथा विज्ञानमयता जीव का निज रूप है। ईश्वर एवं जीव मे ईश्वर माया के तथा जीव बुद्धि के अधीन रहकर स्व-स्वकार्य सम्पादित करते हैं। 'स ईक्षत लोकान्नु सृजा' (ऐत. ४।१।२) आदि सार्ष्टिक सङ्कल्प (अनेक रचनेच्छा) तथा तदनुसार विराट् एवं महाभूतों और लोका तथा इनमे दृष्ट पदार्थों का प्रकल्पन एवं प्राणधारियों के देहादि में जीवत्व सन्धारण का कार्य ईश्वर द्वारा सम्पन्न होता है।[३] इस प्रकार जीव से लेकर समस्त जागतिक वस्तुओं का स्रष्टा ईश्वर बनता है।

ईश्वर द्वारा सृष्ट सांसारिक पदार्थों की भोक्तृत्वादि भावना से अन्य रूपों मे प्रकल्पना, यह जीव की सृष्टि है। उदाहरणार्थ श्रुति 'यत्सप्तान्नानि मेधया तपसाऽजनयत् पिता', बृ. १।५।१ तण्डुलादि, दर्श, पूर्णमास, क्षीर, मन, वाणी एवं प्राण इन सप्तान्नो को ईश्वर द्वारा उत्पन्न बतलाती है। परन्तु जीव ज्ञान तथा कर्म द्वारा इन अन्नो को अपने भोग के अनुकूल बना लेता है। जीव का यह कार्य उसकी सृष्टि है।[४] इस तरह ईश्वर द्वारा रचित

---

१. कृत्वा रूपान्तरं जैवं देहे प्रावीशदीश्वरः।
इति ताः श्रुतयः प्राहुर्जीवत्वं प्राणधारणात्।। (वही, ४।१०)

२. वही, ४।१२

३. द्रष्टव्य पं. द., ४।६ से १० पर्यन्त

४. विशेषः पञ्चदशी ईक्षण से जीव-प्रवेश तक की सृष्टि ईश्वर की एवं जाग्रत से मुक्ति-पर्यन्त की सृष्टि जीव की मानती है —
ईक्षणादिप्रवेशान्ता सृष्टिरीशेन कल्पिता।
जाग्रदादिविमोक्षान्तः संसारो जीवकल्पितः।। (६।२१३)

इस तरह जाग्रकालिक अन्न, पान आदि, स्वप्न-कल्पित सुख-दुःख तथा सुषुप्तिकालीन अज्ञानाच्छन्न सुख का भोक्तृत्व जीव मे सिद्ध होता है। जीव का यह संसारी रूप स्वाधिष्ठान कूटस्थ-रूप की आप्ति का आस्पद तब बन पाता है, जब यह जाग्रतादि का भोक्ता बनने के वजाय इनके प्रकाशकत्व की अनुभूति करने मे समर्थ हो जाता है। इस प्रकार जीव के प्रबन्धन तथा इससे विमोचन की पूरी सांसारिक रचना का उत्तरदायित्व जीव मे ही सिद्ध होता है।

वैश्व पदार्थ जीव के भोग्य बनते हैं। ईश्वर द्वारा निर्मित नारी जीव के भोग का साधन बनकर भिन्न-भिन्न रूप ले लेती है। वह पिताकी कन्याएवं पति की भार्या बन जाती है।[१]

जीव द्वारा ईश्वर-उत्पादित वस्तु को स्वमनोवृत्ति का आकार दे देना, मनोमयी सृष्टि है। इस प्रकार सार्ष्टिक पदार्थ के दो रूप दृष्टि-गत होते हैं, एक ईश्वर विरचित उसका स्व-रूप और दूसरा जीव प्रकल्पित उसका धीमयरूप। ईश्वर ने मणि का निर्माण किया। मणि की प्राप्ति की प्रसन्नता, अप्राप्ति पर अप्रसन्नता एवं प्रसन्नता तथा अप्रसन्नता दोनो का न होना — मणिविषयक तीनो स्थितियाँ जीव विनिर्मित हैं। इस तरह देखा जाता है कि, जगत् की किसी वस्तु को जीव अपनी मनोवृत्तियों के आधार पर नाना रूपों मे उत्पन्न कर लेते हैं। हड्डी, मांस तथा त्वगादि से बना स्त्री का शरीर एक है। किन्तु अभिन्न रूप मे विद्यमान नारी का यह काय मनोमय रूप मे अनेक रूप धारण कर लेता है। इसी के परिणाम स्वरूप वह भार्या, भागिनी, पुत्रवधू आदि रूपों मे दिखलाई पड़ती है। प्रश्न उठता है कि मनोमयी सृष्टि मे बुद्धि वस्तु के आकार को कैसे प्राप्त कर लेती है? इसका समाधान यह है कि, यथा प्रकाश स्व-प्रकाश्य वस्तुओं का आकार प्राप्त कर लेता है, तद्वत् बुद्धि भी घट, पट इत्यादि वस्तुओं की आकार वाली हो जाती है।[२] इसको अन्य लौकिक दृष्टान्तों द्वारा भी प्रतिष्ठित किया जा सकता है। गलाया हुआ तांबा सांचे मे डालने पर तद्रूप हो जाता है। धी भी गले हुये तांबे की भांति पदार्थ के सम्पर्क से तदनुरूप हो जाती है।

ऊपर उक्त जागतिक वस्तुओं के दो रूप स्वीकार्य हैं— एक प्रत्यक्षादि-प्रमाणो से दृष्ट और दूसरा साक्षी से आभासित। साक्षी के द्वारा आभासित वस्तु का रूप, जीव की व्यष्टि-गत बुद्धि की उपज होने के फलरूप (नितान्त) हेय है। इससे सम्बद्ध होने के ही कारण जीव स्व-रूप से भ्रष्ट हो जाता है। जीवों द्वारा उत्पादित बुद्धिमय विश्व व्यक्ति-गत और

---

१. ईशकार्यं जीवभोग्यं जगद्द्वाभ्यां समन्वितम्।
पितृजन्या भोक्तृभोग्या तथा योषित्तथेष्यताम्॥ (पं. द. - ४।१८)

२. व्यञ्जको वा यथाऽऽलोको व्यङ्ग्यस्याकारतामियात्।
सर्वार्थव्यञ्जकत्वाद्धीरर्थाकारा प्रदृश्यते॥ (पं. द. - ४।२९)

मानसद्वैत है। यह द्वैत चिदाभास (जीव) के संसरणात्मक बन्धन का हेतु है। इसके रहने पर जीव सुख-दुःख आदि का भोक्ता बना रहता है। इसके अभाव मे वह दुःखादुःखात्मक प्रपञ्च से दूर रहता है। पञ्चदशी अनेक लौकिक दृष्टान्तों द्वारा इस बात को पुष्ट करती है कि, जीव के सांसारिक बन्धन का कारण इससे प्रकल्पित मानस प्रपञ्च है। किसी पुत्र का पिता पुत्र के परदेश मे रहने पर भी धूर्त व्यक्ति के द्वारा इसके मरण की सूचना प्राप्त करके विलाप करता है। परन्तु पुत्र की मृत्यु हो जाने पर भी उसके अवसान का समाचार न जानने के प्रतिफल स्वरूप पिता रोदन नहीं करता। पिता के इस रोदनारोदन कृत्य से यह बात प्रमाणित होती है कि, जीव के दुःख-सुख की बन्धक उसकी मानसी सृष्टि है।

पञ्चदशीकार जीव-रचित द्वैत को दो रूपों मे देखते हैं –

१) शास्त्रीय और

२) अशास्त्रीय।

ब्रह्मात्मैक्य बोधक श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन परक वेदान्तशास्त्रीय विचार-विमर्श शास्त्रीय द्वैत है। यद्यपि यह जीव का श्रेयस्कर है, परन्तु इसकी भी एक मर्यादा है। जब तक ब्रह्म-ज्ञान नहीं हो जाता, तभी तक इसकी उपादेयता है। जैसे धान्य चाहने वाला व्यक्ति पुलाल को अलग करके धान्य ले लेता है, वैसे ही मुक्ति चाहने वाले व्यक्ति को तत्त्व बोधान्तर इसका परित्याग कर देना चाहिये।[१]

अशास्त्रीय द्वैत तीव्र एवं मन्द के भेद से उभय प्रकारक है।[२] काम, क्रोध लोभादि विकार तीव्र द्वैत के क्षेत्र हैं। मनोराज्य अर्थात् मन के अन्य (कामना, द्वेष-आदि) मन्द व्यापार, मन्द अशास्त्रीय द्वैत हैं। पञ्चदशी अशास्त्रीय द्वैत के दोनो रूपों का निवारण तत्त्वज्ञान तथा मुक्ति प्राप्ति-हेतु परमापेक्षित समझती है। तत्त्वबोध के पूर्व इनके त्याग की बात श्रुतियों मे कही गयी

---

१. शास्त्राण्यधीत्य मेधावी अभ्यस्य च पुनः पुनः।
परमं ब्रह्म विज्ञाय उल्कावत्तान्यथोत्सृजेत्॥ (पं. द. - ४।४५)
ग्रन्थमभ्यस्य मेधावी ज्ञानविज्ञानतत्परः।
पलालमिव धान्यार्थी त्यजेद् ग्रन्थमशेषतः॥ (वही, ४।४६)

२. अशास्त्रीयमपि द्वैतं तीव्रं मन्दमिति द्विधा।
कामक्रोधादिकं तीव्रं मनोराज्यं तथेतरत्॥ (वही ४।४९)

है। विना इनको छोड़े तत्त्व-ज्ञान का उदय अशक्य है। प्रश्न उठता है कि, ब्रह्म-ज्ञान के पूर्व इनके त्याग का औचित्य दिखता है, क्योंकि विना इसके प्रमाता को ब्रह्म-ज्ञान नहीं हो सकता। परन्तु ज्ञान होने के पश्चात् इनके न छोड़ने से कौन सी हानि है? वस्तु स्थिति यह है कि, जिस प्रकार इनके उत्सर्जन के विना तत्त्व का साक्षात्कार नहीं हो सकता, उसी प्रकार इनके उत्सर्ग के अभाव मे प्रमाता को (ज्ञान होने के बाद भी) मुक्ति[१] (जीवन्मुक्ति) का लाभ नहीं मिल सकता।[२] साथ ही तत्त्व प्रबोध के बाद भी प्रमाता मे कामादि विकारों की निवृत्ति का अभाव उसे शास्त्रीय मर्यादा का उलङ्घन करने वाले स्वेच्छाचारी रूप मे परिनिष्ठित करता है।[३] ऐसा साधक हास्यास्पद है। ऐसे अद्वैत तत्त्वज्ञानी को विद्यारण्य अशुचि भक्षण करने वाले कुत्ते के समान बतलाते हैं।[४] इनके अनुसार यह अभागा साधक तत्त्व ज्ञान के पूर्व काम, क्रोधादि क्लेशों से कष्टित था, अब वह लोक-निन्दा का भाजन होने से और अधिक कष्ट का अनुभव करता है। ऐसे जीव को पञ्चदशी सन्दिष्ट करती है कि, शूकर के समान कामादि मनोदोषों को अपनाकर यथेष्टाचरण न करे। शूकर तो अज्ञानता के कारण स्वेच्छाचरण करता है, पर जीव मे तो नित्यानित्य विवेक है। अतः इससे अलग होकर, पूज्यार्हता की लब्धि करना चाहिये।[५]

पूर्व पक्ष के रूप मे एक शङ्का उठती है कि, कामादि दोषों का

---

१. 'कामादिरूपो यः क्लेशः स एव बन्धः तेन युक्तस्य बद्धस्य मुक्तता जीवन्मुक्तत्वं नहि, नास्त्येवेत्यर्थः। (द्रष्टव्य पं. द. ४।५१ की 'पददीपिका'।)

२. बोधादूर्ध्वं च तद्धेयं जीवन्मुक्तिप्रसिद्धये।
कामादिक्लेशबन्धेन युक्तस्य नहि मुक्तता॥ (वही, ४।५१)

३. तत्त्वं बुद्धवापि कामादिनिःशेषं न जहासि चेत्।
यथेष्टाचरणं ते स्यात्कर्मशास्त्रादिलङ्घिनः॥ (वही, ४।५४)

४. (क) बुद्धाद्वैतस्वतत्त्वस्य यथेष्टाचरणं यदि।
शुनां तत्त्वदृशां चैव को भेदोऽशुचिभक्षणे॥ (वही, ४।५५)

(ख) ऐसे ज्ञानियों की उपहास्यास्पदता गो. तुलसीदास के इस दोहे मे अवलोकनीय है—
ब्रह्म-ज्ञान विनु नारि नर करहिं न दूसरि बात।
कौड़ीकारण मोह-वश करहिं विप्रगुरू घात॥ (रामचरितमानस उत्तरकाण्ड)

५. सर्वधीदोषसंत्यागाल्लोकैः पूज्यस्व देववत्॥ (पं. द. - ४।५७)

त्याग विवेकी के लिये समीचीन है, परन्तु मनोराज्य का हान यदि ज्ञानी नहीं करता, तो इससे उसकी कोई हानि नहीं होती दिखती। पञ्चदशी इस संशीति का निरसन करती हुयी मनोराज्य को भी त्यागा जाना आवश्यक समझती है। मनोराज्य जीव के पतन का साक्षात् हेतु भले ही नहीं दृष्टि-गत होता, किन्तु समस्त दोषों का मूल होने के कारण, इसका त्याग अति जरूरी है।[१] इस बात का पोषण स्मृति भी करती है।[२] मनोराज्य पर विजय प्राप्त करने का सशक्त उपाय निर्विकल्पक योग है। जो योग द्वारा इसको नहीं जीत सकता, वह काम, क्रोध इत्यादि दोषों से विरहित बुद्धिवाला होकर, बहुत काल तक किये गये प्रणव (ऊँकार) उच्चारण द्वारा इसको प्रशमित कर सकता है।[३]

यह द्वैत, जिसे शाङ्कर आचार्य ईश्वर तथ जीव निर्मित अङ्गीकार करते हैं, शाङ्करोत्तर वेदान्तों मे इसे परमात्मा की (वास्तविक) रचना मानकर सत् स्वीकार किया जाता है। द्वैत की सत्यता का सर्वाधिक पोषक मत आचार्य मध्व का 'द्वैतवेदान्त' है। आचार्य मध्व ने 'जन्माद्यस्ययतः', इस 'ब्रह्म-सूत्र' की व्याख्या मे परमेश्वर को जगत् के उत्पत्ति, स्थिति एवं संहार का हेतु बतलाते हुये, इसकी सत्यता को प्रतिष्ठित किया हैं। 'स्कन्द पुराण' की 'उत्पतिस्थितिसंहारा नियतिर्ज्ञानमावृत्तिः।

बन्धमोक्षौ च पुरूषमात्मस् हरिरेकराट्॥

इस उक्ति को मान्यता देते हुये अणुभाष्यकार परमात्मा प्रभु विष्णु को अङ्गीकार करते हैं।

'मायामात्रमिदद्वैतमद्वैतं परमार्थतः।' (मा. का. - १।१७)

—आचार्य गौड़पाद के इस कारिकांश मे उल्लिखित 'मायामात्र' का अर्थ मध्वाचार्य 'परमेश्वर की इच्छा' रूप मे करते हैं। परमेश्वर की इच्छा-रूप जो वस्तु होगी, वह कभी भी मिथ्या नहीं मानी जा सकती। माया को ईश्वर की शक्ति भी कहा गया है। ईश्वर अपनी शक्ति के सहयोग से जिस जागतिक प्रपञ्च का आविर्भाव करता है, उसे असत् माना जाना

---

१. अशेषदोषबीजत्वात्क्षतिर्भगवतेरिता॥ (वही, ४।५९)

२. द्रष्टव्य, गीता - २।६२

३. बुद्धतत्त्वेन धीदोषशून्येनैकान्तवासिना।
दीर्घं प्रणवमुच्चार्य मनोराज्यं विजीयते॥ (पं. द. - ४।६२)

श्रुति-सिद्धान्त के विरूद्ध है। द्वैत की सत्यता का समर्थन करने वाले आचार्य अभेदवादी श्रुति वाक्यों का तात्पर्य या तो भेद परक मानते हैं, अथवा इनकी ऐसी व्याख्या करते हैं, जिससे भेद की पारमार्थिकता प्रभावित न हो। उदाहरण के रूप मे छान्दाग्योपनिषद् (६।१।४) का अति चर्चित वाक्य 'यथा सौम्येकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातंस्यात्, वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्' अद्वैतवेदान्त मे मात्र ब्रह्म की सत्यता के लिये उद्धृत किया जाता है। किन्तु माध्व-दर्शन इसका तात्पर्य 'एक मृत्तिका रूप ब्रह्म के ज्ञान से, इससे जात समस्त वस्तुओं का ज्ञान सम्भव है' यह लेता हुआ, कारण और कार्य के तादात्म्य को प्रतिष्ठा देता है। इसकी दृष्टि मे कारण-कार्य की यह सम्बद्धता, कार्य की असत्यता का ज्ञापक नहीं बन सकती। अभेदवादी शाङ्कर वेदान्त मे अभेद-ज्ञान से ही मुक्ति सम्भव है, परन्तु भेदवादी माध्व वेदान्त मे जीवेश्वरादि पञ्चभेदों के अभाव मे मुक्ति-प्राप्त नहीं हो सकती।[१]

द्वैत एवम् अद्वैत के अनुयायी आचार्य शब्दादि प्रमाणो तथा युक्तियों के द्वार से एक दूसरे की मान्यताओं को खण्डित करने का पूरा प्रयास करते हैं। इस क्रम मे व्यासतीर्थ का 'न्यायामृत' और मधुसूदन सरस्वती की 'अद्वैतसिद्धि' उदाहर्तव्य हैं।

शाङ्कर वेदान्त द्वैत-प्रपञ्च को असत् मानता है। इसमे जगत् के विषय मे अगर 'अजातवाद' को न भी मान्यता दी जाय, तो भी यह प्रातिभासिक एवं व्यावहारिक रूप मे असत्य ही प्रतिष्ठेय है। अद्वैत वेदान्तियों की दृष्टि मे चूंकि, द्वैत का भास माया के कारण है, अतः बाधित होने के कारण यह सत्य नहीं माना जा सकता। सत्यत्व मात्र द्वैतापनयन के बाद बचने वाले अद्वैत तत्त्व मे है।[२] ईश्वर एवं जीव द्वारा प्रकल्पित जड़ाजड़ विश्व अद्वैत ब्रह्म की दृष्टि से स्वप्न के सदृश है।[३]

---

१. पञ्चभेद निम्नानुसार हैं –
जीवेश्वरभिदा चैव जड़ेश्वरभिदा तथा।
जीवभेदो मिथश्चैव जड़जीवभिदा तथा॥
पञ्चभेदाञ्च विज्ञाय विष्णोः स्वाभेदमेव च।
निर्दोषत्वं गुणोद्रेकं ज्ञात्वा मुक्तिर्नचान्यथा॥ (महाभारततात्पर्यनिर्णय - १।८२)

२. एवं तर्हि श्रृणु द्वैतमसन्मायामयत्वतः।
तेन वास्तवमद्वैतं परिशेषाद् विभासते॥ (पं. दं. - ६।२४५)

३. अद्वितीय ब्रह्मतत्त्वे स्वप्नोऽयमखिलं जगत्।
ईशजीवादिरूपेण चेतनाचेतनात्मकम्॥ (पं. द.- ६।२११)

चतुर्थ-परिच्छेद

चैतन्याभास (उपहित) तत्त्व :

उपहित तत्त्व के अन्तर्गत ऐसे तत्त्व अङ्गीकार्य हैं, जो माया तथा अविद्या के उपाधि-द्वार से अभिव्यक्त होते हैं। ऐसे तत्त्वों मे ईश्वर एवं जीव की गणना की जाती है।

ईश्वर : शुद्ध अर्थात् परा चेतना जब माया से उपहित हो जाती है, तब वह ईश्वर संज्ञा प्राप्त कर लेती है। पञ्चदशीकार ने माया मे प्रतिबिम्बित ब्रह्म, जो माया को वश मे रखनेवाला तथा सर्वज्ञ है, उसे ईश्वर के रूप मे निरूपित किया है –

मायाविम्बो वशीकृत्य तां स्यात् सर्वज्ञ ईश्वरः॥[1] (पं. द. १।१६)

माया उपादान और मायेश निमित्त बनकर इस उत्पत्तिशील विश्व को उत्पन्न करते हैं। मायेश अपने अंशभूत जीवों मे अपने को व्यक्त करके सारे जगत् को व्याप्त रखता है।[2]

ब्रह्म का जगदपेक्षी रूप जिसे शाङ्कर वेदान्त मायी अथवा सगुण रूप मे स्वीकार करता है। श्रुतियां ब्रह्म के इस प्रकार के विश्वग तथा इससे पर-दोनो रूपों को मान्यता देती है। यथा – 'यत्तदवेक्ष्यमग्राह्यमगोत्र ...' (मु. उ. १।१।६), 'एकमेवाद्वितीयम्' (छा. ६।२।२), 'निष्कलं निष्क्रियं शान्तम्' (श्वे. ६।१९) 'नेहनानास्ति किञ्चन' (कठ. २।१।११), 'न तत्र चक्षुर्गच्छति,

---

१. (क) इसी तथ्य का प्रतिपादन पददीपिका मे इस प्रकार किया गया है – 'मायाबिम्बो मायायां प्रतिफलितश्चिदात्मा तां मायां वशीकृत्य स्वाधीनीकृत्य वर्तमानः सर्वज्ञः सर्वज्ञत्वादिगुणकः ईश्वरः स्यात्।' (द्रष्टव्य – पं. द. १।१६ की पददीपिका।)

(ख) चैतन्यच्छाया के प्रवेश से जो माया शक्ति चेतनवत् प्रतीत होती है, इसकी उपाधि से ब्रह्म का ईश्वरत्व सिद्ध होता है –
तच्छक्त्युपाधिसंयोगात् ब्रह्मैश्वरतां व्रजेत॥ (पं.द. – ३।४०)

२. मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।
अस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत्॥ (वही, ६।२२३)

न वाग्गच्छति नो मनो...' (केन. १।१।३), 'यतो वाचो निवर्तन्ते' (तै. २।४।१), 'सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः' (छा. - ३।१४।२) 'तत्सर्वमसृजत्' (बृह. १।४।४), 'सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा' (श्वे. ६।११), 'ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्चजगत्यांजगत्' (ईश. -१), 'सर्वस्याधिपतिः एष सर्वेश्वरः' (बृह. ४।४।२२) आदि।

इन उभय प्रकार की श्रुतियों को समान एवं पारमार्थिक मान्यता देते हुये, शाङ्करोत्तर वेदान्त-मत ब्रह्म तथा ईश्वर के लक्षणो को एक ही परमात्मा का वैशिष्ट्य स्वीकार करते हैं।

माण्डूक्योपनिषद्कारिकाकार ने ईश्वर के स्वरूप की विशेष चर्चा न करते हुये, ब्रह्म के उस रूप का सङ्केत किया है, जो द्वैत-कल्पना का उद्भावक है--

'कल्पयत्यात्मनात्मानमात्मा देवः स्वमायया। (मा. का. २।१२)

आचार्य शङ्कर की भाष्यात्मक कृतियों मे समस्त प्राणियों द्वारा कृतकर्मो का अधिष्ठाता, प्रकृति-पुरूष-स्वामी तथा मायोपाधि से युक्त तत्त्व ईश्वर है। यह अचिन्त्य लक्षणी विश्व का उत्पादक, संस्थापक एवं संहारक है।[१] वार्तिककार सुरेश्वर ने अज्ञानाश्रित चराचर द्वैत प्रपञ्च रूप-इन्द्रजाल के उपादान कारण के रूप मे ईश्वर को प्रतिष्ठित किया है।[२]

पञ्चदशी 'अस्मान् मायी सृजते विश्वमेतत्' (श्वे. ४।९), '...स इमाल्ँलोकानसृजत्' (ऐत. १।१), 'स तपस्तप्त्वा इदं सर्वमसृजत यदिदं किञ्च' (तैति.- २।६) इत्यादि श्रुति-वाक्यों का सङ्केत करती हुयी मायी ब्रह्म को जगत् का स्रष्टा निरूपित करती है।[३] आचार्य विद्यारण्य चिदचिद्-प्रपञ्च को मायेश से उसी तरह अविर्भूत बतलाते हैं, जैसे अग्नि से चिनगारियों का आविर्भाव होताहै। आविर्भाव के पहले अव्यक्त जगत् को व्यक्ति भी परमेश्वर के द्वारा ही मिलती है। विराट् से लेकर मनु, देव, मानव, गो-अश्व

---

१. 'मनसाप्यचिन्त्यरचनारूपस्य जन्मस्थिति भङ्गयतः सर्वज्ञात् सर्वशक्तेः कारणाद् भवति।' (ब्र. सू. शां, भा. - १।१।२)

२. अस्य द्वैतेन्द्रजालस्य यदुपादानकारणम्।
अज्ञानं तदुपाश्रित्य ब्रह्मकारणमुच्यते॥
सर्वज्ञः सर्वशक्तिश्च सर्वात्मा सर्वगो ध्रुवः।
जगज्जनिस्थितिध्वांसहेतुरेष सदेश्वरः॥ (बृह. भा. वा. - १।४।३७१, ३७६)

३. अवलोक्य, पं. द. - ४।२। से ९ तक।

आदि पशु तथा हंसादि पक्षी—सबकी उद्‌भूति मे परमेश का अस्तित्व प्रभावी है।

औपाधिक चैतन्य तीन रूपों मे व्यक्त दिखलाई पड़ता है। ये रूप हैं —अन्तर्यामी, सूत्रात्मा और विराट्। यह रूप-त्रयी ईश्वर की है। इसी तरह पराचिति की व्यावहारिक दृष्टि से लब्ध रूप-चतुष्टयी – कूटस्थ, ब्रह्म-जीव एवम् ईश्वर—मे ईश्वर का सार्ष्टिक—अपेक्षा से अत्यन्त महत्त्व है। विशुद्ध चैतन्य का यह भेद उसी प्रकार अवलोक्य है, यथा एक ही आकाश का घटादि की उपाधियों से घटाकाश, महाकाश, जलाकाश एवम् अभ्राकाश – रूप मे दर्शन शक्य है। घटोपाधि से युक्त आकाश घटाकाश, घटानच्छन्न आकाश महाकाश, घट-स्थ जल मे प्रतिबिम्बित आकाश जलाकाश एवं महाकाश के बीच स्थित मेघ-पटल के नीर मे दृष्ट आकाश अभ्राकाश का रूप धारण करता है।[१] अभ्राकाश अथवा मेघाकाश मे आकाश के प्रतिबिम्बन के विषय मे सन्देह उठता है कि, क्योंकि मेघ मे जल का स्पष्ट दर्शन नहीं होता। अतः इसमे आकाश के प्रतिबिम्ब का प्रश्न ही नहीं उठता। उत्तर पक्ष की ओर से इसका समाधान यह है कि चूंकि, मेघ आकाश मे रहता है और मेघ मे नीर रहा करता है। अतः अम्बु के स्पष्ट न दिखने के बावजूद अनुमान प्रमाण द्वारा इसके आकाश-प्रतिबिम्बन की बात सिद्ध होती है।[२]

उपर्युक्त आकाश की उपाधियों मे जिस तरह आभ्राकाश है, इसी तरह चित् तत्त्व के उपहित रूपों मे ईश्वर है।[३] पञ्चदशी मेघाकाश तथा महाकाश की भांति ईश्वर एवं ब्रह्म को विविक्त रूप मे मानने का उपदेश देती है।[४] इस प्रकार इनमे अभेद-दर्शन अविवेकी लोग करते हैं, न कि

---

१. महाकाशस्य मध्ये यन्मेघमण्डलमीक्ष्यते।
प्रतिबिम्बतया तत्र मेघाकाशो जले स्थितः॥ (पं.द.- ६।२०)

२. मेघांशरूपमुदकं तुषाराकारसंस्थितम्।
तत्र स्वप्रतिबिम्बोऽयं नीरत्वादनुमीयते॥ (वही, ६।२१)

३. विशेष :— आकाश रूप ब्रह्म मेघ रूप माया मे तुषार रूप बुद्धि वासना मे प्रतिबिम्बित होकर ईश्वरत्व की संज्ञा प्राप्त करता है, जैसा कि पन्चदशी का अभिधान है —
मेघवत् वर्तते मायामेघस्थिततुषारवत्।
धीवसनाश्चिदाभासस्तुषारस्थरववत्स्थितः॥ (वही, ६।१५६)

४. मेघाकाशमहाकाशौ विविच्येते न पामरैः॥
तद्ब्रह्मेशयोरैक्यं पश्यन्त्यापातदर्शिनः॥ (वही, ६।१९४)

विवेकी। चित्रपट मे दृष्ट श्वेत, (अन्न- लिप्त) मलिन, लाञ्छित (अर्थात् मसि-धूमिल) एवं रञ्जित (अर्थात् वर्ण-पूरित) अवस्थाओं की तरह परम तत्त्व भी (विश्वापेक्षा से) चार अवस्थाओं को धारण करता हुआ दिखता है। ये अवस्थायें हैं – चित्, अन्तर्यामी, सूत्रात्मा और विराट्। इनमे माया के साक्षात् सम्बन्ध से अन्तर्यामित्व, अपञ्चीकृत महाभूतों की विकृति सूक्ष्म शरीर के सम्बन्ध से सूत्रात्मत्व तथा पञ्चीकृत पञ्चमहाभूतों के कार्य समष्टि स्थूल शरीर के सम्बन्ध से विराट्मयता की निष्पत्ति होती है।

जगत् के अविर्भाव एवं तिरोभाव अर्थात् उत्पत्ति और प्रलय का निष्पादक ईश्वर है।[१] जिस तरह समेटे हुये चित्रपट को फैला देने पर उसमें चित्रित सारे चित्र सामने आ जाते हैं, उसी तरह ईश्वर स्व मे समाहित जगत् को आविर्भूत करके इसका रूप सामने ला देता है। यथा चित्रपट के प्रसरित होने पर नाना प्रकार के चित्र दृष्टि-पथ मे आते हैं, तथैव विश्व अविर्भूत होने पर विभिन्न रूपों मे दृष्टि-गोचर होता है। जीवों के कर्मानुसार ईश्वर इनको भी व्यवस्थित करता है। सङ्कुचित चित्र-पट मे जैसे सारे चित्र विलीन हो जाते हैं, तद्वत् ईश्वर भी समस्त जगत् को अपने मे तिरोहित कर लेता है। यह तिरोभाव ही विश्व का लय है।

एक जिज्ञासा उठती है कि, ईश्वर मे जड़ एवं चेतन- दोनो की उपादानता कैसे सम्भव हो सकती है? उपहित चैतन्य प्रकृतिक ईश्वर चेतन पदार्थों का उपादान भले ही बन सकता है, परन्तु अचेतन पदार्थों का उपादानत्व इसमे असम्भव ही प्रतीत होता है। वास्तविकता यह है कि चूंकि, ईश्वर के स्व-रूप मे माया (जड़ता) एवम् औपाधिक चैतन्य दोनो प्रभावी हैं, अतः वह जड़ एवम् अजड़ – उभय प्रपञ्च का उपादान-हेतु बन सकता है। पञ्चदशी ईश्वर को मायोपाधि से अचेतन एवं चैतन्यभासांश से चेतन पदार्थों का उपादान बनने मे समर्थ स्वीकार करती है।[२]

---

१. जगद्योनिर्भवेदेष प्रभवाप्ययकृत्त्वतः।
आविर्भावतिरोभावावुत्पत्तिप्रलयौ मतौ॥ (वही, ६।१८२)

२. अचेतनानां हेतुस्याज्जाड्यांशेनेश्वरस्तथा।
चिदाभासांशतस्त्वेष जीवानां कारणं भवेत्॥ (पं. द. – ६।१८७)

आचार्य विद्यारण्य (निरूपाधिक) ब्रह्म की जगत्कारणता का पूर्णतः प्रतिकार करते हैं। मायोपाधिक ब्रह्म ही विश्व की उत्पत्यादि का कारण बनता है, न कि उपाधिरहित ब्रह्म। शाङ्कर वेदान्त मे जहां भी परमात्मा मे जगद्धेतुत्व का प्रतिपादन हुआ है, वह मायेश ब्रह्म के लिये ही है। वार्तिककार सुरेश्वर की स्थापना को उद्धृत करते हुये पञ्चदशीकार का अभिमत है कि, यहां जिस परमात्मा मे जगत्कारणता का आख्यान है, वह शुद्ध परमात्मा के वजाय ब्रह्माध्यस्त ईश्वर के लिये है।[१] उपक्रम, उपसंहार अवभ्यास, अपूर्वताफल, अर्थवाद एवम् उत्पत्ति– श्रुति के इन षट् तात्पर्य निर्णायक लिङ्गों द्वारा अनुपहित (असङ्ग) तथा उपहित ब्रह्म (ईश्वर) मे भेद स्पष्ट हो जाता है। तैतिरीय श्रुति 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (२।१।१) से ब्रह्म का लक्षण उपक्रमित करती है और 'यतो वाचो निवर्तन्तेऽप्राप्य मनसा सह' द्वारा ब्रह्म के वास्तविक रूप का उपसंहरण करती है।[२] "अस्मान्मायी सृजते विश्वमेत्तस्मिंश्चान्यो मायया सन्निरूद्ध', (श्वे. - ४।१०) एवं 'तस्माद् वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः' (तै. २।१०) प्रभृति श्रुति-वाक्य मायायुक्त और आनन्दधर्मा ईश्वर को ही वैश्व प्रपञ्च का कारण बतलाते हैं। विष्टप इसी ईश्वर की सर्जनेच्छा का परिणाम है।

एक शङ्का उत्थित होती है कि, श्रुतियों के क्रमिक एवं युगपत्– उभयरूप मे सृष्टि होने का सङ्केत मिलता है। यथा– 'तस्माद् वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः (तै.-२।१) तथा 'इदं सर्वमसृजत्' (वही, २।६)। ऐसी स्थिति मे क्रमिक अथवा युगपत् किस सृष्टि को मान्यता दी जाय। इस प्रकार के सन्देह के प्रति सिद्धान्ती आचार्यों का कथन है कि, श्रुतियों मे दोनो प्रकार की सृष्टि का उल्लेख होने के कारण दोनो स्वीकार्य हैं–

> **क्रमेण युगपद्वैषा सृष्टिर्ज्ञेया यथा श्रुतिः।**
> **द्विविधश्रुतिसद्भावाद् द्विविधस्वप्नदर्शनात्॥** (पं. द. - ६।१९९)

---

१. अन्योन्याध्यासमत्रापि जीवकूटस्थयोरिव।
ईश्वरब्रह्मणोः सिद्धं कृत्वा ब्रूते सुरेश्वरः॥ (पं. द. ६।१९०)

२. सत्यं ज्ञानमनन्तं चेत्युपक्रम्योपसंहृतम्।
यतो वाचो निवर्तन्त इत्यसङ्गत्वनिर्णयः॥ (वही, ६।१९६)

परमेश्वर की बहुत्व विषयिणी कामना प्रथमतः हिरण्यगर्भ के रूप मे परिणत होकर आगे सृष्टि का विकास करती है। हिरण्यगर्भ पट मे अनुस्यूत तन्तु की भांति जीवों की सूक्ष्म शरीर का समष्टि रूप है। यह प्राणियों के स्थूल एवं लिङ्ग शरीरों मे 'अहमस्मि' इस प्रकार का अभिमान रखनेवाला है। इसमे ज्ञान, क्रिया तथा इच्छा शक्ति का वास रहता है। हैरण्य काल मे जगत् का रूप प्रातः अथवा सान्ध्य कालिक तमस् वत् स्पष्ट नहीं रहता। सम्प्रति प्रातः एवं सायं समय मे दृष्ट ईषत् अन्धकार के समान विश्व का रूप धुधला रहता है। जिस प्रकार अन्न तथा शाक-आदि पदार्थ अपने उत्पत्ति काल मे मसृण पत्तियों एवं शाखाओं से युक्त रहते हैं, तद्वत् इस समय विश्व का रूप भी कोमल (शिशु के जैसा) रहता है। जगत् का स्वरूप विराट्-काल मे स्पष्ट हो जाता है। विराट्कालिक सृष्टि नवजात वृक्ष के वजाय उस विशाल वृक्ष से उपमेय है, जो शाखाओं प्रशाखाओं एवं फल-फूल से समृद्ध हो। ऋग्वेद के पुरुष-सूक्त मे वर्णित पुरूष तथा श्रीमद्भगवद्गीता के एकादशाध्याय मे प्रभु कृष्ण द्वारा दर्शित बृहद् विराट-रूप, ईश्वर के इसी विराट् कालिक रूप के परिचायक हैं।[१] ब्रह्मा से लेकर संसार का छोटा से छोटा जीव विराट्कालीन ईश्वर के अङ्ग-प्रत्यङ्ग से सन्नद्ध है। इस प्रकार ब्रह्मा, विष्णु, महेश, कार्तिकेय, गणेश, इन्द्र, वरूण, अग्नि आदि बिबुध-समुदाय एवं पशु, पक्षी, नदी, पर्वत, वृक्ष इत्यादि वस्तुओं मे ईश्वर का अस्तित्व होने के फलस्वरूप पूजार्हता विद्यमान है।[२]

माया मे प्रतिबिम्बित ईश्वर श्रुतियों मे मायापति कहा गया है। यही अन्तर्यामी, सर्वज्ञ तथा जगत् कारण भी माना गया है। यथा –

> मायाधीनश्चिदाभासः श्रुतौ मायी महेश्वरः।
> अन्तर्यामी च सर्वज्ञो जगद्योनिः स एव हि॥ (पं.द. - ६।१५७)

आचार्य विद्यारण्य ने 'सुषुप्तस्थान एकीभूतः प्रज्ञानघान एव' (नृ. पू. ता. - ४।१) श्रुति को मान्यता देते हुये श्रुति मान्य सौषुप्त आनन्द अर्थात्

---

१. विश्वरूपाध्याय एष उक्तः सूक्तेऽपि पौरुषे। (पं. द. - ६।२०५)

२. जलपाषाणमृत्काष्ठावास्या कुद्दालकादयः।
ईश्वराः सर्व एवैते पूजिताः फलदायिनः॥ (पं. द. - ६।२०८)

शेमुषी-विमर्श मे प्रतिबिम्ति आनन्दमयता मे ईश्वरत्व का दर्शन किया है।[१] यह वेदाभीष्ट सर्वेश्वर है। सबके स्वामी एवम् अमितशक्तिमान् होने के कारण ईश द्वारा सृष्ट विश्व मे किसी के द्वारा कोई परिवर्तन सम्भाव्य नहीं।[२] सुषुप्तकालीन कारणभूत अज्ञान मे समस्तप्राणियों की बुद्धि-गत वासना कार्यरूप मे विद्यमान रहती है। इन वौद्धिक वासनाओं के विषयीभूत जगत् अर्थात् बुद्धिगत वासनात्मक अज्ञान की उपाधि से उपहित होने पर ईश्वर की सर्वज्ञता सिद्ध होती है।[३] प्रश्न उठता है कि, अगर आनन्दवान् ईश्वर मे सर्वज्ञत्व है, तो इसका अनुभव क्यों नहीं होता? सर्वज्ञता की अनभूति का कारण पञ्चदशी वासनाओं की परोक्षता को अङ्गीकार करती है।[४] चूंकि, बुद्धि मे सर्वज्ञता अनुभूति का विषय बनती है, इसलिये इसके द्वारा वासनाओं मे भी इसकी अनुभूति की संसिद्धि, अनुमान प्रमाण द्वारा हो जाती है –

सर्वबुद्धिषु तद्दृष्ट्वा वासनास्वनुमीयताम्॥ (पं. द. - ६।१६२)

सर्वज्ञता की तरह ईश्वर मे अन्तर्यामित्व भी प्रमाणित होता है। विज्ञानमय से लेकर अन्नमयादि कोशों तथा अन्य पृथिवी आदि पदार्थों मे व्याप्त रहकर ईश्वर इनका नियमन करता है। बुद्धि के अन्तस् तत्त्व के रूप मे विद्यमान ईश्वर बुद्धि का नियमन करता हुआ भी बुद्धि द्वारा अदृश्य रहता है।[५] इस प्रकार जीवों के अन्तःकरण मे निवास करने वाले तथा समस्त जागतिक पदार्थों के कारण रूप ईश्वर की नियामकता जीव तथा जीवेतर अन्य सांसारिक पदार्थों – दोनो मे प्रभावी रहती है।[६] ईश्वर

---

१. सौषुप्तमानन्दमयं प्रकम्यैवं श्रुतिर्जगौ।
एष सर्वेश्वर इति सोऽयं वेदोक्त ईश्वरः॥ (प. द्र. ६।१५८)

२. अयं यत्सृजते विश्वं तदन्यथायितुं पुमान्।
न कोऽपि शक्तस्तेनायं सर्वेश्वर इतीरितः॥ (वही, ६।१६०)

३. अशेषप्राणिबुद्धीनां वासनास्तत्र संस्थिताः।
ताभिः क्रोड़ीकृतं सर्वं तेन सर्वज्ञः ईरितः॥ (वही, ६।१६१)

४. वासनानां परोक्षत्वात्सर्वज्ञं नहीक्ष्यते। (वही, ६।१६२)

५. बुद्धौ तिष्ठन्नान्तरोऽस्या धीयानीक्ष्यश्च धीवपुः। (पं. द. - ६।१६४)

६. अन्तर्यमयतीत्युक्तयाऽयमेवार्थः श्रुतौ श्रुतः।
पृथित्यादिषु सर्वत्र न्यायोऽयं योज्यतांधियाम्॥ (वही, ६।१७५)

के अन्तर्यामित्व को स्मृति द्वारा पुष्ट करते हुये पञ्चदशी प्रणेता विज्ञानमय जीवों के हृदय निष्ट इस तत्त्व को इनका उपादान मानते हैं।[१] ऊपर उक्त 'सर्वत्र व्याप्ति द्वारा ईश्वर का अन्तर्यमयन' किस रूप मे सम्भव होता है, पञ्चदशी इसका भी उल्लेख करती है। इसके अनुसार जिस प्रकार तन्तु पट का उपादान कारण होकर पट मे व्याप्त रहता है, उसी प्रकार ईश्वर सम्पूर्ण जागतिक प्रपञ्च का उपादान बनकर, स्वव्याप्ति द्वारा इसको नियन्त्रित करता है।[२] विचिकित्सा जन्म लेती है कि, अगर ईश्वर विश्व की समस्त वस्तुओं मे व्याप्त है, तो वह इनमे दिखलाई क्यों नहीं पड़ता? इसका समाधान सिद्धान्ततः यह है कि पट का उपादान तन्तु है, तन्तु से तन्तु के अंशु आदि सूक्ष्म तत्व हैं। तन्तु की जो सूक्ष्मतम वस्तु है, वह जिस तरह पट मे अवस्थित रहकर भी दृष्टि का विषय नहीं बन पाती, उसी तरह वैष्टप वस्तुओं मे उपादानरूप मे व्याप्त जो सवीभ्यन्तर पदार्थ है, वह ईश्वर है। अत्यन्त आभ्यन्तरत्व के कारण प्रत्यक्ष के द्वारा इसकी उपलब्धि का बोध नहीं हो सकता। अनुमिति द्वारा इसका बोध सम्भव है।[३]

श्रुतियां तथा स्मृतियां इसलिये अनुल्लङ्ध्य हैं, क्योंकि ये ईश्वर की आदेश हैं। ईश्वर सबका निदेशक है। अतः इसका आदेश सर्वथा पाल्य है। इसकी आज्ञा का अतिक्रमण भय का कारण कहा गया है। सारी प्राकृतिक शक्तियां ईश्वर के आदेश पर अपने-अपने कार्य-सम्पादन मे तत्पर हैं। कोई भी जड़-चेतन पदार्थ ईश्वर के निर्देशों का उल्लङ्घन करने मे समर्थ नहीं है। इसी प्रकार सांसारिक वस्तुओ में अन्तर्निष्ठ परमात्मा (ईश्वर) बाह्य एवम् अभ्यन्तर- दोनो प्रकार से जगत् का प्रशासक सिद्ध होता है। यह

---

१. (क) ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशोऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥ (वही, ६।१७१)

(ख) सर्वभूतानि विज्ञानमयास्ते हृदये स्थिताः।
तदुपादानभूतेशस्तत्र विक्रियते खलु॥ (वही, ६।१७२)

२. तन्तुः पटे स्थितो यदुपादानतया तथा।
सर्वोपादानरूपत्वात्सर्वत्रायमवस्थितिः॥ (प.द., ६।१६५)

३. (क) पटादप्यान्तरस्तन्तु स्तन्तोरप्यंशुरान्तरः।
आन्तरत्वस्य विश्रान्तिर्यत्रासावनुमीयताम्॥ (वही, ६।१६६)

(ख) द्वित्र्यान्तरत्वकक्षाणां दर्शनेऽप्ययमान्तरः।
न वीक्ष्यते ततो युक्तिश्रुतिभ्यामेव निर्णयः॥ (वही, ६।१६७)

सबका प्रवर्तक है, सबका नियन्ता है– इसकी पुष्टि पञ्चदशी मे उद्धृत इस पद्य द्वारा स्पष्टतः होती है–

जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिर्जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः।
केनापि देवेन हृदिस्थितेन यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि॥
(पं. द. ६।१७६)

विज्ञानमयता जीव का स्वरूप है। जीव शरीर के अन्तर्गत हृदय मे स्थित रहता है। जीव का यह विज्ञानवान् रूप उपादानभूत अन्तर्यामी परमेश्वर के परिणाम रूप मे स्वीकार्य है। परमेश-परिणमन रूप जीवात्मायें आरोह और भ्रमण के कारण संसरणशील बन जाते हैं। नश्वर देहादि मे आसक्ति (अभिमान) जीव का आरोहत्व है तथा शुभाशुभ कर्मों मे प्रवृत्ति इसका भ्रमण है। ईश्वर जीव की प्रवृत्ति तथा इसके भ्रमण का भी हेतु अपनी माया से सिद्ध होता है।[1]

यहाँ एक प्रश्न उठता है कि, यदि जीव की प्रवृत्ति का सम्पादक भी ईश्वर है, तो पुरुष-प्रयास आदि व्यर्थ हैं। इस प्रश्न का समाधान पञ्चदशी पुरुष-प्रयास (पुरुषार्थ) को ईश्वर का विवर्त मानकर करती है। तात्पर्य यह कि, पुरुष अर्थात जीव का प्रयत्न ईश्वर-रूप ही है। अतः इसके पृथक न होने से इसके वैयर्थ्य का प्रश्न नहीं उठता।[2] पुनः प्रश्न उत्थित होता है कि, अगर पुरुष-प्रयास परमेशमय है, तो जीव के यमयन और प्रवर्तन की निरर्थकता प्रमाणित होती है। ईश द्वारा जीव के यमयन, प्रवर्तन आदि की भी अर्थहीनता इसलिये नहीं अङ्गीकार्य है, क्योंकि जीव भी उसी परमेश्वर का परिणत रूप है। ईश को अन्तर्यामी एवं प्रेरक आदि रूप मे जानने से जीव मे स्व (शुद्ध) रूप बोध की धिषणा का समुदय होता है।[3]

ईश्वर जीवों का पूज्य बनकर उनके सपर्याऽनुसार फलदायक है। जिसकी पूजा मे जितना अधिक श्रद्धा एवं समर्पण रहता है, उसको ईश्वर उतना ही उत्कर्षविधायक फल भी देता है। यहाँ एक पृच्छा जागृत होती

---

१. विज्ञानमयरुपेण तत्प्रवृत्तिस्वरूपतः।
स्वशक्त्येशो विक्रियते मायया भ्रामणं हितत्॥ (पं. द. - ६।१७४)

२. नार्थः पुरुषाकारेणेत्येवं मा शङ्क्यतां यतः।
ईशः पुरुषाकारस्य रूपेणापि विवर्तते॥ (वही, ६।१७७)

३. तथापीशस्य बोधेन स्वात्मासङ्गधीजनिः॥ (पं. द. - ६।१७८)

है कि, जो ईश्वर प्राणियों के उत्तमाधम अपचिति के अनुसार समस्त फल दे सकता है, क्या मुक्ति भी उसके द्वारा प्रदेय है? इसके उत्तर मे सिद्धान्त पक्ष का प्रतिष्ठापन है कि, जैसे जागरण के विना स्वप्न का नाश सम्भव नहीं है, वैसे ही ब्रह्म बोध के अभाव मे मुक्ति-आप्ति असम्भव है।[१] आचार्य विद्यारण्य ईश्वर तथा जीव के विषय मे विभिन्न दार्शनिक मतों द्वारा उत्थापित विवाद का कारण भी ब्रह्म-तत्त्व के अबोध को बतलाते हैं।[२] आनन्दस्वभावक ईश्वर एवं विज्ञान प्रकृतिक जीव दोनो की सत्ता क्रमशः ब्रह्म तथा कूटस्थ आत्मा पर अधिष्ठित है।[३] ईश तथा जीव अपने अधिष्ठान पर अध्यस्त हैं। सत्ता की वास्तविकता अधिष्ठान ब्रह्म और कूटस्थ मे ही है।

जगत् के प्रति ईश्वर का हेतुत्व उत्पत्ति एवं प्रलय के रूप मे ज्ञेय है। इन्हीं को दूसरे शब्दों में अविर्भाव तथा तिरोभाव कहा जाता है। जिस प्रकार हम लोक मे दिन और रात्रि तथा बोध एवं सुषुप्ति को एक दूसरे से संयुक्त देखते हैं, उसी प्रकार उत्पत्ति और लय भी परस्पर सम्बद्ध हैं। ईश्वर जीवों की कर्मापेक्षा से स्वेच्छाऽनुसार स्वयं मे समाहित जगत् का आविर्भाव करता है एवं जीवात्माओं के (शुभाशुभ) कर्मों के क्षीण होने पर इसका तिरोभाव भी कर देता है।[४]

माया के सहयोग से सम्पूर्ण जगत् को व्यक्ति, संस्थिति तथा संवर्तन देनेवाला सर्वज्ञ, सर्वान्तर्यामी, सर्वत्र व्याप्त एवम् आनन्दरूप ईश्वर की सत्ता मायिक है। जीव एवम् ईश्वर को पञ्चदशी माया रूपी कामधेनु के दो वत्सों के रूप मे परिनिष्ठित करती है –

मायाख्यायाः कामधेनोर्वत्सौ जीवेश्वरावुभौ।
यथेच्छं पिबतां द्वैतं तत्त्वं त्वद्वैतमेव हि।। (पं. द. – ६।२३६)

---

१. मुक्तिस्तु ब्रह्मतत्त्वस्य ज्ञानादेव न चान्यथा।
स्वप्रबोधं विना नैव स्वस्वप्नो हीयते यथा।। (वही, ६।२१०)

२. अद्वितीयं ब्रह्मतत्त्वमसङ्गं तन्न जानते।
जीवेशयोर्मायिकयोर्वृथैव कलहं ययुः।। (वही, ६।२१४)

३. एवमानन्दविज्ञानमयौ मायाधियोर्वशौ।
तदधिष्ठानकूटस्थ ब्रह्मणी तु सुनिर्मले।। (वही, ६।२२६)

४. पुनस्तिरोभावयति स्वात्मन्येवाखिलं जगत्।
प्राणिकर्मक्षयवशात्सङ्कोचितपटो यथा।। (वही, ६।१८४)

मायां के ये दोनो सूनु द्वैत-दुग्ध का पान करके अस्तित्ववान् रहते हैं। तात्पर्य यह है कि, द्वैत-प्रपञ्च की अपेक्षा से ही इनका अस्तित्व है। अद्वैत-दृष्ट्या स्वप्न अथवा इन्द्रजाल की तरह ये मिथ्या हैं। माया अपने अचिन्त्य प्रभाव से चिदाभास के दो रुपों मे एक को आनन्दमयता तथा दूसरे को विज्ञानवत्ता के रूप मे प्रकल्पित करती है। ये दोनो कल्पित पदार्थ अपने प्रभाव से जिस काल्पनिक प्रपञ्च को विस्तार देते हैं, वही चेतनाचेतनात्मक विश्व के रूप मे जाना जाता है।[१] जिस प्रकार जीव और ईश्वर माया की कल्पना पर श्रित होने के कारण असत् हैं, इसी प्रकार इनके द्वारा प्रकल्पित सम्पूर्ण विश्व की असत्ता प्रमाणित होती है।

---

१. आनन्दमयविज्ञानमयावीश्वरजीवकौ।
मायया कल्पितावेतौ ताभ्यां सर्वं प्रकल्पितम्॥ (पं० द०, ६।२१२।२)

पञ्चम-परिच्छेद

जीव : पञ्चदशीकार प्रकृति के दो भेदों मे माया मे प्रतिबिम्बित चैतन्य को ईश्वर तथा अविद्या मे प्रतिबिम्बित चैतन्य को जीव की संज्ञा देते हैं।[1] अधिष्ठान चित् लिङ्गदेह एवं लिङ्गदेह मे अवस्थित चिदाभास– इन तीनो के समूह को भी जीव कहा जाता है।[2] जीवों की उपाधिभूत अविद्या के न्यूनाधिक्य के कारण, जीवों के देव, तिर्यक्, पशु आदि– अनेक भेद पाये जाते हैं। जीववशग अविद्या, स्थूल, सूक्ष्म और कारणशरीर का कारण बनती है। अविद्याजात कारण शरीर मे तादात्म्याध्यास-वशात् जीव इसका अभिमानी बनकर प्राज्ञ बन जाता है।[3] ईश्वर की अनुज्ञा से तमःप्रधानप्रकृति जीवात्माओं के सुख-दुःख के सिद्धि-हेतु आकाशादि पञ्चभूतों की उत्पत्ति करती है। मलिन सत्त्वप्रधान अविद्योपाधिकप्राज्ञ तेजःशब्द-वाच्य अन्तःकरण (लिङ्गशरीर) मे तादात्म्याभिमान के कारण 'तैजस' संज्ञा प्राप्त कर लेता है।[4] विशुद्ध सत्त्वप्रधानमायोपहित ईश्वर इसी शरीर मे अभिमान करने के फलरूप 'हिरण्यगर्भ' के रूप मे जाना जाता है। परमेश्वर समस्त तैजसों के स्व-रूप मे तादात्म्य-बोध के फल रूप समष्टि रूप मे बोध्य है। परन्तु जीव मे इस तादात्म्य ज्ञान का अभाव रहता है, अतः यह व्यष्टि संज्ञ है। हिरण्यगर्भ व्यष्टिसंज्ञक तैजसों के स्थूल शरीर मे अभिमान रखने के कारण वैश्वानर के रूप मे जाना जाता है। तैजस अपने स्थूल काय मे अहङ्कार करने के प्रतिफल मे देव, तिर्यक् मनुष्य प्रभृति अनेक रूपों की संज्ञा आप्त कर लेता है। विश्वसंज्ञक जीवात्मायें तत्त्वज्ञान से विरहित

---

१. अविद्यावशगस्तत्वन्यस्तद्वैचित्र्यादनेकधा।
सा कारणशरीरं स्यात्प्राज्ञस्तत्राभिमानवत्॥ (पं. द. - १।१७)

२. चैतन्यं यदधिष्ठानं लिङ्गदेहश्च यः पुनः।
चिच्छायालिङ्गदेहस्था तत्सङ्घो जीव उत्त्यते॥ (वही, ४।११)

३. वही, १।१७

४. विशेष : पञ्चज्ञानेन्द्रियां, पञ्चकर्मेन्द्रियां, पञ्चप्राण एवं बुद्धि और मन – इस सप्तदशसंख्याक सूक्ष्मशरीर का ही अपर नाम लिङ्गशरीर भी है।

होकर सुखादि भोगों के प्राप्त्यर्थ नाना प्रकार के कर्म करते रहते हैं, परिणामतः ये इनसे मिलने वाले दुःख-सुख के भोक्ता बने रहते हैं। इनकी स्थिति यह रहती है कि, ऐसे कर्ता तथा भोक्ता जीव इस संसरणशील जगत् के जन्म-मृत्यु के बन्धन से मुक्त नहीं हो पाते।[१]

अन्न, प्राण, मन, बुद्धि एवम् आनन्द इन पञ्चकोशों से आवृत जीव अपने शुद्ध रूप का विस्मरण करके संसारी बना रहता है।[२] पञ्चीकृत भूतों से उद्भूत देह अन्नमय कोश है। लिङ्गशरीर मे प्राप्त रजस् से उत्पन्न प्राणादि एवं पञ्चकर्मेन्द्रियों को मिलाकर प्राणमयकोश का निर्माण होता है। पञ्चमहाभूतों के सत्त्व का विकार (विमर्शक) मन और आकाशादि भूतों की कार्यरूप श्रोत्रादि ज्ञानेन्द्रियां– ये सब मिलकर मनोमय कोश का रूप धारण करते हैं। पञ्चभूतों के ही सत्त्व से जनित निश्चयात्मिका धी, पूर्वोक्त श्रोत्रादि ज्ञानेन्द्रियों के साथ विज्ञानमय कोश की निर्मिति करती है। कारण-कार्यरूप अविद्या मे निहित मलिन सत्त्व प्रिय, मोदादि ‹वृत्तियों से संयुक्त होकर 'अनन्दमय कोश' के रूप मे जाना जाता है। इन पञ्चकोशों से आच्छन्न आत्मा, इन-इन कोशों के तादात्म्याभिमान के कारण अन्नमयादि कोशों का वाच्य बन जाता है। इस प्रकार वस्तुतः इनसे भिन्न होता हुआ भी आत्मा कोशाच्छादित रूप को ही स्व-रूप माने रहता है।

परमात्मा शक्ति (माया) की उपाधि-विवक्षा मे ईश्वराव एवं पञ्चकोशों की उपाधि- विवक्षा मे जीवत्व को प्राप्त करता है।[३] इस तरह ईश्वर तथा जीव परतत्त्व के औपाधिक रूप मे (ही) प्रतिष्ठेय हैं। शुद्ध सत्ता का दोनो के प्रति यह कार्य इसी तरह से अवबोध्य है, जिस तरह लोक मे एक ही व्यक्ति पुत्र का पिता एवं पौत्र का पितामह बनता है। यथा, पुत्र और पौत्र के अभाव मे वह व्यक्ति न तो किसी का पिता तथा न ही किसी का पितामह माना जाता है, तथैव शक्ति और कोश के हैन्य मे शुद्ध सत्ता न तो ईश्वर और न ही जीव के रूप मे प्रतीत हो पाती है।

---

१. तैजसा विश्वतां याता देवतिर्यङ्नरादयः।
ते परागदर्शिनः प्रत्यक्तत्त्वबोधविवर्जिताः॥ (पं. द. १।२९)

२. अन्नं प्राणो मनो बुद्धिरानन्दश्चेति पञ्च ते।
कोशास्तैरावृतः स्वात्मा विस्मृत्या संसृति व्रजेत्॥ (पं. द. - १।३३)

३. कोशोपाधिविवक्षायां याति ब्रह्मैव जीवताम्।
पितापितामहश्चैकः पुत्रपौत्रौ यथा प्रति॥ (वही, ३।४१)

पञ्चदशी मुण्डक, बृहदारण्यक प्रभृति श्रुति वाक्यों के द्वार से इस बात को सम्पुष्ट करती है कि, अक्षर तत्त्व से स्थावर-जङ्गम-सृष्टि का व्यञ्जन होता है। जीवात्माओं की वपु मे जीवत्व रुप मे प्रविष्टि लेने के कारण ईश्वर का जीव-रूपत्व भी सिद्ध होता है।

आचार्य विद्यारण्य ने चित् के चार भेदों (अवस्थाओं) – कूटस्थ, ब्रह्म, जीव तथा ईश्वर– मे कूटस्थ को जीव से पृथक् रखा है। पञ्चीकृत महाभूतों की कार्य रूप स्थूल शरीर एवम् अपञ्चीकृत की कार्यभूत सूक्ष्मशरीर – इन दोनों से कूट की तरह अविच्छिन्न रहने वाला तत्त्व कूटस्थ है।[१] कूटस्थ चैतन्य पर आरोपित बुद्धि मे जो चैतन्य का आभास रहता है, वही चिदाभास प्राणों से युक्त होकर जीव के रूप मे अभिहित होता है। जीवसंज्ञी चिद्प्रतिबिम्ब संसारी होने के कारण संसार की सीमाओं मे परिबद्ध रहता है।[२] जलाकाश से आच्छादित घटाकाश की भांति अन्योन्याध्यास के कारण जीव मे कूटस्थ तिरोहित रहता है। इसी कारण से वह प्रतिभासित नहीं होता।[३] अनादि अविद्या आवरण द्वारा कूटस्थ को भासित नहीं होने देती है और विक्षेप द्वारा 'कूटस्थ नहीं है' इस प्रकार मिथ्या-वृत्ति का सर्जन कर देती है।[४] इस प्रकार अविद्या के आवरण से कूटस्थ का अविकारी एवम् आनन्द लक्षण तिरोहित हो जाता है और स्थूल तथा सूक्ष्म शरीरधारी चिदाभास शुक्ति मे रजत की तरह विक्षेप द्वारा अध्यस्त कर दिया जाता है। सीपी मे रूप्य-भ्रम के उदाहरण द्वारा आचार्य स्पष्ट करता है कि, विक्षेप की स्थिति मे जैसे शुक्ति की इदन्ता और सत्यता रजत मे प्रतीत होती है, उसी तरह कूटस्थ-गत सत्यता तथा स्वता चिदाभास मे दिखलाई पड़ती है।[५]

---

१. अधिष्ठानतया देहद्वयाच्छिन्नचेतनः।
कूटवन्निर्विकारेण स्थितः कूटस्थ उच्यते॥ (पं. द. – ६।२२)

२. वही, ६।२३

३. जलव्योम्ना घटाकाशो यथा सर्वैस्तिरोहितः।
तथा जीवेन कूटस्थः सोऽन्योन्याध्यास उच्यते॥ (वही, ६।२४)

४. विक्षेपावृत्तिरूपाभ्यां द्विधाऽविद्या व्यवस्थिता।
न भाति नास्ति कूटस्थ इत्यापादानमावृतिः॥ (वही, ६।२६)

५. इदमंशश्च सत्यत्वं शुक्तिगं रूप्य ईक्ष्यते।
स्वयंत्वं वस्तुता चैवं विक्षेपे वीक्ष्यतेऽन्यगम्॥ (वही, ६।३४)

शाङ्कर वेदान्त मे कूटस्थ अथवा साक्षी के विषय मे कई प्रकार के विचार हैं। चित्सुखाचार्य ने जीव-सहवासी सतत जाग्रत-द्रष्टा को साक्षी के रूप मे देखा है। वार्तिककार ने कर्तृत्व, भोक्तृत्व एवं ज्ञातृत्व से संश्लिष्ट जीव से भिन्न तटस्थ तत्त्व के रूप मे साक्षी को स्वीकार किया है। यह चिन्मय है। यह आत्म-चैतन्य है। साक्षी की आवश्यकता इस रूप मे है कि, समस्त चेतना चेतन जगत् का व्यक्ति-रूप साक्षी के साक्ष्य मे ही सिद्ध होता है। प्रश्न उठता है कि आत्मा का साक्षी कौन बनता है? इसके उत्तर मे आचार्य का कथन है कि चिद्रूप आत्मा स्वयं प्रकाश रूप है, इसको किसी साक्षी की अपेक्षा नहीं है। चिदात्मा नामरूपात्मक जगत् का भासक तथा द्रष्टा-दोनो है–

नामरूपाद्यमिव्यक्तेः प्राग्व्यक्तापह्नवेऽप्यभूत्।
अव्यक्ताध्यक्ष एकाकी व्यक्तं मत्साक्षिकं जगत्॥

(बृ.भा.वा. - १।४।५२०)

कौमुदीकार ईश्वर मे ही साक्षित्व प्रतिष्ठित करते हैं। जीवों की प्रवृत्ति-निवृत्ति का ज्ञाता, इनके ज्ञानाज्ञान का उद्भानक तथा जीवों का अति सन्निकट रहने वाला ईश्वर ही साक्षी रूप मे अङ्गीकर्य है। 'सिद्धान्तलेश-सङ्ग्रह' के प्रणेता इसे (साक्षी को) ब्रह्म की श्रेणी मे रखते हुये इसके प्रतिभासित रूप को जीव की श्रेणी मे रखा है। जीव के सुखासुखादिव्यवहारार्थ इसकी उपयोगिता स्वीकार्य है।[१]

इस प्रकार से साक्षी का रूप ब्रह्म, ईश्वर, कूटस्थ (आत्मा) प्रभृति रूपों मे मीमांसित रहा। इन सबके साथ समस्या यह रही कि, यदि इनको सर्वजीवगत-ऐक्य के रूप मे देखा जाय, तो एक जीव को अन्य के अन्तःकरण का प्रत्यक्ष सम्भाव्य होगा, क्योंकि साक्षी प्रत्येक्षेतर नहीं है। पर ऐसा होता नहीं। इसलिये अन्तःकरणोपहित जीव चैतन्य को भी साक्षी रूप मे माने जाने का सिद्धान्त प्रकाश मे आया – 'पुरूषान्तरान्तः करणादीनामपि पुरूषान्तरं प्रति स्वान्तःकरणभासकसाक्षिसंसर्गविशेषण प्रत्यक्षत्वापतेः। ... तस्मादन्तःकरणोपाधेन जीवः साक्षी।' (सिद्धान्तलेशसङ्ग्रह, पृ. -१९०)। इस

---

१. 'ब्रह्मकोटिरेव' साक्षी प्रतिभासतो जीवकोटिरिति जीवस्य सुखादिव्यवहारे तस्योपयोग इत्युक्त्वाऽयमेव पक्षः समर्थितः।' सि. ले. सं. प्र. - १८७

मान्यताऽनुसार अन्तःकरणोपाधिवशात् साक्षी पृथक्-पृथक् सिद्ध होते हैं, जिसके परिणामस्वरूप एक के अन्तःकरण का दूसरे के प्रत्यक्ष की सम्भावना नहीं रह जाती।

पञ्चदशी शरीर, इन्द्रिय-आदि से युक्त चिदाभास के अधिष्ठान को कूटस्थ रूप मे प्रतिपादित करती है।[१] पञ्चदशी को साक्षी एवं कूटस्थ मे भेद अभीष्ट नहीं। इसकी दृष्टि मे एक ही तत्त्व इन नामो से अभिधेय हैं।[२] 'नाटकदीप-प्रकरण' मे कर्ता, क्रिया तथा घ्राणादि विषयों को एक साथ भासित करने मे समर्थ तत्त्व साक्षी के रूप मे उल्लिखित हुआ है। जिस प्रकार नृत्यशालास्थदीप स्वामी, सभासद एवं नर्तकी आदि को आलोकित करता रहता है, इसी प्रकार साक्षी द्रष्टा, दर्शन और दृश्य, स्प्रष्टा, स्पर्श तथा स्पृश्य अर्थात् प्रमाता, प्रमाण एवं प्रमेय-सबको युगपत् प्रकाशित करने का कार्य करता है।[३] यह जीव-भाव से पर अद्वितीय, स्वयंप्रभ एवं शिव रूप है।[४] इसको सृष्टि से असंस्पृष्ट, असङ्ग और अविनाशी आत्म-तत्त्व कहा गया है।[५] पञ्चदशी चिदाभास एवं कूटस्थ की भिन्नता पर बल देती है। कूटस्थतत्त्व चिद्-प्रतिबिम्ब का काल्पनिक आधार अवश्य बनता है, पर वह चैतन्य का आभास नहीं है। चिदाभास के सदृश अन्य घट, पट आदि (अचेतन) पदार्थ भी काल्पनिक रूप मे इस पर अधिष्ठित है।[६] पञ्चदशीकार कूटस्थ तथा जीव की एकता का कारण आविद्यक भ्रान्ति को बतलाते हैं। स्वयं शब्द-बोध्य कूटस्थ एवम् अहं पद वाच्य चिदाभास

---

१. देहेन्द्रियादियुक्तस्य जीवाभासभ्रमस्य या।
अधिष्ठानचितिः सैषा कूटस्थाऽत्र विवक्षिता॥ (पं. द. - ८।४८)

२. अन्तःकरणतद्वृत्तिसाक्षीत्यादावनेकधा।
कूटस्थ एव सर्वत्र पूर्वाचार्यैर्विनिश्चितः॥ (वही, ८।२५)

३. कर्तारंचक्रियां तद्वद्व्यावृत्तविषयानपि।
स्फोरयेदेकयत्नेन योऽसौ साक्ष्यत्र चिद्वपुः॥ (वही,१०।९)

४. इति शैवपुराणेषु कूटस्थः प्रविवेचितः।
जीवेशत्वादिरहितः केवलः स्वप्रभः शिवः॥ (वही, ८।५९)

५. अविनाश्ययमात्मेति कूटस्थः प्रविवेचितः।
मायासंसर्ग इत्येवमसङ्गत्वस्य कीर्तनात्॥ (पं. द. - ८।४०)

६. यथा चेतन आभासः कूटस्थे भ्रान्तिकल्पितः।
अचेतनो घटादिश्च तथा तथैव कल्पितः॥ (वही, ६।४६)

अनादि अविद्या के कारण अभिन्न प्रतीत होते हैं। शुक्ति मे आरोपित वस्तु जैसे रूप्य के रूप मे सम्बोध्य होती है, तद्वत् कूटस्थ पर आरोपित चैतन्याभास 'अहम्' शब्द द्वारा जाना जाता है।[1]

संशय होता है कि, शुक्ति एवं रजत के उदाहरण मे सीपी तथा कल्पित रजत दोनो शब्दों का अर्थ भिन्न-भिन्न है। परन्तु 'स्वयम्' और 'अहम्' पद एक ही अर्थ के बोधक हैं। अतः शुक्ति एवं रजत के आधार पर 'स्वयम्' और 'अहम्' का पार्थक्य नहीं माना जा सकता। इस संशय का निराकरण आचार्य इस तरह से करता है– 'दृष्टान्त शुक्ति-रजत' मे प्रयुक्त 'इदम्' पद तथा दार्ष्टान्तिक कूटस्थ-हेतु प्रयुक्त 'स्वयम्' शब्द– उभय के सामान्य और विशेष– दो प्रकार के अर्थ हैं। 'इदम' का विशेष अर्थ 'इन्दता' है। यह सामान्य-अर्थ बोध के लिये भी अनेक वस्तुओं के साथ प्रयोग मे आता है, यथा– 'इदं पुस्तकम्' 'इदंरूप्यम्' आदि। 'स्वयम्' शब्द का विशेष अर्थ 'स्वत्व' है। यह सामान्य अर्थ-रूप मे 'तत्', 'त्वम्', 'अहम्' पदों के साथ लोक मे व्यवहृत होता है, जैसे 'देवदतः स्वयं गच्छेत्', 'त्वं स्वयं वीक्षस्व' 'अहं स्वयं न शक्नोमि।' इस प्रकार सामान्य-विशेष रीति से स्वयं विशेष रूप मे कूटस्थ (अर्थात् स्वत्व) एवं सामान्य-रूप मे औपाधिक चिदाभास (अर्थात् अहम्)–दोनो का अर्थ देने मे समर्थ बन जाता है।[2]

पुनः संशीति उठती है कि, जब 'स्वयम्' शब्द सामान्य और विशेष के माध्यम से चिदाभास और कूटस्थ दोनो का बोधक बन सकता है, तो स्वयं द्वारा कूटस्थ एवम् 'अहम्' द्वारा चिदाभास के बोध कराये जाने की बात निरर्थक है। पर ऐसी बात नहीं, सिद्धान्ती आचार्य इसके द्वारा

---

१. विशेष : देहादि मे अहंभाव रखने वाले चिदाभास संज्ञक जीव के कार्य सम्पादन मे करण के रूप मे मन की अहं भूमिका रहती है। कामनादि वृत्तियों से युक्त अन्तःकरण के एक भाग को मन कहा जाता है। मन अपनी अन्तर्मुखी एवं बहिर्मुखी वृत्ति द्वारा क्रमशः कर्तृत्व तथा बाह्यसांसारिक वस्तुओं को अपना विषय बनाता है। बाह्यवस्तुओं का सङ्ग्रहण मन द्वारा सामान्य रूप मे होता है, क्योंकि रूप, रस गन्ध आदि से युक्त वैश्व वस्तुओं का विशेष रूप मे ग्रहण मन से सम्भव नहीं। ये इन्द्रियों के साक्षात् विषय बनते हैं। मन इन्द्रियों के माध्यम से इन विषयों का ज्ञान करता है॥ इस प्रकार मन इन्द्रियों के सहयोग से जीव के कर्तृत्वादि-निष्पादन मे उत्तरदायी सिद्ध होता है।

२. इदंत्वरूप्यते भिन्ने स्वत्वाहन्ते तथेष्यताम्।
सामान्यं च विशेषश्च ह्युभयत्रापि गम्यते॥ (वही, ६।३८) तथा (द्रष्टव्य, ६।३९)

चिदाभास तथा कूटस्थ मे पार्थक्य परिनिष्ठित करना चाहता है। विद्यारण्य 'स्वयम्' का अर्थ ही आत्मा करते हैं। इनकी सम्मति मे 'स्वयम्' आत्मा का पर्याय भी नहीं स्वीकार्य है, क्योंकि यह आत्मेतर वस्तुओं का निषेधक तद्रूप है।[1] प्रतिपक्ष की ओर से एक विचिकित्सा यह उठायी जाती है कि, 'स्वयम्' शब्द का प्रयोग अचेतन पदार्थों के लिये भी होता है। अतः जड़ वस्तुओं मे आत्मत्व दर्शन अद्वैत-सिद्धान्त के विपरीत न होगा? पञ्चदशी की ओर से इसका निराकरण यह है कि, रफुरणरूप मे अचेतन पदार्थों मे भी आत्मा की सत्ता पायी जाती है, अतः 'स्वयम्' शब्द का इनके लिये भी प्रयोग अनुचित नहीं। पुनः सन्देह उठता है कि, यदि कूटस्थ (आत्मा) जड़-अजड़ दोनो मे समाहित है, तो दोनो के ऐक्य-वशात्, इनका पार्थक्य कैसे सम्भव होगा? पञ्चदशी इस पृथक्ता को इसरूप मे सम्भव मानती है —चेतन पदार्थों में चिदाभासत्व स्फुट रहता है, पर अचेतन पदार्थों मे इसका असद्भाव रहता है। अतः ये एक दूसरे से भिन्न अस्तित्व वाले स्वीकार्य हैं।

प्रकाश रूप कूटस्थ आत्मा के 'अहम्' बोध को लेकर नय्यायिकों की ओर से एक प्रश्न उठाया जाता है कि, शुक्ति का रजत के रूप मे शुक्ति से पृथक् ज्ञान इसलिये सम्भव हो पाता है, क्योंकि शुक्ति का इन्द्रिय-सन्निकर्ष होता है। परन्तु आत्मा मे आत्मा के अतिरिक्त अन्य किसी ज्ञान की उत्पत्ति अशक्य होने से, इससे भिन्न 'अहम्' बोधोत्पत्ति का माना जाना अयुक्ति-युक्त है। पञ्चदशी अज्ञान के कारण इस उत्पत्ति को सम्भव स्वीकार करती है। शुक्ति के चाक्षुष प्रत्यक्ष होने पर भी भ्रमग्रस्त के द्वारा वह रजत के रूप मे देखी जाती है। कूटस्थ भी स्व-रूप मे अस्तित्ववान् होकर भी कल्पित बुद्धि मे प्रतिबिम्बित 'अहम्' के रूप मे जाना जाता है।

जीवत्व अनादिकाल से कूटस्थ से सम्पृक्त है। इसी कारण जब तक ज्ञान द्वारा जीव की यह आपृक्ति समाप्त नहीं होती, तब तक कूटस्थ का परमार्थ आलोकित नहीं हो पाता। पञ्चदशी अज्ञातकाल से चली आ रही कूटस्थ एवं चिदाभास के अभैन्न-प्रतीति का कारण मूलाऽविद्या को मानती

---

१. स्वयमात्मेति पर्यायौ तेन लोके तयोः सह।
प्रयोगो नास्त्यतः स्वत्मात्मत्वं चान्यवारकम्॥ (पं. द. - ६/४३)

है।[१] यह अविद्या जीव मे कूटस्थत्व को प्रकट नहीं होने देती और अपने वैक्षेपिक सामर्थ्य द्वारा धी-प्रतिबिम्बित चैतन्याभास (अर्थात् जीव) के रूप मे उसको भासित होने देती रहती है।

यहाँ एक पूर्वपक्षीय शङ्का का उदय होता है, चूंकि अविद्या अज्ञान रूप है एवम् आत्मा चिन्मय है, अतः (प्रतिकूल प्रकृतिक होने के कारण) अविद्या का आत्मा मे न आविर्भाव हो सकता है तथा न ही इसका आत्मा से अन्य कोई सम्बन्ध संस्थापित किया जा सकता है। ऐसी स्थिति मे अविद्या द्वारा आत्मा का आवरण एवं विक्षेप स्वीकृत नहीं किया जा सकता। इसके उत्तर-पक्ष मे पञ्चदशी का प्रस्थापन है कि, अविद्या द्वारा आत्म-चित्ति पर आवरण तथा विक्षेप– अनूभूत सत्य है। इसको समझने के लिये तर्क के वजाय अनुभूति का सहयोग लेना अपेक्ष्य है। अविद्या के इन दोनो शक्तियों का ही यह प्रभाव है कि कूटस्थ पर अध्यस्त जीव से यह पूंछे जाने पर कि क्या तुम कूटस्थ को जानते हो? इसका प्रतिवचन उसकी ओर से यह रहता है कि मैं न कूटस्थ को जानता हूं, वह न मुझे भासित होता है और मेरी दृष्टि मे, वह है ही नहीं।[२] उपर्युक्त पूर्वपक्षीय संशीति

---

१. विशेष : आचार्य विद्यारण्य अनादि अज्ञान को मूलाऽविद्या की संज्ञा देते हैं –
अयं जीवो न कूटस्थं विविनक्ति कदाचन।
अनादिरविवेकोऽयं मूलाविद्येति गम्यताम्॥ (६।२५)
यह भी ध्यातव्य है कि पञ्चदशीकार भ्रन्ति तथा बन्ध-मोक्ष के हेतुत्व प्रतिपादन मे अविद्या तथा माया मे भेद करते हुये नहीं दिखते। इसीलिये बन्धनं और मुक्ति की व्यवस्था मे वे (अविद्या के साथ) माया को सक्षम बतलाते हैं –
बन्धमोक्षव्यवस्थार्थमात्मनानात्वमिष्यताम्।
इतिचेन्न यतो माया व्यवस्थापयितुं क्षमा॥ (६।२३३)
अनादिमायया भ्रान्तौ जीवेशौ सुविलक्षणौ। (वही, ६।२२३)
शाङ्कर मत मे अविद्या के कई प्रकार से भेद किये गये हैं। कालीय दृष्टि से यह द्विधा है – १) अनादि अविद्या एवं २) सादि अविद्या। अनादि अविद्या ही मूलाऽविद्या है। सादि अविद्या का नाम तूलाऽविद्या है। मूला तथा तूला को कतिपय आचार्य मूल अज्ञान एवम् अवस्था-अज्ञान का नाम देते हैं। मूलाऽविद्या विश्व का उपादान बनती है। यह सारे जीवों मे सामान्य रूप से व्याप्त है। पञ्चदशी कूटस्थ को जीव से पृथक् भासित होने का हेतुत्व इसी मे देखती है। तूला अविद्या अथवा अवस्था-अज्ञान कोभी अनेक रूपों मे माना गया है।

२. अज्ञानी विदुषा पृष्टः कूटस्थं न प्रबुध्यते।
न भाति नास्ति कूटस्थ इति बुद्ध्वा वदत्यपि॥ (वही, ६।२७)

मे निक्षिप्त यह प्रश्न कि 'भिन्न प्रकृतिक होने के फलस्वरूप अविद्या एवम् आत्मा मे कोई सम्बन्ध नहीं बन सकता' – आत्मा और अविद्या के सम्बन्ध मे प्रभावी नहीं है। वस्तु स्थिति यह है कि, विपरीतस्वभावक होने के बावजूद अविद्या तथा आत्मा का सम्बन्ध अनादि काल से चला आ रहा है। जहाँ तक कूटस्थ एवम् अविद्या के विरोध का प्रश्न है, वह भी इन दोनो मे नहीं है। अविद्या का विरोध विद्या से है, आत्मा से नहीं।[१] अतएव जीवत्वार्थ अविद्यात्मक आवरण और विक्षेप का सिद्धान्त निर्दुष्ट है।

माया ईश्वर तथा जीव – दोनो के आभास का कारण है। किन्तु चिदाभास जीव माया के अधीन रहा करता है, जबकि माया ईश्वर के अधीन रहती है।[२] ब्रह्म एवम् ईश्वर मे अन्योन्याध्यास है। इसलिये ब्रह्म से आकाशादि के उद्भूत होने का औपनिषदोद्गार वास्तविकता लिये हुये है। जीव और कूटस्थ भी ब्रह्म तथा ईश्वर की तरह अन्योन्याध्यास रूप से एक दूसरे से सम्बद्ध रहा करते हैं। इसी कारण से इनमे पारस्परिक अभिन्नता दृष्टि-लब्ध होती है।

पञ्चदशी मे अनेक स्थानों पर कूटस्थ को चिदात्मा का रूप बतलाया गया है। चिदात्मा और ब्रह्म मे अभेद अद्वैतीय सिद्धान्त है। इस स्थिति मे कूटस्थ एवं ब्रह्म एक ही सिद्ध होते हैं। पर शङ्का को अवकाश तब मिलता है, जब आचार्य चित् की चतुष्टयी – कूटस्थ, ब्रह्म, जीव और ईश मे कूटस्थ को ब्रह्म से पृथक रखता है। यही नहीं, महाकाश एवं घटाकाश के दृष्टान्त द्वारा भी इनके भेद को पुष्टि दी जाती है। इस सन्देह के अपनयनार्थ यह जान लेना चाहिये कि, चित् का यह भेद औपाधिक

---

१. विवेकस्तु विरोध्यस्यास्तत्त्वज्ञानिनि दृश्यताम्॥ (वही, ६।३२)

२. मायाधीनश्चिदाभासः श्रुतौ मायी महेश्वरः। (पं. द. – ६।१५६)

विशेष : जिज्ञास्य बनता है कि ईश्वर और जीव दोनो माया के कल्पनज है। पर ईश्वर क्यों सर्वज्ञ तथा जीव क्यों अल्पज्ञ हो जाता है। पञ्चदशी रचनाकार इसका भी कारण मायाको ही मानती है, जो माया अपने विलक्षण सामर्थ्य से ईश्वर एवं जीव की अलग-अलग रचना कर सकती है। वह क्या इनमे सर्वज्ञता और अल्पज्ञता जैसी विशेषताओं का निर्माण नहीं कर सकती –

सर्वसत्त्वादिकं वेशे कल्पयित्वा प्रदर्शयेत्।
धर्मिणं कल्पयेद्यास्याः को भारोधर्मकल्पने॥ (पं. द. – ८।६४)

है, वास्तविक नहीं। तत्त्व (चित्त) एक ही है, जीवोपाधि की अपेक्षा से वह कूटस्थ तथा ईश्वर की अपेक्षा से (ईश्वर से भिन्न) ब्रह्म के रूप मे प्रतीत होता है। कूटस्थ एवं ब्रह्म का उपजाप नाम मात्र का है। परमार्थतः दोनो एक ही हैं–

> कूटस्थब्रह्मणेर्भेदो नाममात्रादृते नहि।
> घटाकाशमहाकाशौ वियुज्येते नहि क्वचित्॥ (पं. द.- ६।२३७)

त्वंपद का लक्ष्यार्थ कूटस्थ चैतन्य को बतलाकर तथा ब्रह्म के साथ इसके ऐक्य का अभिधान करके पञ्चदशी इस तथ्य को और पुष्ट करती है।[१] यह अभेद्य घटाकाश और महाकाश के दृष्टान्त मे भी अवलोकनीय है। घटोपाधि के ही कारण आकाश घटकाश रूप मे दृष्टि-गत होता है। उपाधि हटने पर वह महाकाश के रूप मे दिखलाई पड़ता है। कूटस्थ भी आविद्यक उपाधि-वशात् प्राणियों के शरीर मे विक्षिप्त चिदाभास के रूप मे दृष्टि-गोचर होता है। उपाधि के अपनीत होते ही इसका ब्रह्म-लक्षण स्फुट हो जाता है।

अध्यास के कारण शरीर के साथ अभेद की अनुभूति रखने वाले प्राज्ञ के भोगार्थ तमः प्रधानप्रकृति से प्रजात आकाश, वायु, अग्नि, जल एवं पृथिवी के सत्त्वांश से क्रमशः श्रवण, त्वक्, चक्षु, जिह्वा और नासिका की उत्पत्ति होती है। इन्हीं पञ्चभूतों के रजोऽंश से क्रमानुसार वाणी, हस्त, पाद, पायु तथा उपस्थ उद्भूत होते हैं। पञ्चभूतों के सम्मिलितांश से विमर्शक मन एवं निश्चयात्मिका बुद्धि से युक्त अन्तःकरण का जनन होता है। आकाशादि पञ्चमहाभूतों के एकत्रित रजोऽंश से प्राण, अपान, समान, व्यान और उदान संज्ञक प्राणों की उद्भूति होती है। पञ्चकर्मेन्द्रियां, पञ्चज्ञानेन्द्रियां, पञ्चप्राण, मन एवं बुद्धि– इन सप्तदश का समवाय 'सूक्ष्यमशरीर' है। इसी की अपर संज्ञा 'लिङ्गशरीर' भी है। जीव के सूक्ष्म तथा स्थूल शरीर का अभिमान ईश्वर और जीव दोनो को होता है। परन्तु समष्टि एवं व्यष्टि के कारण दोनो मे भिन्नता रहती है। लिङ्गशरीर मे तादात्म्याभिमान के कारण तैजसवैशिष्ट्य को प्राप्त करने वाले जीव का अभिमान व्यष्टि परक

---

१. शेधिस्त्वं पदार्थो यः कूटस्थो ब्रह्मरूपताम्।
तस्य वक्तुं विवरणे तथोक्तमितरत्र च॥ (वही, ८।४७)

है। किन्तु लिङ्गशरीर मे ऐक्याभिमान रखने वाले हिरण्यगर्भत्व को आप्त हुये ईश्वर का अभिमान समष्टि रूपक है। लिङ्गशरीरोपाधिक समस्त तैजस जीवों के साथ तादात्म्य-संस्थापन के कारण ईश्वर का अहङ्कार समष्टि रूप मे निरूप्य है। किन्तु जीवों मे इस प्रकार के (समष्टि रूप) तादात्म्य का अभाव रहता है। अतः इनका ऐक्याहङ्कार व्यष्टि रूप मे स्थेय है।[१] सूक्ष्मशरीर की भांति स्थूल शरीर मे भी समष्टि-व्यष्टि का यह भेद बना हुआ है। पञ्चीकृत भूतों से ब्रह्माण्ड, भुवन तथा विविध प्रकार अन्नादि भोग्य पदार्थों के साथ इनके भोक्ता रूप मे उत्पन्न विविध शरीरों का समष्टिगत अहङ्कार हिरण्यगर्भ का वैश्वानर रूप है। स्थूलशरीर का ही अहङ्कार तैजस जीवों मे व्यष्टि (पृथक्-पृथक्) रूप मे विद्यमान रहकर देवादि योनियों मे इनकी उत्पत्ति का कारण बनता है।[२]

अद्वैतवेदान्त कर्तृत्व तथा भोक्तृत्वादि-वैशिष्ट्य को आत्मा के वास्तविक रूप मे अङ्गीकार नहीं करता। परन्तु उत्तरकालिक वेदान्त-मत इन्हें आत्मा / जीवात्मा के पारमार्थिक लक्षण मे समाहित करते हैं। वेदान्त के उपजीव्य उपनिषदों मे आत्मा (अथवा जीवात्मा) के कर्तृत्वादि का उल्लेख हुआ है, यथा –

'आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः।' (कठ. १।२।४)
'तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते' (बृह. ४।४।२)
'यस्व वैतत्कर्म सवै वेदितव्यः।' (कौषि. ४।१९)
'तयोरन्यः पिप्पलं स्वादवत्ति।' (मु. ३।१।१),
'एष हि द्रष्टा श्रोता...बोद्धा कर्ता विज्ञानात्मा पुरुषः।'
(प्रश्न. ४।९)।

आचार्य शङ्कर आत्मा का कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व औपाधिक स्वीकार करते हैं। शङ्कर शारीरक भाष्य मे आत्मा के कर्तृत्व-भोक्तृत्वादि का कारण बुद्धि की उपाधि को बतलाया गया है–

---

१. (अ) प्राज्ञस्तत्राभिमानेन तैजसत्वं प्रपद्यते।
हिरण्यगर्भतामीशस्तयोर्व्यष्टिसमष्टिता॥ (पं. द. - १।२४)
(ब) समष्टिरीशः सर्वेषां स्वात्मतादात्म्यवेदनात्।
तदभावत्ततोऽन्ये तु कथ्यन्ते व्यष्टिसंज्ञया॥ (वही, १।२५)
२. तैजसा विश्वतां याता देवतिर्यङ्नरादयः। (वही, १।२९)

'बुद्धयुपाधि धर्माध्यासनिमित्तं हि कर्तृत्वभोक्तृत्वादि लक्षणं... सत आत्मनः।' (द्रष्टव्य - २।३।२९) शारीरक भाष्यकार इन विशेषताओं को आत्मा पर आरोपित प्रतिष्ठित करते हैं।[१]

वाचस्पति मिश्र की मान्यता मे कर्तृत्वादि आत्मा के शुद्ध रूप के वजाय, 'त्वं पद-वाच्य जीव के धर्म बनते हैं। जब जीवात्मा इन धर्मो से रहित हो जाता है, तो वह अपने शुद्ध रूप का अभ्युपगम कर लेता है।[२] सिद्धान्तबिन्दु-प्रणेता आत्मा मे कर्तृत्वादि का कारण अविद्या को मानते हैं। आत्मा का पारमार्थिक रूप इस प्रकार के वैशिष्ट्यों से रहित है।[३] अद्वैतदीपिकाकार जीव मे कर्तृत्व-भोक्तृत्व अन्तःकरण के द्वार से अङ्गीकार करते हैं। इनकी दृष्टि मे अन्तःकरण यद्यपि जड़ है, किन्तु वह चैतन्य से प्रतिबिम्बित है, अतः इसमे कर्तृत्वादि धर्म सम्भव सिद्ध होते हैं।

पञ्चदशी भोक्तृत्वादि विशेष का दर्शन विकारशील जीव मे करती है—

चिदाभासो विकारी यो भोक्तृत्वं तस्य शिष्यते।। (७।२१६)

स्थूल सूक्ष्म एवं कारण शरीर के तादात्म्याज्ञान के फलीभूत चिदात्मा की जीवावस्थाभान मे आती है। नामरूपात्मक जागतिक पदार्थों के साथ तादात्म्य-वश भोग्य पदार्थों के रूप मे परमात्मा जीव-भोक्ता का भोग्य बनता है।[४] मिथ्या-अज्ञान के परिणति-रूप ये दोनो एक दूसरे के भोक्ता और भोग्य बने रहते हैं। उपर्युक्त गात्र-त्रय से भेद का विवेक होने पर जीव का भोक्तृत्व समाप्त हो जाता है। इस स्थिति मे नामरूपधर्मी वैश्वभोग्य इसके लिये भोग्य नहीं रह जाते हैं।[५] चिदाभास का भोक्तृत्व भी कूटस्थ

---

१. तेनास्य कर्तृत्वमुपचर्यते न स्वतः कर्तृत्वम्। तथा
चोक्तं ध्यायतीव लीलायतीवेति।' (ब्र. सू. शां. भा. - ४।३।१७)

२. द्रष्टव्य, भामती - १।२।४

३. अविद्यया कर्तृत्वादिभाक् परमार्थतो निर्धर्मकः
परमानन्द बोध एवेत्यौपनिषदाः। (सि. वि. पृ. - १२)

४. परमात्मा सच्चिदानन्दस्तादात्म्यं नामरूपयोः।
गत्वा भोग्यमापन्नस्तद् विवेके तु नोभयम्।। (पं.द. - १४।७)

५. 'नामरूपकल्पनाधिष्ठानत्वेन तत्तादात्म्यं प्राप्य भोग्यत्वमश्नुत इत्यर्थः।
ताभ्यां शरीरत्रयजगद्भ्यां विवेके भेदज्ञाने जाते सति नोभयम्।
भोक्तृभोग्यरूपं नास्तीत्यर्थः।' (पददीपिका, पं.द. - १४।७)

के तादात्म्य-वशात् ही संस्थिर होता है। चैतन्याभास जीव मे जब कूटस्थ से भिन्न उसके विनाशस्वभावक रूप की भावना दृढ़ हो जाती है, तो धरित्री पर पड़े मुमूर्षु के परिणाम की भांति इसमे भोगेच्छा नहीं रह जाती।[१] इस दशा मे चिदाभास अपने को भोक्ता मानने मे लज्जा का अनुभव करता है। पञ्चदशी जीवात्मा को कर्ता,भोक्ता मानने वाले दार्शनिक सम्प्रदायों का उपहास सी करती हुयी इस बात का संस्थापन करती है कि, जब अविद्यावशग जीव मे कर्तृत्व-भोक्तृत्व स्थायी नहीं दिखलाई पड़ता, तो साक्षी आत्मा मे इसे कैसे मान्यता दी जा सकती है।[२]

कर्ता तथा भोक्ता बनने वाला जीव स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण शरीर मे होने वाले ज्वरों का भी आस्पद बनता है। स्थूल-शरीर मे वात, पित और कफ की व्याधियां तथा दुर्गन्धि, कुरूपता, दाह आदि ज्वर उत्पन्न होते हैं। काम, क्रोध, लोभ इत्यादि विकृतियों की आप्ति एवं शम, दम आदि (इनके शामकों) की अनाप्ति --सूक्ष्मशरीर के ज्वर माने गये हैं। स्व तथा पर का अज्ञान-- कारण शरीर का ज्वर है। स्थूल एवं सूक्ष्म काय के ज्वरों का बीज कारणशरीर मे विद्यमान रहता है।[३] ज्वरग्रस्त कारण शरीर जीव की भ्रष्टता और इसके भावी दुःख का हेतु बनती है।

पञ्चदशी ज्वरों का देह के साथ सम्बन्ध सहज स्वीकार करती है। जब तक शरीर है, तब तक इसका ज्वरों से सम्बन्ध बना रहता है। ज्वर शरीर-त्रय के ऐसे आवश्यक उपादान हैं कि, इनके बिना देह-त्रय का अस्तित्व अमान्य है। ज्वरविहीन शरीर की सत्ता उसी तरह अस्वीकार्य है, जिस तरह

---

१. विविच्य नाशं निश्चित्य पुनर्भोगं न वाञ्छति।
मुमुर्षुः शायितो भूमौ विवाहं कोऽभिवाञ्छति॥ (वही, ६।२१९)

२. यदा स्वस्यापि भोक्तृत्वं मन्तुं जिह्रेत्ययं तदा।
साक्षिण्यारोपयेदेतदिति कैव कथा वृथा॥ (वही, ७।२२१)
'अयं चिदाभासः स्वस्यापि भोक्तृत्वं मन्तुं... विलज्जते यदा तदा,
एतत्स्वगतभोक्तृत्वं साक्षिण्यसङ्गे आरोपयेदिति वृथाऽर्थशून्या.....।
(दंष्टव्य, प.द. - ७।२२१ की पददीपिका।)

३. व्याधयो धातुवैषम्ये स्थूलदेहे स्थिता ज्वराः।
कामक्रोधादयः सूक्ष्मे द्वयोर्बीजं तु कारणे॥ (वही, १४।९)

तन्तु विहीनपट और मृत् हीन घट की सत्ता आनङ्गीकार्य है।[१] सन्देह उठता है कि ज्वारोत्पत्ति स्थूलादि शरीरों मे होती है, पर 'मैं ज्वर ग्रस्त हूं' या 'मैं ज्वर के कारण दुःखी हूं' – इसका अनुभव चिदाभास (जीव) को क्यों होता है? चिदाभास को इस प्रकार के दुःख की अनुभूति, अविद्याजात त्रिविध-गात्रों के साथ तादात्म्य के कारण होती है। वस्तुतः चैतन्यीय आभास के फलरूप चिदाभास भी प्रकाश रूप है। अतः शरीर-जात ज्वरों की इसमे कल्पना व्यर्थ है।[२] शरीर के ज्वरों को स्व पर आरोपित करके यह उसी तरह दुःखभाजन दृष्टि-गत होता है, जिस तरह पिता अपने पुत्र तथा पति अपनी पत्नी के दुःखी होने पर इनके दुःखों से तादात्म्य स्थापित करके दुःख का अनुभव करते हुये देखे जाते हैं।[३]

मिथ्या आरोपित कर्तृत्व-भोक्तृत्व एवं देहतादात्म्यज भ्रान्ति से अनुभूत त्रिविध ज्वरों से मुक्ति जीव को तब मिल पाती है, जब वह साक्षि-रूप को शरण्य बनाता है। लोक मे मिथ्याभियोग-दोष के अपनयनार्थ तथा दुरित कर्मों की निवृति-हेतु प्रायश्चित्त किये जाते हैं। मिथ्याभियोग लगाने वाला व्यक्ति अपने इस दोष के शमनार्थ मिथ्याभियुक्त से क्षमा-प्रार्थी बनकर प्रायश्चित्त करता है। इसी तरह किल्विषकर्ता भी दुरितकर्मों की निवृत्ति-हेतु स्नानादि पुण्यपरक कर्मो के उपार्जन से प्रायश्चित्त करता हुआ देखा जाता है। पञ्चदशी चिदाभास को भी साक्षी आत्मा की शरण मे जाकर प्रायश्चित्त करने का सलाह देती है। पञ्चदशीकार चिदाभास को दो रूपों मे प्रायश्चित्त करने की बात करते हैं। प्रथमतः चिदाभास साक्षी के शरण मे जाकर अपने द्वारा लगाये गये अभ्यारव्यान की क्षमा याचना करे, तदनन्तर ध्यानादि

---

१. तन्तोर्वियुज्येत पटो बालेभ्यः कम्बलो यथा।
मृदो घटस्तथा देहो ज्वरेभ्योऽपीति दृश्यताम्॥ (पं.द. - ७।२२८)

२. ज्वरात्रिषु शरीरेषु स्थिता न त्वात्मनो ज्वराः॥ (वही, १४।८)

३. पुत्रदारेषु तप्यत्सु तपामीति वृथा यथा।
मन्यते पुरुषस्तस्तद्वदाभासोऽप्यभिमन्यते॥ (वही, ७।२३३)

उपासन द्वारा इसमे तत्पर रहे।[१] साक्षि के स्मरण रूप प्रायश्चित्त द्वारा साक्षि-हेतु समर्पित जीव कर्तृत्व-भोक्तृत्व एवं ज्वरों को मुक्ति प्राप्त करने मे समर्थ हो जाता है। साक्षि-रूप की धारणा दृढ़ हो जाने पर जीव स्वयं को कर्ता, भोक्ता बताने मे लज्जा का अनुभव करता है।[२] साक्षि-परायण चिदाभास का शरीर से तादात्म्याभिमान प्रायश्चित्त किये हुये विप्र के म्लेच्छ सम्बन्ध की भाँति नष्ट हो जाता है।[३] अपने साक्षि-रूप का सतत उपासन करने वाला जीव न केवल काय-त्रय, अपितु स्वयं के आभासित रूप को भी मिथ्या समझने लगता है। सर्प-रज्जु-भ्रम मे सर्प के वास्तविक रूप का ज्ञान हो जाने पर रज्जु को सर्प समझकर भागने वाला व्यक्ति जिस तरह से पश्चात्ताप करता है। त्रिविध दैहिक तापों से मुक्त हुये जीव मे मुक्ति-प्राप्ति की अर्हता का भी समुदय उसी प्रकार से हो जाता है, जैसे लोक मे युवराज पद पर अभिषिक्त नृपति-सूनु राजात्व पाने की अर्हता अर्जित कर लेता है।[४]

---

१. मिथ्याभियोगदोषस्य प्रायश्चित्तप्रसिद्धये।
क्षमापयन्निवात्मानं साक्षिणं शरणं गतः॥ (वही, ७।२३६)
आवर्तयन्निव ध्यानं सदा साक्षिपरायणः॥ (वही, ७।२३७)

विशेष : जिज्ञासा उठती है कि जीव के प्रायश्चित्त को मिथ्याभियोग-दोष-विप्रकर्षण अथवा कल्मष्- कर्म-निवर्तन किस श्रेणी मे रखना उचित होगा। पञ्चदशी इसे अभ्यारव्यान-दोष-समापन की ही सरणि मे रखती है। प्रश्न उठता है कि, चिदाभास साक्षी के उफपर कौन सा मिथ्याभियोग लगाताहै, जिससे उसे साक्षी की शरण मे जाकर प्रायश्चित्त करना चाहिये। वस्तु स्थिति यह है कि, जीव स्व-शुद्ध-साक्षि-रूप पर कर्तृत्वादि का आरोपण करके, उसे कर्तृत्व-भोक्तृत्व रूप मे प्रतीत होने के मिथ्याभियोग दोष का उत्तरदायी है। अतः इसके द्वारा इस प्रकार के प्रायश्चित्त का औचित्य सिद्ध होता है। इसी तथ्य का उद्भासन पञ्चदशीटीकाकार राम कृष्ण का अधोवाक्य भी करता है –
'एवमयं चिदाभासोऽपि साक्षिण्य-सङ्गात्मनि भोक्तृत्वाद्यारोपलक्षणमिथ्याभियोगदोष-प्रायश्चित्तार्थं साक्षिणमात्मानं क्षमापयन्निव शरणं गतः।' (पददीपिका, पं.द.- ७।२३६)

२. जानतोऽग्रे तथाभासः स्वप्रख्यातो विलज्जते॥ (पं. द. - ७।२३८)
जिह्रेति व्यवहर्तुं च भोक्ताऽहमिति पूर्ववत्।
छिन्ननासा इव ह्रीतः क्लिश्यन्नारब्धमश्नुते॥ (वही, ७। २२०)

३. गृहीतो ब्राह्मणो म्लेच्छैः प्रायश्चित्तं चरन्पुनः।
म्लेच्छैः सङ्कीर्यते नैव तथा भासः शरीरकैः॥ (वही, ७।२३९)

४. वही, ७।२४०

पञ्चदशी मे जीव की सप्त-अज्ञान, आवरण, विक्षेप, परोक्ष बुद्धि, अपरोक्ष मति (ज्ञान), शोकनिवृत्ति तथा तृप्ति (आनन्द)– अवस्थायें प्रतिष्ठित हैं।[१] इन सातों अवस्थाओं मे आदि की तीन का सम्बन्ध जीव के बन्धन से है और बाद की चार उसके मोक्ष से बद्ध हैं। जीव का स्व-कूटस्थ-रूप के बोध का अभाव इसकी अज्ञानावस्था है। शुष्कतर्कादि के सहयोग से आत्मा के असङ्गास्तित्व एवम् उसकी प्रतीति का निषेध किया जाना –जीव की आवरणावस्था का कार्य है। स्थूल तथा सूक्ष्म शरीरमय-चिदाभासता जीव की विक्षिप्तावस्था है। इस अवस्था मे जीव कर्तृत्व-भोक्तृत्व की सांसारिकता का आरोपण करके शोक-निमग्न हो जाता है। यहां एक सन्देह को अवकाश मिलता है कि, चूँकि, विक्षेप के अनन्तर चिदाभास अस्तित्व मे आता है। अतः विक्षेप के पूर्व की अवस्था-द्वयी चिदाभास के वजाय आत्मा मे स्वीकार्य है। इस सन्देह की निराकृति पञ्चदशी इस प्रकार से करती है – 'आत्मा असङ्ग तत्त्व है, उसमे अज्ञान और आवरण की उत्पत्ति नहीं मानी जा सकती। जहां तक चिदाभास मे विक्षेप के प्राक् अज्ञानावरण के उद्भव की है, वह इसलिये सम्भाव्य है, क्योंकि विक्षेप के पूर्व भी चिदाभास का संस्कार स्थित रहता है, अतः अज्ञान तथा आवरण को चिदाभास की अवस्था मानने मे कोई विप्रतिपति नहीं।' यहां पुनः एक संशीति उठती है कि, अज्ञान और आवरण को चिदाभास की अवस्था बतलाये जाने की अपेक्षा सर्वाधिष्ठान रूप ब्रह्म की अवस्था बतलाया जाना अधिक उपयुक्त है। पर ये ब्रह्म की अवस्थायें इसलिये नहीं मानी जा सकतीं, क्योंकि विक्षेप के बाद की परोक्ष धी आदि अवस्थायें जीव द्वारा भासित होती हैं, न कि ब्रह्म द्वारा –

> **संसार्यहं विबुद्धोऽहं निःशोकस्तुष्ट इत्यपि।**
> **जीवगा उत्तरावस्था भान्ति न ब्रह्मगा यदि॥** (पं. द. - ७।४१)

न केवल विक्षेप की उत्तरावस्थायें, प्रत्युत पूर्व के भी अज्ञान एवम् आवरण – 'मैं अज्ञानी हूं' 'ब्रह्म का अस्तित्व तथा उसका भास मेरी दृष्टि

---

१. अज्ञानमावृत्तिस्तद्वद्विक्षेपश्च परोक्षधीः।
अपरोक्षमतिः शोकमोक्षस्तृप्तिर्निरङ्कुशा॥ (वही, ७३३)

में नहीं आते'- रूप मे जीव मे ही आभासित होते हुये दिखलाई पड़ते हैं।[१] परोक्ष धी जो परोक्ष ज्ञान की स्थिति है। इसके द्वारा जीव के आवरक हेतु अज्ञान का क्षय हो जाता है। अपरोक्ष मति अथवा अपरोक्ष ज्ञान के द्वारा जीव के वास्तविक रूप के आवरक हेतु का विनाश हो जाता है, जिसके फलस्वरूप जीव का असङ्ग लक्षण प्रस्फुटि मे आ जाता है। आत्मा के आवरण तथा अप्रतीति के विनष्ट हो जाने पर कर्तृत्वादि से उत्पन्न होने वाले संसारी दुःख अपनीत हो जाते हैं। जीव की यह शोक-निवृत्ति की अवस्था रहा करती है। इस प्रकार सांसारिक बन्धन के निवर्तन के अनन्तर नित्यमुक्तत्व का अनुभव करता हुआ जीव परमानन्द रूप हो जाता है।[२] यह इसकी तृप्ति अर्थात् अन्तिम अवस्था है। इसके बाद जीवात्मा को कुछ आप्त-योग्य वस्तु नहीं रह जाती।

आत्मा / जीव एक है, या अनेक इस विषय मे श्रुत्याश्रयी भारतीय दर्शनो मे 'पुरुष बहुत्व' सांख्ययोग का अभिमत सिद्धान्त रहा है। न्याय भी अनेक जीव-वाद मे आस्थावान् है। शाङ्करोत्तर रामानुजादिवेदान्त भी जीव के बहुत्व का ही समर्थन करते हैं।

शाङ्कर मत मे यद्यपि आत्मा / ब्रह्म अद्वितीय है, पर इसकी औपाधिक स्थिति मे व्यावहारिक स्तर पर सुख-दुःख तथा बन्धन-मोक्ष आदि की भिन्नता के कारण उपहित (आत्मा) चैतन्य को अनेक रूपों मे स्वीकृत किया जाना अपेक्षित हो जाता है। शङ्कर मत मे औपाधिक आत्मा (जीव) के इस अनैक्य को दो रूपो मे देखा गया है –

१. अविद्योपहित आत्मा का अन्तःकरणो मे प्रतिबिम्बन या विविध शरीरों मे मिथ्यात्मक प्रतीति और

२. आत्मा / ब्रह्म की साक्षात् अन्तःकरणोपाधिकता।

प्रथम मे अविद्या आत्म-चैतन्य को उपहित करके इसका जीव रूप मे प्रत्यायन कराती है। अविद्या के एक होने के कारण इसमे प्रतिफलित जीव भी एक ही रहता है। यह जीव पुनः अनेक अन्तःकरणो की उपाधि

---

१. तर्ह्यज्ञोऽहं ब्रह्मसत्त्वभाने मददृष्टितो न हि।
इति पूर्वे अवस्थे च भासेते जीवगे खलु॥ (पं. द. – ७।४२)

२. निवृत्ते सर्वसंसारे नित्यमुक्तत्वभासनात्।
निरङ्कुशा भवेत्तृप्तिः पुनः शोकासमुद्भवात्॥ (वही, ७।४७)

को अङ्गीकार करके अनेक जीवों के रूप मे भासित होता है। द्वितीय के अनुसार आत्मा का जीव के रूप मे एवं फिर जीव की अन्तःकरणो की उपाधि से युक्तता काल्पनिक गुरूताका प्रसङ्ग उपस्थित करती है, अतः ब्रह्म को साक्षात् अविद्याजनित अन्तःकरणो की उपाधि से उपहित मानने पर अनेक जीवों की उत्पत्ति सम्भव है।

इस उभयप्रकारक जीववाद की संसिद्धि आचार्यों द्वारा श्रुतियों, युक्तियों तथाप्रत्युक्तियों द्वारा की गयी है। जीव की एकता एवम् अनेकता को लेकर शाङ्कर आचार्यों की दृष्टि क्या रही है, समासतः इस पर भी दृष्टि-पात प्रासङ्गिक है।

आचार्य शङ्कर के भाष्य-ग्रन्थों मे यद्यपि ब्रह्म की अविद्योपाधि से जीव के एक होने का सङ्केत मिलता है, परन्तु कर्तृत्व-भोक्तृत्व के नानात्व आदि के द्वारा सांसारिक स्तर पर जीव के बहुत्व को भी यहां मान्यता दी जाती हुयी दिखती है। माण्डूक्योपनिषद्कारिका मे आचार्य गौड़पाद द्वारा आत्मरूप (एक) आकाश से जीवरूप घटाकाश उत्पन्न होते हुये बतलाये जाते हैं। साथ ही इस बात का भी कथन किया जाता है कि, घट के नष्ट होने पर घटाकाशों के आकाश मे विलीन होने की भांति, देहादिसङ्घात के समाप्त होने पर जीव भी आत्म-तत्त्व मे लीन हो जाते हैं –

> **आत्मा घटाकाशवज्जीवैर्घटाकाशैरिवोदितः।** (मा. का. - ३।३)
> **घटादिषु प्रलीनेषु घटाकाशादयो यथा।**
> **आकाशे सम्प्रलीयन्ते तद्वज्जीवा इहात्मनि।।** (वही, ३।४)

इन कारिकाओं मे बहुवचनान्त जीव का उद्भव एवं विलय- इस बात का व्यञ्जक है कि, गौड़पाद को औपाधिक स्तर पर जीव का अनेकत्व अभीष्ट है।

वाल्मीकीय योगवाशिष्ट मे भी व्यावहारिक दृष्टि से जीव की अनेकता प्रतिपादित है। इसमे भवभावना से आविर्भूत चैतन्य भावों को जीव की संज्ञा प्राप्त है। ये ब्रह्माकार जीव संख्या मे अनेक हैं। ये संसरणधर्मी जीव अपने पूर्व जन्मो के संस्कार-वशात् अनेक योनियों मे जन्म लेते रहते हैं।[१]

---

१. एवं जीवाश्चितो भावा भवभावनयोर्हिताः।
ब्रह्मणः कल्पिताकारा लक्षशोऽन्यथ कोटिशः।। (यो. वा. ४।४३।१)

ब्रह्म के भास रूप मे जीव को प्रतिष्ठित करने वाले आचार्य सुरेश्वर के विवेचनो मे जीव के एकत्व तथा नैकत्व –दोनों प्रकार की दृष्टियां मिलती हैं। सुरेश्वर के शिष्य सर्वज्ञात्म मुनि ने संक्षेप-शारीरक मे एक जीवाद का ही पक्ष लिया है।

भामती प्रस्थान के संस्थापक आचार्य वाचस्पति मिश्र ने भामती मे अन्तःकरणोपाधि से युक्त चित् को जीव अङ्गीकार करते हुये, इसकी अनेकता प्रतिष्ठित की है। चूँकि अन्तःकरण अनेक हैं। इसलिये इनके उपाधि-द्वार से प्रतीत होने वाले जीव भी अनेक हैं। आचार्य मण्डन मिश्र भी भामतीकार के ही विचार के पोषक रहे।

इनके विपरीत आनन्दबोध ने अपने 'न्यायमकरन्द' मे 'जीव-वैभिन्न' का खण्डन करते हुये जीव की एकता को ही पुष्टि दी है। तत्त्वप्रदीपिकाकार भी विविध प्रतिपक्षीय तर्कों का निरसन करते हुये जीव के ऐक्य को ही अदोष सिद्धान्त माना है। आचार्य रामाद्वय ने आत्मा अथवा ब्रह्म की एकता का आख्यान करते हुये नानात्मक जीव की आत्मा से भिन्नता को उपाधि-जन्य माना है। 'वेदान्तसिद्धान्त मुक्तावली' के प्रणेता प्रकाशानन्द उपनिषदों मे विवेचित आत्मा की अद्वितीयता के आधार पर जीव को एक माना जाना ही उपयुक्त समझते हैं।

आचार्य मधुसूदन सरस्वती ने अविद्योपहित ब्रह्म को ही जीव-रूप में मान्यता देते हुये बहुजीववाद के स्थान पर एक जीववाद को संस्थिर किया है। जीव के नानात्व का कारण जीव की प्रतिदेह आहङ्कारिक बुद्धि है, अर्थात् अलग-अलग शरीरों मे अहं धी के समुदय से जीव नाना रूपों मे दिखलाई पड़ता है।[१]

आचार्य नृसिंहाश्रम 'वेदान्ततत्त्व-विवेक' मे आत्मा के आविद्यक प्रतिबिम्बन को जीव स्वीकार करते हैं। बिम्ब आत्मा के प्रतिबिम्ब जीव को पृथक् अस्वीकार करते हुये, इन्होंने भी जीवैकत्व को ही प्रतिष्ठा दी है। परम मेधावी अप्पयदीक्षितने ब्रह्म के आविद्यक उपाधिरूप मे जीव के अस्तित्व को अङ्गीकृति देते हुये, एक ही शरीर को सजीव कहा है। इसके

---

२. 'अविद्यावशाद् ब्रह्मैवेवकं संसरति। स एव जीवः।
तस्यैव प्रतिशरीरमहमित्यादिबुद्धिः।' (अद्वैतसिद्धि – पृं ५३९)

अतिरिक्त अन्य शरीरों की सजीवता स्वप्न की दृष्ट शरीरों की तरह मिथ्या है।[१]

जीव के एकत्व-अनेकत्व को लेकर उपर्युक्त प्रकार के विचार आचार्यों में दृष्टि-गत होते हैं। एक जीववाद अर्थात् एक जीव से अनेक औपाधिक जीवों के प्रतिभास को सैद्धान्तिक मान्यता देने वाले आचार्यों की संख्या अधिक है। अन्तःकरणोपाधि के माध्यम से ब्रह्म का जीव-बहु-संख्यात्व आचार्य वाचस्पतिमिश्र को इष्ट है। इसे भामती-प्रतिष्ठा-जीवी अन्य आचार्यों ने भी स्वीकार किया है।

आचार्य विद्यारण्य अविद्या से उपहित एवम् अविद्यातन्त्रित चिदात्मा को जीव के रूप मे मान्यता देते हुये, अविद्या-गत वैचित्र्य के कारण जीव की विविधता अथवा अनेकताको संस्थिर करते हैं।[२] आचार्य की इस संस्थापना मे एकजीववाद की 'अविद्या एक है, अतः इसकी उपाधि से युक्त जीव भी एक होगा'– इस सिद्धान्त के वजाय अनेक जीववाद के 'अविद्या मे एक ब्रह्म को अनेक जीवों के रूप मे प्रतिभासित करने का सामर्थ्य विद्यमान है, जो अविद्या ब्रह्म को जीव बना सकती है, वह उस एक को अनेक रूप मे प्रतीत करवाने मे भी सक्षम है' – इस विचार को महत्त्व मिला है। उपर्युक्त वैचित्र्य का तात्पर्य 'तात्पर्यदीपिका' मे अविद्या-गत अशुद्धि का न्यूनाधिक्य है– 'अविद्याया उपधिभूताया वैचित्र्यादविशुद्धितारतम्यादनेकधाऽनेकप्रकारो देवतिर्यगाविभावेन विविधो भवतीत्यर्थः।[३] मुण्डकोपनिषद् (२।१।१) 'तदेतत् सत्यं यथा सुदीप्तात्पावकाद् विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः। तथाऽक्षराद् विविधाः सोम्य भावाः प्रजायन्ते...।' के इस वाक्य को आधार बनाकर जगदुत्पत्ति के प्रसङ्ग मे पञ्चदशी का यह अभिधान –

> विस्फुलिङ्गा यथा वह्नेर्जायन्तेऽक्षरतस्तथा।
> विविधाश्चिज्जडाभावा इत्यार्थर्थणिका श्रुतिः।। (पं. द. – ४।७)

---

१. एको जीवः, तेन चैकमेवशरीरं सजीवम।
अन्यानि स्वप्नदृष्टशरीराणीव निर्जीवानि।' (सि. ले. सं. पृ. १२१)

२. पं. द. – १।१७

३. द्रष्टव्य, पं. द.– १।१७

जड़ पदार्थों की भांति चेतन पदार्थों (जीवों) की भी अनेकरूपता को सांसारिक स्तर पर प्रतिष्ठित करता है।

पूर्वोक्त[१] जीव के सङ्घात्मक (अर्थात्आधार चैतन्य, लिङ्गदेह और लिङ्गदेह मे भासित चैतन्य का समूह) लक्षण मे चिदध्यसित लिङ्गदेह मे चैतन्य का भान, पट पर आलिखित मानवादि के शरीर-हेतु रङ्ग-विरङ्गे वस्त्रों की कल्पना के सदृश चिद् पर अध्यस्त शरीरधारियों मे भिन्न-भिन्न संज्ञक चिदाभासों की प्रकल्पना[२] हिरण्यगर्भ का लिङ्गशरीरोपाधि से बहुत्व लिये हुये सारे जीवों का समष्टिरूपत्व[३] एवम् अन्तःकरणोपाधि के रूप मे ही जीव का अस्तित्व[४]– इस बात के द्योतक हैं कि पञ्चदशी अविद्या मे प्रतिभासित ब्रह्म की एक जीवरूपता को मान्यता देती हुयी, चैतन्य पर आरोपित शरीरों के उपाधि-द्वार से जीवों की विविधता अथवा अनेकता मे आस्था व्यक्त करती है।

---

१. वही, ४।११

२. प्रथक् पृथक् चिदाभासाश्चैतन्याध्यस्तदेहिनाम्।
कल्प्यन्ते जीवनामानो बहुधा संसरत्यमी॥ (वही, ६।७)

३. सूत्रात्मा सूक्ष्मदेहारव्यः सर्वजीवघनात्मकः।
सर्वाहंमान धारित्वात्क्रियाज्ञानादिशक्तिमान्॥ (वही, ६।२००)

४. द्रष्टव्य, वही – ७।८५

षष्ठ-परिच्छेद

मुक्ति-संसाधन :

अनादि अविद्या से प्राप्त प्रापञ्चिक कर्तृत्व-भोक्तृत्व, सुख-दुःख एवं जनन-मरण से मुक्ति-आप्ति-हेतु अद्वैत-वेदान्त 'ज्ञान' अथवा 'विद्या' को ही उपयुक्त संसाधन अङ्गीकार करता है –

अविद्याऽस्तमयो मोक्षस्सा संसार उदाहृता।
विद्यैव चाद्वया शान्ता तदस्तमय उच्यते।। (ब्रह्म-सिद्धि - ३।१०६)

ब्रह्मात्मैक्य बोध अथवा अविद्याऽनुपहित आत्मोपलब्धि- अद्वैत दर्शन के मोक्ष का स्व-रूप है। चैतन्याभास के रूप मे अस्तित्ववान् जीव किस तरह से अपने शुद्ध, चेतन, आनन्द तथा अनन्त रूप का द्रष्टा बन सकता है, इसके लिये अद्वैताचार्यों ने औपनिषद श्रुतियों की उपजीव्यता पर कतिपय उपाय सुझाये हैं। ये उपाय ही मुक्ति के संसाधन हैं।

पञ्चदशी विवेक-प्रकरणो के प्रथम प्रकरण मे ही मोक्षोपाय का अङ्कन करती है। सांसारिक प्रपञ्च से आश्लिष्ट जीव अनेक योनियों मे संसरण करता हुआ, जन्म-मृत्यु के बन्धन से अपने को पृथक् नहीं कर पाता। प्रश्न उठता है कि, ऐसी स्थिति मे वह संसार से विलग कभी नहीं हो सकता। पञ्चदशी इसका समाधान करती हुयी कहती है कि, ऐसी बात नहीं। जीवात्माओ में सत्कर्मों के उदय होने पर निश्चय ही इसको सत्पुरुषों (सत्गुरूओं) की प्राप्ति होती है और इस तरह ये भवावर्त से अपने को मुक्त करने मे सक्षम बन पाते हैं।[1]

विद्या जो अविद्या की अपाकर्तृका है, उसकी लब्धि के लिये श्रुति-उपदिष्ट[2] जीव-ब्रह्मैक्य बोध के श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन की

---

१. सत्कर्मपरिपाकात्ते करूणानिधिनोद्धृताः।
प्राप्य तीरतरूच्छायां विश्राम्यन्ति यथा सुखम्।। (पं. द. - १।३१)

२. 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः, श्रोतव्यः, मन्तव्यः, निदिध्यासितव्यः' बृह. - २।४।८

साधनता – अद्वैत-वेदान्त को अभीष्ट है। इतना अवश्य है कि, आचार्यों मे तीनो के सदृश महत्व मे वैचारिक वैषम्य है। आचार्य विद्यारण्य ने पञ्चदशी मे मोक्ष-प्राप्ति के साधनों मे श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन के साथ निदध्यिासन की परिपक्वास्था के रूप मे समाधि को भी महत्व दिया है। 'तत्वमसि' आदि महावाक्यों के अर्थ (अर्थात् जीव एवं ब्रह्म के एकताबोधक अर्थ) का ज्ञान (अनुसंधान) श्रवण है। श्रुत अर्थ अर्थात् जीव और ब्रह्म के ऐक्य विषयक बोध (जो महावाक्यों मे भाग-त्याग लक्षणा से स्पष्ट हो जाता है, इस) का युक्ति द्वारा प्रबोध मनन है।[१] पञ्चदशी-भाष्यकार रामकृष्ण इसे श्रुति-अर्थ से उत्पन्न हुये ज्ञान के रूप मे निरूपित करते हैं – 'श्रुतस्यार्थस्योपपद्यमानत्व ज्ञानं यदस्ति, तत्तु मननमित्युत्यते।'[२] यह बाद के अद्वैतीय ग्रन्थों मे ब्रह्म की अद्वितीयता के अनवरत-चिन्तन-रूप मे भी स्वीकृत हुआ है।[३]

श्रवण तथा मनन के द्वारा संशय-रहित अर्थ मे स्थापित चित्त की एकतानता अर्थात् एकाकार वृत्ति का समुदय निदिध्यासन है।[४] निदिध्यासन मे जब तक ध्याता, ध्यान और ध्येय की त्रिपुटी का अस्तित्व बना रहता है, तब तक वह औत्कृष्ट्योपलब्धि नहीं कर पाता। जब वायु रहित निश्चल दीप के समान इसमे केवल ध्येयाकाराकारित चित्तवृत्ति का अवस्थान रहता है, तब यह समाधि का रूप ले लेता है।[५] इससे मनुष्य के करोड़ों सञ्चित कर्म नष्ट हो जाते हैं तथा ब्रह्म-साक्षात्कार के साधन-भूत धर्मों की जागृति होती है।[६] पञ्चदशी निदिध्यासन की इसी सिद्धावस्था को निर्विकल्पक अथवा धर्ममेघ समाधि के रूप मे उल्लिखित करती है। यह समाधि पुण्यपापमय

---

१. इत्थं वाक्यैस्तदर्थानुसन्धानं श्रवणं भवेत्।
युक्त्या सम्भावितत्वानुसन्धानं मननं तुतत्॥ (पं. द. - १।५३)

२. द्रष्टव्य, पं. द. - १।५३ की 'पददीपिका'।

३. 'मननं तु श्रुतस्याद्वितीयवस्तुनो वेदान्तानुगुणयुक्तिभिरनवरतमनुचिन्तनम्।' वेदान्तसार।

४. एकतानत्वमेतद्धि निदिध्यासनमुच्यते॥ (पं. द. - १।५४)

५. ध्यातृध्याने परित्यज्य क्रमाद्धयेयैकगोचरम्।
निवातदीपवच्चित्तं समाधिरभिधीयते॥ (वही, १।५५)

६. अनादाविह संसारे सञ्चिताः कर्मकोटयः।
अनेन विलयं यान्ति शुद्धो धर्मों विवर्धते॥ (वही, १।५९)

कर्म-समूह का समूलोच्छेदन तथा अहन्ता, ममता एवं ज्ञान-विरोधी कर्तृत्वादि अहङ्कार के हेतु-भूत संस्कार-निचय का समापन करके 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्यों से उद्भावित परोक्ष ब्रह्मजीवैक्य बोध को अपरोक्ष अनुभूत कराने मे भी समर्थ है।[१]

(कूटस्थ) आत्मा तथा चिदाभास मे ऐक्य का आभास अविद्याजात भ्रान्ति के कारण सम्भव होता है। अविद्यात्मक अज्ञान के कारण 'अहंवृति' मे भासित जीवात्मा तथा बुद्धि-साक्षी कूटस्थ चैतन्य मे भ्रमात्मक तादात्म्य की निवृत्ति विद्या (ज्ञान) द्वारा ही सम्भाव्य होती है। अनादि अविवेकज भ्रान्ति के अपाकरणार्थ अविद्या का अपनयन परमापेक्षित सिद्ध होता है। अविद्या के अपनीत होने पर इसके कार्य तादात्म्याध्यास (शुद्धाशुद्धात्मैक्यभ्रम) का भी निवर्तन हो जाता है।[२] चिदात्मा के जीवाध्यास को 'ग्रन्थि' शब्द द्वारा भी संज्ञित किया जाताहै। यह ग्रन्थि आत्मा के वास्तविक रूपाज्ञान के ही कारण दिखलाई पड़ती है।[३] विद्या द्वारा इसका विनाश हो जाता है।

यहां एक बात ध्यातव्य है कि, विद्या द्वारा अविद्या-जन्य आवरण एवं चिदाभासात्मैक्यज्ञान निश्चय ही तत्कालीन प्रभाव से दूर हो जाते हैं। परन्तु अविद्या के विक्षेप रूप से प्राप्त शरीरादि से मुक्ति प्रारब्ध भोगानन्तर ही मिल पाती है।

ज्ञान और योग से युक्त ध्यान चित्त को एकाग्र बनाता है। चित्त की एकाग्रता मे ब्रह्मविद्या के आलोक को दृढ़ता प्राप्त होती है। ब्रह्मविद्योदय काल मे उपाधियों के अभाव-वश ब्रह्म / आत्मा के शुद्ध रूप — सत् चित् एवम् आनन्द की एक साथ अखण्डात्मक अनुभूति सम्भव रहती है।[४]

---

१. द्रष्टव्य, पं. द. - १।६४

२. तादात्म्याध्यास एवात्र पूर्वोक्ताविद्यया कृतः।
अविद्यायां निवृत्तायां तत्कार्यं विनिवर्तते॥ (प.द, ६।५२)

३. नैवं जानन्ति मूढ़ाश्चेत् सोऽयं ग्रन्थिर्न चापरः।
ग्रन्थितद्भेदमात्रेण वैषम्यं मूढ़बुद्धयोः॥ (वही, ६।२६६)

४. विद्यायां सच्चिदानन्दा अखण्डैकरसात्मताम्।
प्राप्यभान्ति न भेदेन भेदकोपाधिवर्जनात्॥ (पं. द. - १५।३१)

विद्या[१] उभयप्रकारक है– परोक्ष और अपरोक्ष। मुमुक्षु का ज्ञान जब तक 'ब्रह्म है' इस प्रकार का बना रहता है, तब तक वह परोक्ष-विद्यारूप अथवा परोक्ष ज्ञान है। किन्तु जब उसे 'मैं ब्रह्म हूं' इस तरह का बोध हो जाता है, तब उसका ज्ञान अपरोक्ष विद्या या अपरोक्ष ज्ञान का रूप धारण कर लेता है।[२]

ब्रह्म तथा जीवात्मा की एकता का परोक्ष ज्ञान श्रुत्युपदिष्ट महावाक्यों के साथ-साथ आप्तपुरुषोपदेश के अनन्तर उपासनादि अनुष्ठानो से भी सम्भव है। परन्तु अपरोक्ष ज्ञान, जिसकी लब्धि के पश्चात् जीव संसार से सदा-सदा के लिये मुक्त हो जाता है,[३] इसकी प्राप्ति-हेतु तत्-त्वम् की एकता का विचार परमावश्यक है। इसके बिना जीव को ब्रह्म का साक्षात्कार या ब्रह्म के साथ अभेद्य-बोध कथमपि सम्भव नहीं।[४] पञ्चदशी का आत्म-विचार के प्रति दृढ़ अभिधान है कि (एक दो बार) विचार करने पर भी अगर प्रमाता को ब्रह्माभेद की अनुभूति नहीं होती, तो उसे वार-वार विचार करते रहना चाहिये। किन्तु यदि पौनःपुन्येन विचार करने पर भी (देहावसानपर्यन्त) जीवपरमात्मैक्यभाव का समुदय नहीं होता, तो प्रमाता को यह जानना चाहिये कि कोई न कोई इसका प्रतिबन्धक कारण है। इसके नष्ट होने के बाद यह अन्य जन्मो मे सम्भाव्य है।[५]

पञ्चदशी परोक्ष एवम् अपरोक्ष-उभय प्रकार के बोध मे बाधा उत्पन्न करने वाले प्रतिबन्धक पदार्थों का निर्वचन करती है। इनके रहते हुये मोक्ष

---

१. विद्या द्वैत (दर्शन) का अभाव रूप नहीं है, अपितु यह आत्म-ज्ञान का सद्भाव रूप है, जैसा कहा गया है –
आत्मधीरेव विद्येति वाच्यं न द्वैत विस्मृतिः॥ (वही, ७।१८६)

२. परोक्षा चापरोक्षेति विद्या द्वेधा विचारजा।
तत्रापरोक्षविद्याप्तौ विचारोऽयं समाप्यते॥
अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद परोक्षज्ञानमेव तत्।
अहं ब्रह्मेति चेद्वेद साक्षात्कारः स उच्यते॥ (वही, ६।१५, १६)

३. येनायं सर्वसंसारात् सद्य एव विमुच्यते॥ (वही, ६।१७)

४. ब्रह्मसाक्षात्कृतिस्त्वेवं विचारेण विना नृणाम्।
आप्तोपदेशमात्रेण न सम्भवति कुत्रचित्॥ (प.द., ९।३०)

५. विचारयन्नामरणं नैवात्मानं लभेत् चेत्।
जन्मान्तरे लभेतैव प्रतिबन्धक्षये सति॥ (पं. द. – ९।३३)

असम्भव है।[१] परोक्ष ज्ञान का प्रतिबन्धक, साधक का ज्ञान के प्रति अविश्वास है। अपरोक्ष-बोध का मूल प्रतिबन्धक विचार-शून्यता है।[२] जीवात्मैक्य ज्ञान का पुनः पुनः अभ्यास करने पर भी यदि ऐक्य सत्य का साक्षात्मकार नहीं होता, तो निश्चय ही इसका कोई प्रबल अवरोधक हेतु रहा करता है – अपनी इस मान्यता की परिपुष्टि-हेतु आचार्य विद्यारण्य सुरेश्वराचार्य के वार्तिकों का भी सङ्केत करते हैं।[३]

ब्रह्मापरोक्ष-बोध के बाधक कारण अतीत, अनागत एवं वर्तमान– तीनों कालों मे पाये जाते हैं। भूतकाल के अवरोध-वशात् लोगों को मोक्ष का अभ्युपगम नहीं हो पाता। इसको प्रमाणित करने के लिये पञ्चदशी एक लोक कथा का उल्लेख करती है। एक यति सन्यस्त होने के पूर्व अपने गृहस्थ-जीवन मे एक महिषी से अनुरक्त रहता है। परिणामतः विरक्त होने पर गुरू द्वारा उपदिष्ट होने के बावजूद महिषी-अनुराग-प्रतिबन्ध के कारण, गुरु द्वारा प्रदत्त ज्ञान का आत्म-बोध नहीं कर पाता। गुरू जब उसके महिषी-विषयक राग को जान लेते हैं, तो उसे महिषी-उपाधि-उपहित ब्रह्म का उपदेश देते हैं। इस प्रकार महिषी-स्नेह-लक्षणक अवरोध के हटने के अनन्तर ही वह यति वेदान्तोक्त प्रकारक ब्रह्म / आत्म-तत्त्व को जान पाता है।

अनागतकालिक प्रतिबन्ध की समाप्ति भोग के अनन्तर ही हो पाती है। पर इसके भोग मे काल-सीमा का बन्धन नहीं रहता। यह भोक्ता के सामर्थ्य पर निर्भर करता है कि, वह इस प्रतिबन्धन-भोग को कितने समय मे भोग लेता है। इसके लिये श्रृषि वामदेव एवं जड़ भरत उदाहर्तव्य हैं। श्रृषि वामदेव ने समस्त ज्ञानावरोधों को एक ही जन्म मे भोग करके समाप्त कर दिया, जबकि जड़भरत तीन जन्मो तक इनका भोग करके तब इन्हें

---

१. अधीतवेदवेदार्थोऽप्यत एव न मुच्यते।
हिरण्यनिधिदृष्टान्तादिदमेव हि दर्शितम्॥ (वही, ९।४०)

२. परोक्षज्ञानमश्रद्धा प्रतिबध्नाति नेतरत्।
अविचारोऽपरोक्षस्य ज्ञानस्य प्रतिबन्धकः॥ (वही, ९।३१)

३. पददीपिका कार –पञ्चदशी के ९।३९ से ९।४५ तक के विवेचन को वार्तिककार से सम्बद्ध बतलाते हैं – 'तान्येव वार्तिकान्युदाहरति 'कुतस्तज्ज्ञानमित्यादिना भरतस्य त्रिजन्मभिरित्यन्तेन।' (द्रष्टव्य ९।३९ के पूर्व के वाक्य।)

समाप्त कर पाते हैं।[१] गीता मे भगवान् कृष्ण ने भी योग-भ्रष्ट (अर्थात् अन्तराय-वशात् जिन्हें सुगति नहीं मिल पाती) को अन्य जन्मो मे पूत लोगों के गृह मे जन्म लेने के अनन्तर, अभ्यास के परिणामस्वरूप परमगति प्राप्त होने की बात कही है।[२]

वर्तमान प्रतिबन्ध को आचार्य चार रूपों मे व्यक्त करता है –

१) विषयासक्ति
२) बुद्धि-मान्द्य
३) कुतर्क एवं
४) विपर्यय-दुराग्रह[३]

चित्त का विषयों मे आसक्त रहना विषयासक्ति है। उपदिष्ट ज्ञान को ग्रहण करने मे बुद्धि मान्द्य है। तथ्यहीन तर्कों से श्रुत्यर्थों (श्रुति-स्थापनाओं) की अवहेलना कुतर्क है। आत्मा अथवा ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप के अतिरिक्त मायाविद्योपहित रूप के प्रति दुरास्था-विपर्यय दुराग्रह है।

इन प्रतिबन्धों के अपाकरणार्थ शम, दम, श्रवणादि उपायों का उपयोग वाञ्छ्य है। श्रुतियों मे इस प्रकार के उपायों की चर्चा अनेकशः हुयी है, यथा-

'शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वा' (सुबालो. ९।१४)
'श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः।' (बृह. - २।४।५)

मुक्ति-लाभ-हेतु पञ्चदशी ब्रह्म-प्रबोध अथवा तत्त्व-ज्ञान के साथ विरति और उपरति को भी मुमुक्षु मे होना अपेक्षित समझती है। इस प्रकार विरति, उपरति एवं तत्त्वबोध– ये तीनो मिलकर मोक्ष के समर्थ हेतु बनते हैं।

---

१. आगामिप्रतिबन्धश्च वामदेवे समीरितः।
एकेन जन्मना क्षीणो भरतस्य त्रिजन्मभिः॥ (पं. द. - ९।४५)
२. पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते।
न हि कल्याणकृत् कश्चित् दुर्गतिं तातगच्छति॥ (गीता - ६।४०)
से लेकर –
प्रयत्नाद् यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्विषः।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परांगतिम्॥ (६।४५) तक।
३. प्रतिबन्धो वर्तमानो विषयासक्तिलक्षणः।
प्रज्ञामान्द्यं कुतर्कश्च विपर्ययदुराग्रहः॥ (पं. दं. - ९।४३)

सांसारिक विषयों मे दोष-दर्शन, इनको छोड़ने की इच्छा तथा भोगों के प्रति अदीन भाव अर्थात् भोगों के प्रति पूर्ण अनिच्छा वृत्ति-यह त्रयी वैराग्योत्पत्ति मे असाधारण कारण बनती है।[१] श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन का संश्रय, द्वैत-प्रपञ्च का मिथ्यात्व[२] तथा अध्यास का अनुदय–ये तत्त्व बोध के हेतु हैं। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि, चित्त-वृत्ति का निरोध तथा लोक-व्यवहार का क्षय– ये उपरति के कारण हैं। इन तीनो मे तत्त्वबोध साक्षात् मुक्ति-दायक है, अन्य दोनो इसके सहयोगी हैं। पञ्चदशी का इस पर आग्रह है कि, किसी मे विरति और उपरति कूट-कूट कर भरी हो, पर अगर तत्त्व बोध नहीं है, तो मुक्ति असम्भव है।[३] वैराग्य के पूर्ण विकसित होने पर मुमुक्षु को ब्रह्म-लोक भी तृण के समान दृष्टि-गत होता है। प्रमाता के अज्ञान-काल मे शरीरादि पदार्थों के प्रति रहनेवाला 'अहंभाव' तत्त्वबोध के समय परमात्मा के प्रति जागृत हो जाता है।[४]

एक सन्देह उत्पन्न होता है कि, 'तत्त्वमसि' प्रभृति महावाक्यों से आत्म-बोध सम्भव हो जाता है, अतः श्रवणादि साधनों की क्या आवश्यकता है? इसके उत्तर मे अद्वैताचार्यों का कथन है कि, बिना इन साधनो के महावाक्यज ज्ञान दृढ़ नहीं हो पाता। अतएव महावाक्यों से प्रकट अपरोक्ष आत्म-बोध को सुदृढ़ करने के लिए शम, दम, तितीक्षा आदि के साथ श्रवण, मनन और निदिध्यासन का अभ्यास आवश्यक है।[५] इससे 'अहं ब्रह्मास्मि' का प्रत्यक्ष तत्त्व-बोध सशक्त तथा सफल होता है।

पञ्चदशीकार मुमुक्षत्व की पात्रता-हेतु सत्कर्मो एवं कर्मानुष्ठानो को भी महत्व देते हैं। प्रश्न उठता है कि, शास्त्रों की विविध शाखाओं-प्रशाखाओं

---

१. दोषदृष्टिर्जिहासा च पुनर्भोगेष्वदीनता।
असाधारणहेत्वाद्या वैराग्यस्य त्रयोऽप्यमी॥ (पं. द. - ६।२७८)

२. विशेष : पञ्चदशी मोक्ष-हेतु द्वैत-मिथ्यात्व को परमावश्यक मानती है। इसकी चर्चा पूरे ग्रन्थ मे प्रसङ्गानुसार अनेकशः हुयी है, यथा – २।२, १०, ४।५० – ५१ आदि।

३. वैराग्योपरती पूर्णे बोधस्तु प्रतिबध्यते।
यस्य तस्य न मोक्षोऽस्ति पुण्यलोक स्तपोबलात्॥ (वही, ६।२८३)

४. देहात्मवत् परात्मवत् दार्ढ्ये बोधः समाप्यते॥ (वही, ६।२८५)

५. अहं ब्रह्मेति वाक्यार्थबोधो यावद्दृढ़ीभवेत्।
शमादिसहितस्तावदभ्यसेच्छ्रवणादिकम्॥ (७।९८)

द्वारा प्रतिपादित कर्मानुष्ठानो मे अनुष्ठेयता का निर्णय प्रमाता के द्वारा किया जाना कठिन है। अतः वह किन का अनुष्ठान करे? इस विषय मे पञ्चदशी जैमिनी आदि आचार्यों द्वारा उपदिष्ट (निश्चितार्थक) कर्मानुष्ठानो को अपनाने की सलाह देती है।[१] सात्त्विक कर्मो तथा उपासनादि के अनुष्ठान से प्रमाता मे आत्म-बोध की अर्हता का उदय होता है। सत्कर्मो आदि से रहित पापानुरक्त जीव को मोक्ष की बात तो दूर रही, वह ब्रह्म-विषयक बोध को सुनने का भी अधिकारी नहीं बन पाता।[२]

सगुणब्रह्मोपासना की भांति निर्गुण ब्रह्मोपासना को विद्यारण्य ने ब्रह्म-ज्ञान का साधन स्वीकार किया है। आचार्य ने निर्गुणोपासना मे आने वाली शङ्काओं का निराकरण करते हुये इसे प्रतिष्ठा दी है। यदि यह कहा जाय कि निर्गुण-दृष्ट्या ब्रह्म अवाङ्मनसगोचर है, अतः इसकी उपासना नहीं हो सकती। पर ऐसी बात नहीं, जिस तरह सगुण ब्रह्मोपासना चित्त की आवर्तन वृत्ति से सम्भव होती है, उसी तरह निर्गुण-उपासना मे भी यह प्रत्ययावृत्ति सम्भव है, अतः इसके माध्यम से निर्विशेष ब्रह्म की भी उपासना की जा सकती है। जो ब्रह्म को वचाधगोचर रूप मे जानता है, इसको इसी रूप मे ब्रह्म की उपासना करणीय है। ब्रह्म की उपास्यता के विषय मे यह कहा जाना भी उचित नहीं कि, इस रूप मे माने जाने से ब्रह्म की अविशेषता प्रभावित होती है। अवेद्य होने पर भी लक्षणा द्वारा जैसे उसका वेघत्व सिद्ध होता है, तद्वत् उपास्यत्व की सिद्धि मे भी कोई विप्रतिपत्ति नहीं।[३]

यदि यह संशीति उठायी जाय कि श्रुतियां (तदेवं ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदुपासते।' केन. १।६ आदि) अनुपास्य ब्रह्म के बोध को ही समीचीन ठहराती हैं। इसका समाधान यह है कि श्रुतियों (यथा-उत्तरतापनीय- १।२, प्रश्नोपनिषद् - ५।५) मे निर्विशेष ब्रह्म के उपासन का उपदेश प्राप्त है। अतः निर्विशेष ब्रह्मोपासन श्रुति-विहित है। प्रश्न उठता है कि सगुणोपासना

---

१. पं. द. - ९।२६, २७

२. केषाञ्चित् स विचारोऽपि कर्मणा प्रतिबध्यते।
श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्य इति श्रुतेः॥ (वही, ९।५३)

३. सगुणत्वमुपास्यत्वाद्यदि वेद्यत्वोऽपि तत्।
वेद्यं चेल्लक्षणा वृत्या लक्षितं समुपास्यताम्॥ (वही, ९।५८)

मे ब्रह्म के सविशेष गुणो की उपासना की जाती है। परन्तु गुणातीत ब्रह्म मे कौन से गुण हैं, जिनका आश्रय लेकर उपासना होगी। इसका उत्तर यह है कि, गुण-विहीन ब्रह्म के दो प्रकार के – विधिपरक एवं निषेधपरक – लक्षण ही निर्गुणोपासना के गुण हैं। 'विज्ञान्मानन्दं ब्रह्म' (बृह. ३।९।३४), 'नित्यः शुद्धो बुद्धः सत्यः मुक्तो निरञ्जनोविभुरद्वय आनन्दः प्रत्यगेकरसः' (नृ. उ. - ९) आदि ब्रह्म के विधिमय तथा 'अस्थूलमनण्वह्रस्व...' (यो. शि. - ३।१९), 'तत्तदवेक्ष्यमग्राह्य...' (मुण्ड. - १।६) प्रभृति निषेधात्मक लक्षण हैं। इन गुणों से लक्षित अखण्ड एक रस ब्रह्म मै ही हूं।' – मोक्षार्थी लोग इसकी उपासना करते हैं।[१] यह उपासना ज्ञान का साधन बनकर मोक्ष में सहायक सिद्ध होती है।

आचार्य विद्यारण्य अविशेषोपासना को सविशेषोपासना से श्रेष्ठ सिद्ध करते हुये मुमुक्षु के लिये इसकी अपेक्षा व्यक्त करते हैं। समस्त कर्मानुष्ठानो मे सगुणोपासना एवं सगुणोपासना से भी निगुर्णोपासना प्रवर है।[२] पञ्चदशी की दृष्टि मे साधन की वरतरता उसके साध्य की समीपता मे विद्यमान है। सुकर्माचरण तथा सविशेषोपासन से चूंकि, अविशेष ब्रह्मोपासन ब्रह्म-ज्ञान के सर्वाधिक समीप है, अतः इसकी सर्वोत्कृष्टता परिनिष्ठित होती है। पञ्चदशी की सम्मति मे आत्म-बोध के अन्य साधनों की तरह शुद्ध-ब्रह्मोपासना भी ब्रह्म-बोध अथवा आत्म-ज्ञप्ति की सशक्त साधन है। आचार्य सुरेश्वर के पञ्चीकरण वर्तिक मे प्रतिपादित 'निर्गुणब्रह्मोपासन की साधनता' का सङ्केत करते हुये विद्यारण्य अविशेषोपासना को ब्रह्म ज्ञान का साधन अवश्य मानते हैं,[३] पर मुक्ति का संसाधन ब्रह्म-ज्ञान को ही स्वीकार करते हैं। निर्गुण अथवा निर्विकार परमात्मा की उपासना मूलाऽविद्या को दूर करके विद्योत्पत्ति मे अहं भूमिका निभाती है।[४]

---

१. अखण्डैकरसः सोऽहमस्मीत्येवमुपासते॥ (पं. द. - ९।७३) ·

२. पामराणां व्यवहृतेर्वरं कमाद्यनुष्ठितिः।
ततोऽपि सगुणोपास्तिर्निगुणोपासना ततः॥ (वही, ९।१२१)

३. अनुष्ठानप्रकारोऽस्याः पञ्चीकरण ईरितः।
ज्ञानसाधनमेतच्चेन्नेति केनात्र वारितम्। (पं. द.- ९।६४)

४. वही, ९।१४०

यहां एक जिज्ञासा उदित होती है कि, जब मुक्त्यर्थ ज्ञान जैसा अद्वितीय साधन उपलब्ध है, तो तत्त्वतः असत् उपासना को साधन के रूप मे अङ्गीकार करने का क्या औचित्य है? साथ ही क्या मुक्ति इसका साध्य है? यतीन्द्र विद्यारण्य निर्गुणोपासना को मुक्ति-अयन के रूप मे मान्यता इसलिये देना चाहते हैं, क्योंकि श्रुतियों मे इसका उपदेश है, साथ ही इसका भी उद्देश्य मुक्ति-आप्ति ही है। इसे संवादी भ्रम से उपमित करते हुये आचार्य का अभिधान है कि, जैसे संवादी भ्रम अपने परिणति-काल मे यथार्थ ज्ञान का रूप ले लेता है, वैसे ही निर्गुणोपासना भी अपनी परिपक्वावस्था मे विवेक रूप होकर मुक्ति-दायिनी सिद्ध होती है।[१] 'सोऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामो न तस्य प्राणा उत्क्रामन्त्यत्रैव... य एवं वेदेति रहस्यम्' (नृ. उ. - ५।२) — के द्वारा तापनीयोपनिषद् अविशेषोपासन द्वारा मुक्ति-लाभ का आख्यान करती है।[२]

निर्गुणोपासना मे ध्यान का प्रमुख स्थान है। पञ्चदशी ज्ञान मे ध्यान

---

१. यथा संवादि भ्रान्तिः फलकाले प्रमायते।
बिद्यायते तथोपास्तिर्मुक्तिकालेऽतिपाकतः॥ (वही, ९।१२३)
विशेष : भ्रम दो प्रकार को होता है — संवादी एवं विसंवादी। मन्दिर मे प्रकाशित मणि की प्रभा को मणि समझना संवादी भ्रम है। किन्तु मन्दिर मे जल रहे दीपक की वर्तुलाकार लव (अर्थात् इसकी आभा) को मणि का प्रकाश समझनाविसंवादी भ्रम है। भ्रम दोनो हैं, परन्तु संवादी भ्रम मे द्रष्टा को परिणाम (अन्त) मे वास्तविक ज्ञान का लाभ मिलता है। मणि की आभा को मणि माननेवाला व्यक्ति जब मणि के पास पहुंचता है, तो उसका भ्रम समाप्त हो जाता है और उसे मणि की प्राप्ति हो जाती है। पर विसंवादी भ्रम मे उसे यह लाभ नहीं मिलता। दीप-प्रभाा मे मणि का भ्रम रखने वाला मनुष्य दीप के समीप जाकर भ्रम से रहित अवश्य हो जाता है, परन्तु मणि-लाभ से वञ्चित ही रहता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि, संवादी भ्रम की बुद्धि वस्तुलाभलक्षणार्थ क्रियापूर्ण रहती है, जबकि विसंवादी भ्रम की बुद्धि मे वस्तुलाभ लक्षणार्थ क्रिया का राहित्य रहा करता है। जिस प्रकार संवादी भ्रम अपने परिणति-काल मे वास्तविकता से जुड़ जाता है, उसी प्रकार उपासना भी अपनी परिपक्वास्था मे ब्रह्म-विद्या का रूप ले लेती है।

२. सोऽकामो निष्काम इति ह्यशरीरो निरिन्द्रियः।
अभयं हीति मुक्तत्वं तापनीये फलं श्रुतम्॥ (वही, ९।१४१)

की उपयोगिता का निर्वचन करती हुयी[१] ज्ञान को ही मुक्ति-आप्ति का वेदान्ताभीष्ट सिद्धान्त मानती है।[२] निर्विशेष ब्रह्म की उपासना की विकसित स्थिति मे साधक मे प्रथमतः सविकल्पक समाधि और बाद मे निर्विकल्पक समाधि का उदय होता है। इस काल मे अनुपहित परमात्मा के वार-वार भावन से 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्यों से आत्मब्रह्मैक्यबोध जागृत होता है। ऐसी स्थिति मे प्रमाता की बुद्धि; मे आत्मा का वास्तविक – असङ्गता, नित्यता, स्वयंप्रकाशता, पूर्णता आदि– रूप स्फुरित होने लगता है।

पञ्चदशी मे अविशेषोपासना को एक साधन के रूप मे प्रतिष्ठा अवश्य प्राप्त है, पर इसका उद्देश्य आत्म-प्रबोधोदय है। उपासना यदि आत्म-ज्ञान को उद्दीप्त नहीं कर पाती, तो वह निन्ध है और उपासक की वास्तविक हितैषिणी नहीं है।

आत्मा का देहादि पदार्थों से तादात्म्य एवं विश्व-सत्यत्व की प्रतीति को पञ्चदशी 'विपरीत भावना' की संज्ञा देती है।[३] जो वस्तु जिस रूप मे है, उसे उस रूप मे न समझ कर अन्य रूप में समझा जाना विपरीत भावना है – यथा शुक्ति को शुक्ति रूप मे न समझकर रजतरूप मे समझना। इसका कारण अविद्या है। इसके विनाशार्थ विद्यारण्य दो उपाय बतलाते हैं –

---

१. विशेष : अनात्म बुद्धि के क्षीणार्थ ब्रह्म-ध्यान आवश्यक है। ध्यान से व्यक्ति के अहङ्कार का विनाश हो जाता है तथा आत्म-रूप ब्रह्म की आप्ति हो जाती है –
देहाभिमानं विध्वंस्य ध्यानामात्मनमद्वयम्।
पश्यन्मर्त्योऽमृतो भूत्वा ह्यत्र ब्रह्म समश्नुते॥ (पं. द. - ९।१५७)

२. (अ) ध्यानं त्वैच्छिकमेतस्य वेदान्तमुक्तिसिद्धितः।
ज्ञानादेव तु कैवल्यमिति शास्त्रेषु डिण्डिमः॥ (वही, ९।९७)

(ब) 'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' (श्वे. - ३।८६) तथा 'मरणे ब्रह्मलोके वा तत्त्वं विज्ञाय मुच्यते।' (प्रश्न. - ९।१३६) – प्रभृति श्रुति वाक्य भी ज्ञान को ही मोक्ष का अद्वितीय साधन निरूपित करते हैं। निर्विशेषोपासना ज्ञान के आविर्भाव द्वार से ही मुक्ति का साधन बनती है, अतएव ज्ञान से इसका कोई विरोध नहीं हैं इस बात का द्योतन पञ्चदशी की ये पङ्क्तियां करती हैं –
उपासनस्य सामर्थ्याद्विद्योत्पत्तिर्भवेत्ततः।
नान्यः पन्था इति ह्येतच्छास्त्रं नैव विरूध्यते॥ (पं. द. - ९।१४२)

३. आत्मा देहादिभिन्नोऽयं मिथ्या चेदं जगत्तयोः।
देहाद्यात्मत्वसत्यत्वधीर्विपर्ययभावना॥ (वही, ७।१११)

१) तत्त्वोपदेश पूर्वोपासना[१] तथा
२) ब्रह्माभ्यास।

तत्त्वोपदेश के पूर्व प्रमाता यदि ब्रह्मोपासन करता है, तो शरीरादि मे आत्म-बुद्धि सदृश विपरीत भावना का नाश हो जाता है। अगर उपासना नहीं की जाती है, तो साधक को ब्रह्माभ्यास करना चाहिये। सच्चिदानन्द ब्रह्म का निरन्तर चिन्तन, उसका प्रतिपादन, उसका प्रबोध एवम् एकीभाव से उसमे समर्पण – ब्रह्माभ्यास है।[२] विपरीत-भावना के निवृत्यर्थ ब्रह्मपारायणता को श्रुति-स्मृति भी महत्त्व देती है – 'तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः[३] 'अनन्याश्चिन्तयन्तो मां योजनः पर्युपासते' (गीता - ९।२२) आदि। ब्रह्माभ्यास से उत्पन्न तत्त्व-भावना विपरीत भावना को क्षीण करती हुयी आत्मा तथा अनात्मा को विविक्त कर देती है।[४]

आत्म-साक्षात्कारार्थ विद्या के साथ योग को भी पञ्चदशी एक महत्वाधायी साधन के रूप मे प्रतिष्ठा देती है। योग एवम् आत्म-विवेक – दोनो अपरोक्ष ज्ञान-सिद्धि का सामर्थ्य रखते हैं। यथा उक्ति है –

'यद्योगेन तदेवेति वदामो ज्ञानसिद्धये।' (पं. द. - १२।८१)

इसके सम्पोषण मे आचार्य गीतोक्ति का सङ्केत करते हुये, उभय द्वारा एक ही मुक्ति रूपी फलाप्ति की बात करता है।[५] जिज्ञासा उत्थित होती है कि, मोक्ष रूपी एक साध्य के लिये विवेक तथा योग दो साधानो का क्या औचित्य है? इसका समाधान यह है कि, संसार मे अनेक प्रकार के लोग हैं। कुछ लोग योग की साधना नहीं कर सकते, परआत्म-ज्ञानाप्ति

---

१. विशेष : यहां उपासना 'सगुणोपासना' के लिये है –
'एतदैकाग्रयं ब्रह्मोपदेशात् प्रागेव सगुणब्रह्मोपासनात् भवति भवेदित्यर्थः।' वही, ७।१०४ की पददीपिका।

२. तच्चिन्तनं तत्कथनमन्योन्यं तत्प्रबोधनम्।
एतदेकपरत्वं च ब्रह्माभ्यासं विदुर्बुधाः॥ (पं. द. - ७।१०६)

३. उद्धत, वही - ७।१०७.

४. तत्त्व भावनया नश्येत् साऽतो देहातिरिक्तताम्।
आत्मनो भावयेत्तद्वन्मिथ्यात्वं जगतोऽनिशम्॥ (वही, ७।११२)

५. यत्सांख्यै, प्राप्यते स्थानं तद्यौगैरपि गम्यते।
इति स्मृतं फलैकत्वं योगिनां च विवेकिनाम्॥ (वही, १२।२३)

में सक्षम दिखलाई पड़ते हैं। इसी प्रकार कतिपय ऐसे लोग हैं, जो आत्म-विवेक के वजाय योग-संसाधन मे सफल दृष्टिगत् होते हैं। अतः दोनो साधनो की महत्ता है। विद्यारण्य की दृष्टि मे यह मानवीय आचार्यों की ही मान्यता नहीं है, अपितु परमेश्वर द्वारा भी इन दोनो को समान महत्व दिया गया हैं।[१] पञ्चदशीकार का कथन है कि, अपरोक्ष ब्रह्मानुभूति – इन दोनों साधनों द्वारा एक जैसी ही होती है, अतः इन दोनो मे किसी की वरतरता का आख्यान भी अनुचित है।[२]

निम्न स्थितियों मे भी ज्ञान एवं योग के सदृश वैशिष्ट्य का हम दर्शन कर सकते हैं। राग और द्वैष प्रभृति दोषों का अपनयन योगी तथा विवेकी दोनो से हो जाता है। आत्मोपलब्धि के काल मे योगी एवं ज्ञानी दोनो को रागहेतुक अनुकूलज्ञान के असद्भाववश, न तो किसी से राग हो पाता है और द्वेष-हेतु प्रतिकूल ज्ञान के अभाववशात् न तो द्वेष ही हो पाता है। द्वैत-अदर्शन की दृष्टि भी दोनो में एक जैसी ही रहा करती है। विवेककाल के ज्ञानी तथा समाधिकाल के योगी को द्वैतानुभूति नहीं होती। पर लोकाचरण मे दोनों द्वैत का समाश्रय लेते हैं।[३]

योग-मार्ग मे समाधि द्वार को ब्रह्म-साक्षात्कार मे मन के स्थैर्य की महती भूमिका रहती है। पञ्चदशी का डिण्डिमनाद है कि, व्यक्ति जिस तरह ऐन्द्रिक विषयों के प्रति अपने मन को लगाये रहता है, उसी प्रकार यदि वह इसे ब्रह्म में नियोजित कर दे, तो उसकी संसार से मुक्ति सुनिश्चित है।[४] मन को वशीभूत करने के लिये साधक को यह करना पड़ता है कि, मन जिन-जिन विषयों की ओर दौड़ता है, उनसे नियन्त्रित करके आत्मा

---

१. असाध्यः कश्चिद्योगः कस्यचिज्ज्ञाननिश्चयः॥
इत्थं विचार्य मार्गों द्वौ जगाद परमेश्वरः॥ (पं. द., १२/८३)

२. जिस प्रकार आत्म-ज्ञान को वेदों मे प्रतिष्ठा प्राप्त है, उसी प्रकार यजुर्वेद की मैत्रायणी शाखा के ॠषि शाकायन्य समाधि के ब्रह्म-सुख पाने का उपदेश देते हैं-
ब्रहद्रथस्य राजर्षेः शाकायन्यो मुनिः सुखम्।
प्राह मैत्राख्यशाखायां समाध्युक्तिपुरःसरम्॥ (वही, ११/११०)

३. द्वैतस्य प्रतिभागं तु व्यवहारे द्वयोः समम।
समाधौ नेति चेतद्वन्नाद्वेतत्वविवेधिनः॥ (पं. द. १२/८७)

४. समासक्तं यथा चितं जन्तोर्विषयगोचरे।
यद्यैवं ब्रह्मणि स्यात्तत्को न मुच्येत् बन्धनात्॥ (वही, ११/११५)

मे ही इसे नियोजित करे। यह कार्य सहसा नहीं होता, इसके लिये अभ्यास की अपेक्षा रहती है।[१] अभ्यास के द्वारा योगी का चित्त यह मानकर कि 'आत्मा ही सब कुछ है, इसके अतिरिक्त कुछ नहीं है,' इस प्रकार आत्म-पारायण होकर उसी मे स्थिर हो जाता है। योगी के चित्त काब्रह्म में स्थैर्य चित्त को कल्मष शून्य करके जीवन्मुक्त स्थिति मे ला देता है। ऐसी स्थिति मे जीव मे ब्रह्मानन्द की अनुभूति होने लगती है।[२]

योगी के चित्त मे जब राजस एवं तामस वृत्तियों काक्षय हो जाता है, तो उसकी स्थिति इन्धनरहित अग्नि के सदृश हो जाती है।[३] इस अवस्था मे वह शान्त भाव से सत्कारण मे स्थित हो जाता है। ऐसे चित्त मे वैषयिक पराङ्मुरवताके फलस्वरूप सत्याप्ति की ईप्सा प्रबलतालिये रहती है। इस प्रकार के योगी को सुख-दुःख, हानि-लाभ मिथ्या भान होते हैं।[४] समाधि द्वारा विषयों से निवारित योगी के चित्त मे दृष्ट चिज्ज्योति रूप आत्मा

---

१. अभ्यास का प्रतिपादन इस रूप मे हुआ है-

शनैःशनैरूपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया।

आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्॥ (वही, ११/१०१)

२. प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम्।

उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम्॥ (वही, ११/१०३)

३. चित् ही संसार का कारण है, अर्थात् संसार चितन्मय है। अतः अभ्यास, वैराग्यादि के द्वारा इसका शोधन आवश्यक है। अगर यह कहा जाय कि, मुक्ति चूंकि, आत्मा (जीव) को मिलती है, इसलिये उसी को शुद्ध किया जाना चाहिये। पर यह उचित नहीं, क्योंकि आत्मा स्वरूपतः शुद्ध है, वस्तुतः उसका शोधन हो ही नहीं सकता। इसी तथ्य का चित्रण आचार्य रामकृष्ण की निम्न पङ्क्तियां भी करती है- 'यतश्चित्तात्मकः संसारः अतस्तच्चित्तमेव प्रत्यत्नेनाभ्यासवैराग्यादिलक्षणेन शोधयेत रजस्तमोराहित्येनैकाग्रं कुर्यात्। नन्वात्मनो विमुक्तये आत्मैव शोधनीयो न चित्तमित्याशङ्क्याह। यो देही यच्चित्तोयस्मिन् पुत्रादौ विषये चितवान् भवति सतन्मयः तदात्मक एव, तत्-साकल्यवैकल्ययोरात्मन्येव समारोपणात्।' प.द. ११/११३ की 'पददीपिका'।

४. वही, ११/१११, ११२

योगी को अनुपम सन्तुष्टि का सुख देता है।[1] इन्द्रियाग्राह्य अद्वितीय आत्मानन्द के अनुभविता योगी को पुनः च्युत होने की आशङ्का नहीं रह जाती। इसका कारण यह है कि, आत्मानुभव के इस काल मे योगी को आत्मा से अधिक आकर्षक ऐसी कोई वस्तु नहीं दिखती, जो उसे च्युत कर सके।[2] इस प्रकार आत्म-रत योगी को विवेकियों की भांति जो सुख मिलता है, वह असीम एवम् अनश्वर स्वभाव का होता है। इस तरह ज्ञानी तथा योगी दोनो एक जैसे ही साधना-फल से लाभान्वित होते हैं।

जीवब्रह्मैक्य साक्षात्कार मे अन्तःकरण की वृत्ति किस तरह उपयोगी सिद्ध होती है, इस तथ्य की ओर भी पञ्चदशी हमारा ध्यान आकृष्ट करती है। एक जिज्ञासा उठती है कि, आत्मा/ब्रह्म जो स्वयं ज्योति रूप है, वह जीव की भांति क्या चित्त-वृत्ति की व्याप्ति का विषय बनता है ? ब्रह्म के शुद्ध रूप की दृष्टि से देखा जाय, तो वह इसका विषय नहीं बन सकता। पर ऐसा होने पर चिदाभास जीव के परमार्थ विषयक अज्ञान की व्यावहारिक स्तर पर निवृत्ति सम्भव नहीं दिखती। विद्यारण्य जीवगत अज्ञान के अपनयनार्थ आत्म (ब्रह्म) तत्त्व को अन्तःकरण की वृत्ति का विषय स्वीकार करते हैं। इनके अनुसर प्रत्यगात्मा और ब्रह्म के भेदाज्ञान के विनाशार्थ 'अहं ब्रह्मास्मि' इस प्रकार की बुद्धि-वृत्ति की व्याप्ति का विषय ब्रह्म बनता है। चूंकि, ब्रह्म स्वयं चिन्मय है, अतः इसके स्फुरणार्थ चिदाभास की

---

१. यत्रोपरमते चित्तं निरूद्धं-योगसेवया।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति॥ (पं. द ११/१०४)

विशेष : योगी की इस चित्तवृत्तियों की अभावावस्था को सुषुप्तिकाल नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वृत्तियों के अभाव रहने पर भी इस समय अन्तःकरण का अस्तित्व बना रहता है। यह अवस्था द्वैत और सुषुप्ति दोनो से पृथक् है। इसमे मिलने वाला आनन्द ब्रह्मानन्द है। इसका अभिधान गीता भी करती हैः
न द्वैतं भासते नापि निद्रा तत्रास्ति यत्सुखम्।
स ब्रह्मानन्द इत्याह भगवानर्जुनं प्रति॥ (पं. द. ११/१००)

२. यं लब्ध्वा चापरंलाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिंस्थितो न दुःखेन गुरूणापि विचाल्यते॥ (वही, ११/१०६)

आवश्यकता नहीं पड़ती।[१] मात्र अन्तःकरण की वृत्ति की अपेक्षा रहा करती है, ठीक उसी तरह जैसे दीपक के अवलोकनार्थ नेत्रोन्मीलन की अपेक्षा होती है। परन्तु वैश्व पदार्थों को दृष्टि-गोचर करने हेतु नेत्र और प्रकाश दोनो जरूरी रहते हैं।[२] ब्रह्म पर प्रतीत होनेवाला अज्ञानावरण चित्तवृत्ति मे ब्रह्म-विषयता से धीरे-धीरे दूर होता जाता है और ब्रह्म का वास्तविक रूप स्फुटित होने लगता है।

उपर्युक्त ब्रह्मापरोक्ष ज्ञान मे ब्रह्म की चित्तवृत्तिव्यापकता के प्रकरण मे कतिपय सन्देह उत्पन्न होते हैं, यथा- बुद्धि-वृत्ति चिदाभास से युक्त होने के कारण जिसको अपना विषय बनाती है, उसमे विशेष परिणामोत्पत्ति दिखलाई पड़ती है। घर, पट आदि जागतिक पदार्थों को वृत्ति चिदाभास के साथ व्याप्त करके इनमे स्फुरण (प्रकाश) रूप विशेष फल का आविर्भाव करती हुयी देखी जाती है।[३] अतः ब्रह्म भी जब उसकी व्याप्ति का विषय बनता है, तो उसमे भी विशेष फल की उत्पत्ति होनी चाहिये। इसी प्रकार ब्रह्म जब स्वयं प्रकाशरूप है, तो वह स्वयम् अज्ञानानन्धकार दूर करने मे सक्षम क्यों नहीं? उसे वृत्ति के विषय बनने की क्या आवश्यकता?

इनमे प्रथम सन्देह का निराकरण यह है कि, ब्रह्मविषयक अज्ञाननाशार्थ मात्र बुद्धि-वृत्ति की अपेक्षा रहती है। इस ब्रह्माकाराकारित वृत्ति मे चिदाभास भी रहता है किन्तु वह ब्रह्मैक्य रूप मे भासित रहता है। यहां स्फुरण रूप विशेष फल की सम्भावना तब रहती, जब व्याप्ति का विषय ब्रह्म स्फुरण रहित होता। चूंकि, ब्रह्म स्वयं प्रकाश लक्षणक है, अतः उसे बुद्धि प्रतिबिम्बित चिदाभास के भास की कोई अपेक्षा ही नहीं रहती। इस प्रकार

---

१. ब्रह्मण्यज्ञाननाशाय वृत्तिव्याप्तिरपेक्षितः।
स्वयंस्फुरणरूपत्वान्नाभास उपयुज्यते॥ (वही, ७/९२)

२. चक्षुर्दीपावपेक्ष्येते घटादेर्दर्शने यथा।
न दीपदर्शने किन्तु चक्षुरेकमपेक्ष्यते॥ (पं.द.- ७/९३)

३. विशेषः घटविषयक चित्त-वृत्ति के उदय होने पर दो कार्य सम्पन्न होते हैं। वृत्ति घट-विषयक अज्ञान को दूर करती है और चिदाभास घट को प्रकाशित करता है।

विशेष फल का यहां अवकाश नहीं।[१]

द्वितीय सन्देह की निराकृति इस प्रकार से हो जाती है कि, यद्यपि ब्रह्म ज्योतिरूप है, सबका भासक है। परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से उसका ज्योतिरूपत्व अज्ञानावरणवशात् प्रकट नहीं रहता। इसीलिये ब्रह्म के वास्तविक रूप के साक्षात्कारार्थ श्रवणादि उपायों का आश्रय लेना पड़ता है। ब्रह्म का बुद्धि-वृत्ति-विषयत्व भी एक साधन है। धी पर आरूढ़ ब्रह्म-ज्ञान अज्ञानविनाशपूर्वक ब्रह्म का रूप स्पष्ट कर देता है।

प्रत्यक् अर्थात् जीव तथा अप्रत्यक् अर्थात् ब्रह्म की एकता मे बाधक अज्ञान को दूर करने के लिये 'अहं ब्रह्मास्मि' - एतदाकाराकारित बुद्धि वृत्ति मे ब्रह्म की व्याप्ति से सम्बद्ध पञ्चदशी की मनीषा श्रुतियों मे प्राप्त ब्रह्म-विषयक विरूद्ध अभिधानो मे भी सामञ्जस्य स्थापित करती हुयी दिखती है। 'मनसैवानुद्रष्टव्यम्', 'मनसैवेदमाप्तव्यम्', 'दृश्यते त्वग्रया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः' - श्रुति पङ्क्तियां ब्रह्म की मन द्वारा आप्ति अथवा बोधगम्यता का निर्वचन करती हैं। किन्तु 'यतो वाचो निवर्तन्ते', 'यन्मनसा न मनुते' -प्रभृति वेद-वाक्य मन तथा वाणी से उसकी परता का आख्यान करते हैं। ब्रह्म की वृत्ति-विषयता मे जीवचैतन्यगत अज्ञान-निवृत्ति के फलस्वरूप ब्रह्म-बोध होने के कारण, 'मनसैवानुद्रष्टव्यम्' आदि श्रुतियों की सार्थकता सिद्ध होती है। ब्रह्मज्ञान का यह कार्य ब्रह्माकाराकारित चित्त-वृत्ति से ही सम्पादित होता है। जहां तक ब्रह्म की अवाङ्मनसगोचरता की बात है, वह भी अबाधित रहती है, क्योंकि अज्ञानावरणापनयनवशात् इस समय का शुद्ध चैतन्य स्वयं प्रभा रूप रहा करता है, यह किसी प्रकाश द्वारा प्रकाश्य नहीं रहता। इस प्रकार श्रुति मान्य उभय प्रकार के ब्रह्म-रूप का समन्वय यहां अवलोक्य है।

---

१. अप्रमेय तथा अनादि ब्रह्म का वृत्ति-व्यापित्व एवं फल-अव्यापित्व श्रुतियों को अभिमान्य है, इस बात का भी उल्लेख पञ्चदशी करती है-
अप्रमेयमनादिं चेत्यत्र श्रुत्येदमीरितम्।
मनसैवेदमाप्तव्यमिति धीव्याप्यता श्रुता॥ (पं.द. ७/९५)

जिज्ञास्य यह बनता है कि, ब्रह्म-साक्षात्कार की इस प्रक्रिया मे चित्त-वृत्ति का अस्तित्व कहां तक रहता है? चैतन्याकाराकारित वृत्ति अर्थात् 'अहंब्रह्मस्मि' यह ब्रह्म-विषयक वृत्ति जीव-चित्ति के अज्ञानवरण को दूर करने के पश्चात् स्वयं समाप्त हो जाती है। इसको अद्वैतवेदान्त मे जल को स्वच्छ करनेवाले चूर्ण के सदृश कहा गया है। जिस प्रकार जल को अच्छ करने वाला चूर्ण उसी मे लीन हो जाता है, तद्वत् वृत्ति भी जीवाज्ञान दूर करके अस्तित्व-शून्य हो जाती है। इसके अनन्तर शुद्ध चैतन्य के अतिरिक्त चिदाभास रह जाता है, वह भी चैतन्य का ही अंश होने के कारण उसी मे विलीन हो जाता है।

सप्तम-परिच्छेद

मुक्ति :

आत्मा अथवा ब्रह्म का प्रापञ्चिक बन्धन दो रूपों मे दृष्टि-गत होता है - एक मे ब्रह्म स्व-रूप संकोचन द्वारा अनेकत्व की कामना से, अन्तःकरण के आवरण द्वार से जीवत्व सन्धारण करता है। दूसरे मे इसके द्वारा जीव रूप मे अभिमान किया जाता है। ये अद्वैत की शास्त्रीय भाषा मे पौरुष तथा बौद्ध अज्ञान के रूप मे जाने जाते हैं। गुरूपदिष्ट 'तत्त्वमसि' इत्यादि महावाक्य ब्रह्म एवं जीव के अभेद को प्रदीप्त कर पौरूष अज्ञान को दूर कर देते हैं। इस स्थिति मे मुमुक्षु की चित्तवृत्ति ब्रह्मैक्याकाराकारित रहा करती है। पर मुक्ति जीव को तभी मिल पाती है, जब 'अहं ब्रह्मास्मि' की अनुभूति होने लगती है। यह अनुभूति जीव के बुद्धि-गत-अज्ञान को अपाकृत करती है। उभय-प्रकारक अज्ञान-निवृत्ति के अनन्तर जीव मुक्ति का अनुभव करने मे समर्थ बन जाता है।

अद्वैत-मत मे नित्य शुद्धबुद्धमुक्तप्रकृतिक आत्मा की 'स्व' मे स्थिति मुक्ति है। अद्वैताचार्यों ने मुक्ति का बाधक अविद्या को ही माना है। इसके विनाश के अनन्तर आत्मा को अपने वास्तविक रूप का बोध हो जाता है, यही उसकी मुक्ति है। अविघा का क्षय विघा के द्वारा होता है - इसकी चर्चा पिछले अध्याय मे हो चुकी है।

अविद्या के निवर्तन के विषय मे पूर्वपक्षीय विविध शङ्काओं को उद्भासित करते हुये विमुक्तात्मा, चित्सुखाचार्य तथा मधुसूदन सरस्वती आदि आचार्यों ने उत्तर पक्ष के रूप मे अद्वैतीय सिद्धान्तों का प्रतिष्ठपान किया है। इन सबकी चर्चा का यहां अवकाश नहीं है। इनकी मीमांसा पर दृष्टि डालने से यह बात सामने आती है कि, शुद्ध चिन्मयाद्वैत ब्रह्म/आत्मा अविघा तथा उसके क्रिया-व्यापार का निवर्तक है। इसको रज्जु मे अहि एवं शुक्ति मे रज्त भ्रम के लौकिक दृष्टान्तों द्वारा भी समझा जा सकता है। जिस

प्रकार रस्सी अथवा सीपी के वास्तविक रूप का ज्ञान हो जाने पर उस पर आरोपित सर्प अथवा चांदी का भ्रम समाप्त हो जाता है, उसी प्रकार आत्मा/ब्रह्म के वास्तविक प्रबोध के अनन्तर इसके अन्तःकरणोपाधिक रूप का समापन हो जाता है। नष्ट हुयी अविद्या तथा विनाश को प्राप्त हुये इसके विकार-किस तरह मुक्त को प्रभावित नहीं करते, इनका पुनरुत्पाद क्यों नही होता, इसको भी उपर्युक्त उदाहरणों द्वारा निम्नरूप से जाना जा सकता है, यथा- रज्जु या शुक्ति मे पन्नग या रजतपरक उपलक्षणात्मक ज्ञान नष्ट हो जाने पर पुनःउत्पन्न नहीं होते, वैसे ही आत्मा के उपलक्षणात्मक (ज्ञात) रूप का विनाश हो जाने पर फिर से उसमे अविद्या एवं तज्जन्य विकृतियों की उत्पत्ति नहीं होती। इस प्रकार मुक्त के मुक्तत्व का सातत्य बना रहता है। इसी तथ्य का उद्घाटन निम्न श्लोक मे हुआ है-

निवृत्तिरात्मा मोहस्य ज्ञातत्वेनोपलक्षितः।
उपलक्षणनाशेऽपि स्यान्मुक्तः पाचकादिवत्॥

अद्वय रूप आत्मा की अद्वैत-युक्तता उसका बन्धन है तथा इस बन्धन से मुक्त अपने रूप मे संस्थित होना ही मुक्ति है - ऐसा पञ्चदशी का मानना है-

अद्वयानन्दरूपस्य सद्वयत्वं च दुःखिता।
बन्धः प्रोक्तः स्वरूपेण स्थितिर्मुक्तिरितीर्यते॥ (१०/४)

इस अज्ञानात्मक बन्धन का निवारण विवेक से सम्भव है। मुक्ति देने का सामर्थ्य ब्रह्मज्ञान मे ही है, यह पञ्चदशी का स्पष्ट मत है।[१] आत्मा प्रबन्धन अविचारज है, अतः इसका निवर्तन विचारमूलक ज्ञान ही कर सकता है।[२] इसलिये मोक्षेच्छु को आत्म-साक्षात्कार पर्यन्त ज्ञानका संशय लेना परमावश्यक है।

आत्मा अथवा ब्रह्म का विचार जो मुमुक्षु मे परोक्ष एवम् अपरोक्ष ज्ञान का आविर्भावक है, पञ्चदशी इसकी उपयोगिता अपरोक्षानुभूति तक अङ्गीकार करती है।

---

१. मुक्तिस्तु ब्रह्मतत्त्वस्य ज्ञानादेव न चान्यथा।
स्वप्रबोधं विना नैव स्वस्वप्नो हीयते यथा। (पं.द. ६/२१०)

२. अविचारकृतो बन्धो विचारेण निवर्तते। (वही, १०/५)

एक प्रश्न उठता है कि, क्या आत्मा मे परोक्ष और अपरोक्ष - दोनों प्रकार के ज्ञान सम्भव हैं? पञ्चदशी उभय रूपो मे आत्म-ज्ञान को उपयुक्त ठहराती है।[1] जिस प्रकार ९ व्यक्तियों की गणना करके, मै दशवां हूं' - इस बात को न जानकर दशवां व्यक्ति दशवें के लिये (मृत्यु आदि की आशङ्का से) विलाप करता है। पर जब आप्तोपदेश द्वारा वह यह जान लेता है कि 'मै ही दशवां हूं', तो रोदन छोड़कर प्रसन्न हो जाता है। यहां दशवें के अपरोक्षत्व मे भी इसका परोक्षत्व भ्रम के कारण रहता है। इस दशवें के परोक्षत्व बोध के सदृश प्रमाता को आत्म-ज्ञान पहले परोक्ष रूप मे रहता है, पुनः साधनो के द्वारा यह प्रत्यक्ष रूप को प्राप्त कर लेता है। जीवात्मा को ब्रह्म-बोध की प्राप्ति मे पूर्वाध्यायोक्त विविध उपाय प्रभावी रहते हैं। आत्मा के औपाधिक तथा अनौपाधिक रूप का शास्त्रीय विवचेन भी इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इसके द्वारा जीव को अपने सही रूप की जानकारी मिलती है।

आचार्य विघारण्य आत्म-विचाराभ्यास की अपेक्षा परोक्ष-बोध मे ठीक उसी तरह समझते हैं, जैसे काव्य रचना (अथवा काव्य-पाठ) तथा नाट्याभिनय की स्पर्धा मे विजय-प्राप्ति हेतु बार-बार इनका अभ्यास करना पड़ता है। स्वर्गादि उत्तम लोकों के आप्त्यर्थ जप, यज्ञादि पुण्य कर्मो का उपार्जन करना पड़ता है। अणिमा, लघिमा, गरिमा इत्यादि सिद्धियों को प्राप्त करने के लिये निरन्तर योगाभ्यास करना पड़ता है। आत्मा के शुद्ध रूप को जड़ पदार्थों एवम् इसके मोक्तृत्वादि औपाधिक रूप से पृथक् समझने मे अन्वय व्यतिरेक का सिद्धान्त भी प्रभावी भूमिका अदा करता है। इसके द्वारा जीव अपने साक्षी रूप को पृथक् जान लेता है।[2] जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति मे जो भी स्थूल, सूक्ष्म एवम् आनन्दमय वस्तुयें दृष्टिगोचर होती हैं, इनका द्रष्टा इनके अलग रहकर इनको देखता है। पञ्चदशी श्रुतियों के साक्ष पर इस बात को संस्थिर करती है कि, जब जीव जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति-गत प्रापञ्चिक जगत् के प्रकाशक तत्त्व (ब्रह्म) को अपना रूप जानने मे समर्थ

---

१. परोक्षमपरोक्षं च ज्ञानमज्ञानमित्यदः।
नित्यापरोक्षरूपेऽपि द्वयं स्याद्दशमे यथा। (वही, ७/२२)

२. विविचता मोक्तृतत्त्वं जाग्रदादिष्वसङ्गता।
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां साक्षिण्यध्यवसीयते॥ (पं.द. ७/२१०)

हो जाता है, तो उसे मुक्ति सुलभ हो जाती है।[१] इस स्थिति मे जाग्रतादि अवस्थाओं के स्थूल, सूक्ष्म और आनन्द-मय भोग्य पदार्थ तथा वैश्व, तैजस एवं प्राज्ञ-रूप इनका भोक्तृत्व और अनुभव रूप इनके भोग - सबसे पृथक् होकर आत्मा अपने असङ्ग चिन्मयानन्द रूप का अनुभूति-भाजन बन जाता है। अपरोक्षानुभूति के इस काल मे ज्ञानियों के ब्रह्म-बोध मे न्यूनाधिक्य नहीं रहता है सब की अनवद्य ब्रह्मरूपावस्थिति एक जैसी रहती है।[२]

ब्रह्म के अपरोक्ष ज्ञान-सम्भाव्यता मे एक पूर्वपक्षीय विचिकित्सा जन्म लेती है। इसके अनुसार जीव अन्तःकरणोपाधि से युक्त है, अतः उसका अपरोक्ष ज्ञान हो सकता है, परन्तु ब्रह्म तो निरूपाधिक है, इसका अपरोक्ष बोध कैसे हो सकता है? इसके उत्तर मे पञ्चदशीकार का अभिधान है कि जीवात्मा जब तक विदेह मुक्ति त्पब्ध नहीं कर लेता, तब तक उसका ब्रह्म बोध सोपाधिक रहता है। वस्तुतः उपाधि के दो रूप हैं १. भावात्मक और २. अभावात्मक। जीव का अन्तःकरण से सम्बन्ध भावात्मक उपाधि का परिचायक है। अन्तःकरण से असम्बद्धता ब्रह्म की अभावात्मक उपाधि है।[३] इसको विधि एवं प्रतिषेध द्वारा श्रुतियां भी व्याख्यायित करती हैं। 'तत्त्वमसि' महावाक्य मे तत् शब्द विधिद्वार से सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' आदि के रूप मे साक्षात् ब्रह्म के रूप का प्रतिपादक है। परन्तु 'अतद्' शब्द एवं 'नेति नेति' द्वारा श्रुतियां अज्ञानात्मक प्रपञ्च के निषेध का वर्णन करती हैं। विदेह-मोक्ष पर्यन्त पञ्चदशी निषेधोपाधि के रूप मे ब्रह्म के अपरोक्ष-बोध को प्रतिष्ठित करती है।

जीव-चैतन्य के बन्धन का कारण पञ्चदशी अन्नमय, प्राणमय, मनोमय विज्ञानमय एवम् आनन्दमय कोशों को मानती है। इन कोशों से आच्छादित जीवात्मा बन्धन को प्राप्त होता है। इनके आवरण के प्रतिफलस्वरूप जीव अपने निज रूप का विस्मरण कर जाता है और संसृतिभाजन बन जाता है। चूंकि, आत्मा का यथार्थ रूप पञ्चकोशों से अलग है, अतः

---

१. जाग्रतस्वप्नसुषुप्त्यादिप्रपञ्चं यत्प्रकाशते।
तद्ब्रह्माहमिति ज्ञात्वा सर्वबन्धैः प्रमुच्यते। (वही, ७/२१३)

२. स्वस्यकर्मानुसारेण वर्तन्तांते यथा तथा।
अवशिष्टः सर्वबोधः सभा मुक्तिरिति स्थितिः॥ (वही, ६/२८८)

३. द्रष्टव्य, प.द. - ७/८५

इसके पृथक् करने मे अन्वय-व्यतिरेक का आश्रय लिया जाना समीचीन है। अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा कोशों से आत्मा को विविक्त करने की पद्धति का आख्यान पञ्चदशी के तत्त्वविवेक प्रकरण मे प्रस्तुत है। अन्नमयकोश से आत्मा का अन्वयन तथा व्यतिरेक बोध्य इस तरह है - स्वप्नावस्था मे अन्नमय स्थूल देह की अप्रतीति होने के बावजूद आत्मा का भास अन्वय है और यहीं आत्मा के अवभास मे भी स्थूल शरीर का अनवभासन व्यतिरेक है। अन्नमयकोश की भांति आत्मा का पार्थक्य अन्यकोशों से भी अन्वय-व्यतिरेक द्वारा सिद्ध होता है। अन्वय-व्यतिरेक का यह सिद्धान्त आत्मा के कोश-सम्बन्ध को मिथ्या सिद्ध करता है। कोशोपाधि के ही कारण ब्रह्म का जीवत्व सत्य प्रतीत होता है। जीव इस उपाधि से रहित अपने रूप को जानने के बाद ब्रह्ममय हो जाता है। ब्रह्म की तरह वह भी सदा के लिये जन्मादि के असत् बन्धन का अतिक्रमण कर जाता है।[१]

मानस-द्वैत चिदाभास को बांधता है।[२] यद्यपि मन अथवा चित्त जगत् का उपादान नहीं है। किन्तु जगत् का भोग्यत्व चित्त के ही कारण निष्पन्न होता है। सुषुप्ति मे चित्ताभाव के कारण भोग सम्पन्न नहीं होता। चित्त की भोग्यभाजनतावश विश्व चित्तात्मक भी अङ्गीकार्य है। श्रुति 'ध्यायतीव लेलायतीव' ('बृह० ४/३/७) प्रभृति उद्गीरणो द्वारा इसका समर्थन करती है।

मन के दो रूप हैं - शुद्ध एवम् अशुद्ध। काम-क्रोधादि विकृतियों से हीन शुद्ध और इनसे युक्त अशुद्ध मन का रूप है। विषयानुरक्ति मन को बन्धन मे डालती है। पर विषय राहित्य इसमे मोक्ष की अर्हता उत्पन्न करता है।[३] वैराग्यभ्यास के द्वारा चित्त रजस् एवं तमस् गुणो से शून्य होकर शुद्धता की आप्ति करता है। चित्त की परिशुद्धावस्था शुभा-शुभ कर्मों के अभाव की अवस्था है। इस स्थिति मे आत्मस्थित प्रमाता को अक्षय आनन्द

---

१. स एवं ब्रह्म वेदैष ब्रह्मैव भवति स्वयम्।
ब्रह्मणो नास्ति जन्यातः पुनरेष न जायते॥ (पं.द. ३/४३)

२. विशेष : मन को बन्धन-मोक्ष का हेतु कहा भी गया है।
मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः। (वही, ११/११७)

३. बन्धाय विषयासक्तं मुक्त्यै निर्विषयं स्मृतम्॥ (वही)

की लब्धि होती है।[१] पञ्चदशी प्रणेता का दृढ़ अभिधान है कि, प्राणी जिस आसक्ति से अपने चित्त को ऐच्छिक विषयों को अर्पित रखता है, यदि चित्त का ऐसा ही आसक्त्यात्मक समर्पण ब्रह्म में हो जाय, तो उसको मोक्ष का लाभ मिलना सुनिश्चित है।[२]

विरति एवम् अभ्यास आदि उपाय चित्त को द्वैत की सत्यता से मुक्ति दिलाते हुये वास्तविक सत्य की ओर उन्मुख अवश्य करते हैं, परन्तु आत्यन्तिक बन्ध से मोक्ष जीव को ब्रह्म-ज्ञान से ही प्राप्त होता है।[३] आचार्य विद्यारण्य श्रेष्ठ अद्वैताचार्यों के द्वार से ब्रह्म बोध का साफल्य इसमे अङ्गीकार करते है कि, वेत्ता की बुद्धि विक्षेप शून्य होकर ब्रह्म-विषया बन जाय। वास्तविक ज्ञानी ज्ञानाज्ञान से उपर उठकर मात्र अद्वितीय ब्रह्म मे संस्थिर रहता है। ऐसा मुक्त जीव ब्रह्म ही है।[४] पञ्चदशी मोक्ष को ब्रह्म से अभिन्न रूप मे उल्लिखित भी करती है।[५]

पञ्चदशी मुक्तीच्छु को बार-बार निर्दिष्ट करती है कि, उसे देहादि से भिन्न अपने यथार्थ रूप का सतत विचार करना चाहिये।[६] इस प्रकार का चिन्तन उसे मोक्ष का साक्षात्कार उपलब्ध कराने मे समर्थ है। जिस प्रकार योगी अपने योगाभ्यास द्वारा अणिमादि सिद्धियों के ऐश्वर्य से विभूषित होता है, उसी प्रकार आत्म-चिन्तन के निरन्तराभ्यास से मुमुक्षु मे विवेकोदय होता है। इसके प्रतिफलस्वरूप जीव को तीनो (जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति)

---

१. चितरूपं हि प्रसादेन हन्ति कर्म शुभाशुभम्।
प्रसन्नात्माऽऽत्मनि स्थित्वा सुखमक्षय्यमश्नुते॥ (वही, ११/११४)

२. समासक्तं यथा चित्तं जन्तोर्विषयगोचरे।
यद्यैवं ब्रह्मणि स्यात्तत्को न मुच्येत् बन्धनात्॥ (प. द, ११/११५)

३. बन्धश्चेन्मानसद्वैतं तन्निरोधेनशाम्यति।
अम्यसेद्योगमेवातो ब्रह्मज्ञानेन किं वद॥ (पं. द. ४/३८)
तात्कालिक द्वैतशान्तावप्यागामिजनिक्षयः।
ब्रह्मज्ञानं विना न स्यादिति वेदान्तडिण्डिमः॥ (वही, ३९)

४. दर्शनादर्शने हित्वा स्वयं केवलरूपतः।
यस्तिष्ठति स तु ब्रह्मन् ब्रह्म न ब्रह्मवित् स्वयम्॥ (वही, ४/६८)

५. नित्यनिर्गुणरूपं तन्नाममात्रेण गीयताम्।
अर्थतो मोक्ष एवैष संवादिभ्रमवन्मतः॥ (वही, ९/१३९)

६. द्रष्टव्य, पं.द. ७/२०६ से २०९ तक

अवस्थाओं मे उसके पारमार्थिक रूप का अनुभव सम्भव हो जाता है। इस तरह दृश्यमाण प्रपञ्च को आभास देनेवाले परम सत्य से वह अपना तादात्म्य संस्थापित करके भोला भोक्ता और भोग से रहित साक्षी, शिव एवम् आनन्द रूप मे प्रस्थिर होता है।[१] मुक्ति के इस अद्वितीय वैभव को प्राप्त हुआ जीवात्मा पुनः जन्म-मरण के बन्धन मे नहीं फंसता है।

पञ्चदशी मुमुक्षु को जीते जी मुक्त होने पर विशेष बल देती है। मुक्ति के लिये तत्त्वज्ञान (जिसकी प्रसङ्गतः पूर्व मे चर्चा की गयी है) परमावश्यक वस्तु है जो भी मोक्षपथारूढ़ साधक बुद्ध्यादि से अनुपहित स्व-रूप को सम्यक् समझ लिया है, वह मुक्त है।[२] पञ्चदशी मे अनेक स्थलों पर प्रमाता के तत्त्वज्ञानाभ्यास तथा जीवन्मुक्ति की विविधानुभूतियों का उपक्रम किया गया है। ब्रह्माभ्यास के द्वारा मोक्षकाम का ब्रह्मज्ञान इतना सुदृढ़ हो जाता है कि, वह प्रारब्धज शरीरादि से युक्त रहकर भी जीवन्मुक्त रहा करता है।[३] परमसत्य के रूप का चिन्तन, इसका वर्णन तथा इसका बोध ब्रह्माभ्यास है।[४] जीवन्मुक्ति के लाभ के बाद भी कभी-कभीं जीव मे (किसी कारण वश) अध्यासज भ्रम उत्पन्न हो सकता है। ऐसी स्थिति प्रतीत होने पर विवेक के द्वारा इसका शीघ्र अपाकरण आवश्यक होता है।

सच्चिदानन्द परमार्थ के साक्षात्कारार्थ नामरूपात्मक विष्टप की अवज्ञा अत्यन्तापेक्षित है। नाम तथा रूप के द्वार से प्रतीत होने वाले जगत् के प्रति मुमुक्षु मे मिथ्या-भाव मुक्तयर्थ पञ्चदशी अत्यावश्यक मानती है। वास्तविकता यह है कि, मोक्ष की भावनातथा मोक्ष की स्थिति - दोनो तब तक दृढ़ नहीं हो सकते, जब तक सांसारिक द्वैत का मिथ्यात्व मोक्षाधिकारी मे परिपक्व नहीं हो जाता। वस्तुतः द्वैत के प्रति असत्यता

---

१. त्रिषुधामसु यद् भोग्यं भोक्ता भोगश्चयद्भवेत्।
तैभ्यो विलक्षणः साक्षी चिन्मात्रोऽहं सदाशिवः॥ (वही, ७/२१५)

२. बुद्धयादीनां स्वरूपं यो विविनक्ति स तत्त्ववित्।
स एव मुक्त इत्येवं वेदान्तेषु विनिश्चयः॥ (पं.द. ८/५४)

३. वासनानेककालीना दीर्घकालं निरन्तरम्।
सादरं चाभ्यस्यमाने सर्वथैव निवर्तते॥ (वही, १३/८४)

४. तच्चिन्तनं तत्कथनमन्योन्यं तत्प्रबोधनम्।
एतदेकपरत्वं च ब्रह्माभ्यासं विदुर्बुधाः॥ (वही, १३/८३)

का विचार जितना सशक्त होगा, मुक्तीच्छु इसका अवधीरण भी उतनी ही दृढ़ता से कर सकेगा। द्वैत की उपेक्षा-सम्यक्रूप मे स्थिर हो जाने पर, बुद्धि मे स्वयम् अद्वैततत्त्व के प्रति अटूट निष्ठा-भाव जागृत होता है। बुद्धि की अद्वैत तत्त्व मे स्थिरता जीवन्मुक्तावस्था है।[१] पञ्चदशी का कथन है कि अद्वैत मे चित्त के स्थैर्य के बाद भी पूर्वजन्म के संस्कारों के परिणाम स्वरूप, यदि द्वैत का अवैतथ्य अनुभूति मे आता है, तो इसके नाशार्थ अद्वैत का ही बार-बार भावन करना चाहिये। अद्वैत संसाधन मे किसी प्रकार का कष्ट नहीं है। इसके द्वारा प्राणी समस्त अनर्थों से दूर भी हो जाता है।[२] प्रश्न उठता है कि, विश्व के मिथ्यात्व का विचार मुमुक्ष मे कैसे जागृत होगा? इसके लिये अद्वैतवेदान्तियों का प्रस्थापन है कि मुमुक्षु विवेक का आश्रय लेकर जब जगत् के सही रूप से परिचित हो जायेगा, तो इसकी असत्ता उसे स्वयं अनुभूत होने लगेगी। पञ्चदशी संसार की असत्यता को कई रूपों मे आख्यायित करती है। चित्र और पट की भांति विश्व तथा ब्रह्म का सम्बन्ध है। पट चित्र से भिन्न वस्तु है, पर चित्र उस पर आलिखित (आरोपित) कर दिया जाता है। चित्र और पट के पृथक् रूपों से जबतक हमे सही परिचय नहीं रहता, तब तक हम दोनो को अभिन्न मान बैठते हैं और चित्र तथा पट दोनो मे हमे सच्चाई का अनुभव होता है। पर जब हम पट पर चित्र को कल्पित (असत्) समझ लेते है, तब हमारी धारणा इश विषय मे दृढ़ हो जाती है कि, चित्र तथा पट मे पट ही वास्तविक वस्तु है। चित्र और पट की ही भांति नामरूपसंज्ञक जागतिक पदार्थ एवं ब्रह्म-दोनो साधक को तभी तक समान (सत्ताक) भात होते हैं, जब तक वह इनकी अस्तित्वगत सत्यता से विदित नहीं रहता। वास्तविकता का ज्ञान होने पर असत् जगत् के प्रति उसको अश्रद्धा हो

---

१. द्वैतावज्ञा सुस्थिता चेद्वर्धते धीः स्थिराभवेत्।
स्थैर्ये तस्याः पुमानेष जीवन्मुक्त इतीर्यते॥ (पं.द. २/१०२)

२. पुनर्द्वैतस्य वस्तुत्वं भाति चेत्त्वं तथा पुनः।
परिशीलय को वात्र प्रयासस्तेन ते वद॥ (वही ६/२२७)
कियन्तं कालमिति चेत्खेदोऽयं द्वैत इष्यताम्।
अद्वैते तु न युक्तोऽयं सर्वानर्थनिवारणात्॥ (वही, ६/२४८)

जाती है और ब्रह्म मे श्रद्धा जागृत होने के फलरूप वह ब्रह्मनिष्ठबुद्धि वाला हो जाता है।[1] असत् वस्तु के प्रति अनिष्ठा (अनादरभाव) लोक मे और रूपों मे भी अवलोक्य है, यथा- व्यक्ति जल मे दृष्ट अपनी अधोमुखी छाया (जो असत् है) को तिरस्कृत कर के तीरस्थित उर्ध्ववदनकाय (जो इसकी तुलना में सत् है) को महत्त्व देता है।[2]

मोक्ष का विरोधी विश्व प्रपञ्च सतत परिवर्तनशील एवं नश्वर धर्मा है। इसलिये यह उपेक्ष्य है। मन मे आविर्भूत कल्पनायें, शरीर की बाल्य, यौवनादि अवस्थायें नष्ट होकर पुनः (इन्हीं रूपों मे) नहीं दृष्टि-पथ मे आतीं।[3] अतः ऐसे विनाशील संसार के प्रति अश्रद्धा होना उपयुक्त है। जब मनुष्य के चित्त मे इसके प्रति वैतृष्ण्य भाव जग जाता है, तो वह इससे अपने चित्त को दूर करके ब्रह्म सत्य की ओर आकृष्ट हो जाता है।

ब्रह्मज्ञानी मे ब्रह्मज्ञान की स्थिति जब सम्यक् प्रतिष्ठित हो जाती है, तो वह शरीर धारण करते हुये भी मुक्त रहता है।[4] जीवनामुक्तावस्था का जीव व्यावहारिक दृष्टि से अपेक्षित वैश्व क्रिया-कलापों का सम्पादन अनासक्ति-भाव से करता है। जिज्ञासा उठती है कि, संसार को असत् जाननेवाले मुक्त जीव के मुक्तित्व मे क्या सांसारिक कर्म-व्यवहृति बाधक सिद्ध नहीं होती? पञ्चदशी की दृष्टि मे तत्वज्ञानी द्वारा लोक-व्यवहार हेतु जो कार्य किये जाते हैं, वे इसलिये मोक्ष मे बाधक नहीं बनते, क्योंकि इनका मोक्ष से कोई विरोध नहीं है। जिस (मुक्त) मानव को इस बात का प्रबोध हो चुका है कि, संसार-प्रपञ्च मायामय जड़ तथा असत् है और उसका आत्म रूप इससे पृथक् सत् तथा चिन्मय है। इसके द्वारा लोक-व्यवहार निर्वाहार्थ जो भी कार्य सम्पादित होंगे, वे मुक्त के विघातक

---

१. ब्रह्मण्येते नामरूपे पटे चित्रमिवस्थिते।
उपेक्ष्य नामरूपे द्वे सच्चिदानन्दधीर्भवेत्॥ (पं.द. १३/९३)

२. जलेस्थेऽधोगुखे स्वस्य देहे दृष्टेऽप्युपेक्ष्य तम्।
तीरस्थ एव देहे स्वे तात्पर्यं स्याद्यथा तथा॥ (वही, १३/९४)

३. वही, १३/८६, ९७

४. तदभ्यासेन विद्यायां सुस्थितायामयं पुमान्।
जीवन्नेव भवेन्मुक्तो वपुरस्तु यथा तथा॥ (वही, १३/८२)

कैसे होंगे।[१] इसके साथ ही जीवन्मुक्त का व्यावहारिक अचरण मौक्तिक बोध मे विघ्नकारी तब सिद्ध हो सकता था, जब मुक्त लोक को सत्य मानता हुआ आसक्ति भाव से इसको अपनाता। इस स्थिति मे उसके चिज्ज्ञान को भी प्रभावित होने की सम्भावना रहती। पर ज्ञान के अविरल-आलोक से अलोकित चित्तवाला मुक्त चूंकि, जगत् की सत्यता तथा सांसारिक आसक्ति के उपर उठ चुका रहता है, अतः लोकव्यावहारोचित कर्माचरण उसमे किसी प्रकार की बाधा उत्पन्न नहीं कर पाता।[२]

यहां यह ध्यातव्य है कि, मुक्ति-लाभ के बाद लोक कर्मानुवर्तन भले ही मुक्त मे विकारोत्पन्न करने मे समर्थ नहीं दिखता। पर मोक्ष के साधन-काल मे यह विकारोत्पादक बन सकता है।

जीवन्मुक्तावस्था मे जीव असीम आनन्द की अनुभूति करता है। पञ्चदशी ३ प्रकार के लोगों को सुखी बतलाती है।[३] प्रथम प्रकार ज्ञान-शून्यों का है। इसमे मुग्ध अथवा बालक गण्य हैं। दूसरे मे विवेकी राजाओं की गणना होती है। इन्हें बुद्ध कहा गया है। तीसरा प्रकार अति बुद्धों अर्थात् श्रेष्ठ ज्ञानियों का है। इनमे वे लोग हैं, जो आनन्दरूप आत्मा के साक्षात्कर्ता हैं।[४] ये जीवन्मुक्त हैं। ऐसे लोग आत्मा के आनन्द मे इतने रम जाते हैं कि, उन्हें आत्मा के अतिरिक्त किसी वस्तु का ज्ञान नहीं रह जाता।

कुमारादिवेदेवायं ब्रह्मानन्दैकतत्परः।
स्त्रीपरिष्वक्तवदेव न बाह्यं नापि चान्तरम्॥[५] (पं. द. ११/५४)

---

१. मायामयः प्रपञ्चोऽयमात्मा चैतन्यरूपधृक्।
इति बोधे विरोधः को लौकिकव्यवहारिणः॥ (पं.द. ९/८८)

२. उपेक्षिते लौकिके धीर्निर्विघ्ना ब्रह्मचिन्तने।
नटवत्कृत्रिमास्थायां निर्वहत्येव लौकिकम्॥ (वही, १३/९९)

३. मुग्धबुद्धातिबुद्धानां लोके सिद्धा सुखात्मता।
उदाहृतानामन्ये तु दुःखिनो न सुखात्मकाः॥ (वही, ११/५३)

४. पददीपिकाकार पञ्चदशी के ११/५३ मे प्रयुक्त 'अतिबुद्ध' का तात्पर्य आनन्दयुक्त आत्म-साक्षात्कार को ही मानते हैं –
'विवेकशून्यानां मध्ये अतिबालः सुखी विवेकेषु सार्वभौमः अतिविवेकिष्वानन्दात्म साक्षात्कारवानेव।' (देखें, ११/५३ की पददीपिका)

५. पञ्चदशी की यह मान्यता बृहदारण्यकोपनिषद् (४/३/२१) मे अधोरूपतः प्रतिपादित है – 'तद्यथा प्रियया स्त्रिया सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तरमेवायं पुरूषः प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेदनान्तरम्।'

पञ्चदशी द्वारा मान्य आनन्दत्रय मे विद्यानन्द भी विषयानन्द भांति बुद्धिवृत्ति वाला है। विद्यानन्द के चार रूप हैं -

१. दुःखराहित्य २. कामाप्ति ३. कृतकार्य एवं ४. प्राप्य-प्राप्ति।[१]

ऐहिक तथा आमुष्मिक रूप सांसारिक दुःख आत्म-ज्ञानी से दूर रहते हैं। मुक्तिकाल मे मुक्त को व्यावहारिक दृष्टि से प्रतीत होने वाले आत्मा के जीवत्व तथा ब्रह्म के ईश्वरत्व का दर्शन नहीं होता। आत्म-प्रबोध के इस काल मे जीव को स्वयं का भोक्तृत्व और ब्रह्म का नामरूपात्मक भोग्यत्व (अर्थात् भोग के योग्य वैश्व पदार्थ) दोनो असत् दिखलाई पड़ते हैं। इस समय चूंकि, वह ब्रह्म के साथ तादात्म्य का अनुभव करने मे समर्थ रहता है, अतः ऐहिक एवम् आध्यात्मिक उभय प्रकारक दुःखों का उसमे राहित्य हो जाता है। ऐहिक दुःखों मे स्थूलशरीर मे उत्पन्न होने वाले धात्वादिदोष से ज्ञात व्याधियां तथा सूक्ष्म शरीर की काम, क्रोध, लोभ इत्यादि विकृतियां समाहित हैं। पुण्य एवं पाप की चिन्ता आध्यात्मिक दुःख है।[२]

एक शङ्का उठती है कि, जब ज्ञानी मुक्त होकर भी शरीरपात तक शरीर, वाणी और मन से कर्म करता रहता है, ऐसी स्थिति मे उसे इन कर्मों से उत्पन्न होने वाले पाप अथवा पुण्य-मय परिणामो का भोक्ता अवश्य बनना पड़ता है। इसके भोग के लिये उसका पुनर्जन्म भी सम्भाव्य है। अतः वह मुक्त कैसे माना जा सकता है। पञ्चदशीकार 'तद्यथा पुष्करपर्णे' (छा. ४/१४/३) श्रुति का संङ्केत करके, मुक्ति काल मे किये गये कर्मों से मुक्त का अश्लेष परिनिष्ठित करते हुये,[३] उसके भोक्तृत्व का प्रतिकार करते हैं। पद्मपत्र जिस तरह जल मे रहते हुये भी जल से अलिप्त रहता है, उसी प्रकार ब्रह्मज्ञानी मुक्त जीव लोक-मर्यादा के अनुसार कर्म अवश्य करते हैं, परन्तु इनसे उसका (सांसारिक) सम्बन्ध नहीं रहता। ये कर्म सहजतः

---

१. दुःखाभावश्च कामाप्तिः कृतकृत्योऽहमित्यसौ।
प्राप्तप्राप्योऽहमित्येव चातुर्विध्यमुदाहृतम्॥ (पं. दशी १४/३)

२. पुण्यपापद्वये चिन्ता दुःखमामुष्मिकं भवेत्। (पं. द. १४/१२)

३. यथा पुष्करपर्णेऽस्मिन्नपामश्लेषणं तथा।
वेदनादूर्ध्वमागामिकर्मणोऽश्लेषणं बुधे॥ (वही, १४/१३)

(बिना किसी राग, बिना किसी बन्धन के) सम्पन्न होते रहते हैं। अतः इनसे पाप-पुण्य जैसे अदृष्ट की सम्भावना ही नहीं की जा सकती। अग्नि मे भूना हुआ बीज जैसे उत्पन्न नहीं हो सकता, तथैव ज्ञानी जीव द्वारा सम्पादित कर्म (कर्तृत्वादि अहङ्कार के हैन्यवश) किसी प्रकार के परिणामोत्पादन मे अशक्त रहते है। ब्रह्म ज्ञानाग्नि ज्ञानी के सञ्चितकर्मों को शीघ्र उसी प्रकार से भस्म कर देती है, जिस प्रकार इषीकातृण के तूल को अग्नि तुरन्त जला डालती है।[१]

आत्म ज्ञानी की समस्तकामनाओं की एक साथ पूर्ति तथा उसके अमरत्व का निर्वचन श्रुतियों मे अनेकशः हुआ है।[२]

पञ्चदशीकार आत्मज्ञानी को मिलने वाले आनन्द को सार्वभौमनृपति से लेकर यम, अग्नि, वरुण, इन्द्र, बृहस्पति और हिरण्यगर्भ-पर्यन्त अभिव्यक्तियों मे व्यक्त आनन्द से विलक्षण और श्रेष्ठ बतलाते हैं। इसका सबसे वैलक्षण्य यह है कि, यह मन तथा वाणी आदि से पर है। अतएव अद्वितीय और अनन्त है। वस्तु स्थिति यह है कि, मुक्त जीव जिस ब्रह्मानन्द से भावित होता है, वह स्वयं प्रभारूप है एवम् अन्य आनन्दों का मूल है।[३] सम्पूर्ण विश्व मे आत्मा के आनन्द के उत्तम कोई आनन्द नहीं हो सकता। अतः इसके अनुभव के पश्चात् जीवात्मा मे किसी अन्य सुख के प्रति आकर्षण का उद्भव अशक्य है।

---

१. इषीका तृंणतूलस्य वह्निदाहः क्षणाद्यथा।
तथा सञ्चितकर्मास्य दग्धं भवति वेदनात्॥ (वही, १४/१४)
स्मृति (गीता), ज्ञान के द्वारा कर्मों के विनाश तथा अनासक्ति भाव से किये गये कर्मों से किसी प्रकार के बन्धन के राहित्य का उपदेश अधःप्रकार से करती है-
यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात् कुरूतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरूते तथा॥ (४/३७)
ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा॥ (५/१०)

२. तैत्तिरीय एवं साम श्रुति का सङ्केत पञ्चदशी क्रमशः इस तरह करती है-
'यो वेद सोऽश्नुते सर्वकामानित्यब्रवीच्छ्रुतिः॥ (१४।३६)
'अहमन्नं तथाऽन्नादश्चेति सामह्यभिधीयते॥ (१४/३७)

३. तथा च विषयानन्दो वासनानन्द इत्यमू।
आनन्दौ जनयन्नास्ते ब्रह्मानन्दः स्वयंप्रभः॥ (पं.द. ११/८८)

कृतकार्यता तथा प्राप्य-प्राप्तत्व ये जीवन्मुक्त की वास्तविक अवस्था के बोधक हैं। विद्यानन्दाप्ति की सर्वोच्चता यहीं लभ्य है।[१] इनके बाद मुक्त को कुछ पान को नहीं रह जाता। मुक्तिकालिक जीव के बुद्धि - प्रसादन - हेतु पञ्चदशी निम्न बातों के निरन्तर अनुसन्धान की सलाह देती है- "ऐहिक एवं पारलौकिक इच्छाओं की सिद्धि तथा मुक्ति लब्धि के लिये जो कुछ करणीय था, वह सब कुछ सम्पादित करके मै कृत कार्य हूं। पुत्रादि सांसारिक वस्तुओं का अभिलाष रखने वाले संसरण करें, परलोकेच्छु अग्निहोत्रादि यागों का अनुष्ठान करें। पर मै परमानन्द से युक्त हूं, अतः क्यों दुःखी होकर संसरण करूं। समस्तलोक मेरा रूप है, इसलिये क्यों मेरे द्वारा आनुष्ठानिक कार्य किये जायं। श्रवणादि तत्त्व-प्राप्ति के साधनो की भी मेरे लिये (अब) अपेक्षा नहीं है, क्योंकि मै तत्त्व को सम्यक् जानता हूं। मेरा मानवीय व्यवहार मिथ्या ज्ञानाभाव के इस काल मे भी पूर्वाभ्यास वासना से निष्पन्न हो जाता है। इसकी भी इयत्ता तभी तक है, जब तक प्रारब्ध कर्मों के भोग के कारण यह वर्ष्म है। कर्मों के परिणाम भोग के पूर्ण होते ही, इसका भी पर्यवसान हो जायेगा। मुझे समाधि की भी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि मेरा मन समस्त वैकारिकमलों से रहित है। मै जो कुछ अनुभव इस समय कर रहा हूं, वह सत्य है। अतः मेरा अटल विश्वास है कि मैने प्राप्त करने योग्य वस्तु को प्राप्त कर लिया है। इस तरह मै कृतकृत्य हूं। लौकिक अथवा शास्त्रीय जो भी कार्य मेरे द्वारा सम्प्रति सम्पादित हो रहे हैं, इनका कर्तृत्वाहङ्कार मुझ मे बिलकुल नहीं है- ये प्रारब्धानुसार सहजतः आपादित हो रहे हैं। कृतकार्य होने पर भी लोक-कल्पाणार्थ मेरे द्वारा शास्त्र सम्मत जो भी कर्म किये जाते हैं, साथ ही स्नान, देव-सपर्या, भिक्षाटन, जप, भगवद्ध्यान आदि कार्यों की निष्पत्ति जो मेरे द्वारा की जाती है- आपाततः भले ही लगे कि मै इनका करता हूं, परन्तु वस्तुतः, न मै उनका कर्ता हूं और न मेरे द्वारा किसी से ये करवाये जाते हैं। आप्तव्य-आप्ति तथा कृतकार्य से परितृप्त मै अपने को धन्य मानता हूं। मेरी धन्यता निरन्तर मुझे इस रूप मे अनुभूत होती है- मै स्व-रूप को पूर्णतः जानता हूं। ब्रह्मानन्द मुझ मे स्पष्ट-रूप मे भासित

---

१. महाविप्रो ब्रह्मवेदी कृतकृत्यलक्षणाम्।
विद्यानन्दस्य परमां काष्ठां प्राप्यावतिष्ठते॥ (वही, ११/५२)

होता है। मुझे जागतिक दुःख एवं भ्रम रञ्चमात्र भी प्रतीत नहीं होते। मेरी तृप्ति अनुपमेय है। मेरे साथ-साथ मेरे शास्त्र, गुरू, ज्ञान तथा आनन्द सब धन्य हैं, क्योंकि इनसे ही हमे यह उद्‌बुद्धि प्राप्त हुयी।'[१]

ब्रह्म-ज्ञान आप्त किये हुये जीवात्मा का अविद्याकृत आवरणात्मक अज्ञान विद्या द्वारा समाप्त हो जाता है, किन्तु आविद्यक विक्षेप रूप मे मिले हुये शरीर, इन्द्रियों तथा अन्तःकरण का विनाश प्रारब्धकर्मों के भोगानन्तर ही हो पाता है। उपादान (समवायि) के नष्ट होने पर भी कार्य कुछ क्षण तक बना रहता है- यह नव्यायिकों को भी मान्य है।[२] कुम्भकार द्वारा चक्र का चालन बन्द किये जाने के बाद भी चक्र स्वतः कुछ देर तक चलता रहता है। इसी चक्र की भांति अविघोत्पादित आवरणात्मक प्रपञ्च के क्षयानन्तर भी प्रारब्धनाशपर्यन्त आविघक विक्षेप (शरीर, इन्द्रिय आदि) मुक्त जीव से जुड़े रहते हैं।[३]

एक संशीति जन्म लेती है कि, प्रमाता को जब आत्म-साक्षात्कार हो गया, तो तत्त्वाज्ञान मे क्या ऐसा सामर्थ्य नहीं है कि, वह प्रारब्ध का भोग किये बिना ही उसका विनाश करके, आत्मज्ञानी को विदेह मुक्ति का लाभ दे सके? इसका निराकरण यह है कि, प्रारब्ध का भोग (मुक्त-अमुक्त) सब को परमावश्यक है। बिना भोग किये इसका निवारण अन्य किसी उपाय से नहीं हो सकता। यहां तक कि सर्व-समर्थ ईश्वर भी भोग के विना जीवात्मा को मुक्ति नहीं दिला सकता।[४] पञ्चदशी, राम, नल, युधिष्ठिर प्रभृति महापुरुषों को भी प्रारब्धकर्मज कष्टों को भोगे

---

१. द्रष्टव्य, पं.द. १४/४० से ६४ तक एवं ७/२५४ से २९७ तक।

२. उपादाने विनष्टेऽपि क्षणं कार्यं प्रतीक्षते।
इत्याहुस्तार्किकास्तद्वदस्माकं किं न सम्भवेत्॥ (वही, ६/५४)

३. अविद्यावृत्तितादात्म्यं विघमैव विनश्यतः।
विक्षेपस्य स्वरूपं तु प्रारब्धक्षयमीक्षते॥ (वही, ६/५३)

४. न चात्रैतद्वारयितुमीश्वरेणापि शक्यते।
य ईश्वर एवाह गीतायामर्जुनं प्रति॥ (वही, ७/१५४)
विशेष : ईश्वर प्रारब्ध को जीव से इसलिए भी दूर नहीं कर सकता और न ही दूर करना चाहेगा, क्योंकि जीवधारियों के लिये इसकी आवश्यकता ईश्वर द्वारा ही निर्धारित है, यथोक्ति है-
न चेश्वरत्वमीशस्य हीयते तावता यतः।
अवश्यं भावितान्येषामी श्वरेणै व निर्मिता॥ (पं.द. ७/१५७)

जाने का सङ्केत करती हुयी इसकी अनिवार्यता परिनिष्ठित करती है।[1]

यद्यपि विवेकी अविवेकी हर प्राणी को प्रारब्धीय कर्मों का परिणाम भोगना पड़ता है, परन्तु दोनों के भोगने की स्थिति मे अन्तर होता है। तत्त्वज्ञ जीव निष्काम भाव से सहजता एवं धैर्य के साथ इनका उपभोग करता है। इसके विपरीत विवेकशून्य व्यक्ति विविध प्रकार की कामनाओं के साथ लिप्त होकर इनका भोग सम्पन्न करता है। यही कारण है कि, प्रतिकूलफलदायी प्रारब्धों की मुक्ति मे जहां अज्ञानधन दुःखी दिखलाई पड़ता है, वहीं ज्ञानी बिना किसी कष्ट के इनका भोक्ता बना रहता है। ज्ञानवान् जीव को प्रारब्ध-भोग के समय दुःखी होने का प्रश्न इसलिये भी नहीं उठता, क्योंकि वे इनका भोग भोक्तृ-भाव से रहित होकर करते हैं। साथ ही इन भोग्य पदार्थों को वे असत्य समझते रहते हैं और इनसे उनका कोई रागात्मक संश्लेष नहीं रहता है।

पञ्चदशी मे 'गन्धर्वनगर' के दृष्टान्त द्वारा ज्ञानी के सांसारिक पदार्थों के प्रति वैतृष्णय-भाव को चारू प्रतिष्ठा मिली है। जादूगर द्वारा निर्मित नागर वस्तुओं को जो लोग मिथ्या समझते हैं, न इनकी कभी इच्छा करते हैं तथा न ही ये वस्तुयें उन्हें आकृष्ट कर पाती हैं। इन्हें देखकर वे उपहास करते हुये इनसे अपने को दूर रखना चाहते हैं।[2] विवेकी जीव ऐन्द्रजालिक द्वारा निर्मित वस्तुओं की भांति आपाततः मधुर प्रतीत होने वाले वैश्व पदार्थों (भोग्य वस्तुओं) मे राग नहीं रखता। वह इनमें दोष-द्रष्टा होने के फल-स्वरूप इनका परित्याग करना चाहता है। पञ्चदशी विषयों से विराग-हेतु उनमे दोष-दर्शन की वकालत करती है। इसका पोषण यहां श्रौत वाक्यों एवं लौकिक दृष्टान्तों द्वारा किया जाता है। जब व्यक्ति सांसारिक वस्तुओं मे दोष देखने का आदी बन जाता है, तो इनके प्रति उसके चित्त मे सहजतः अराग-भाव उद्भूत होने लगता है।

यद्यपि ब्रह्म-द्रष्टा मे मुक्तीच्छा का उदय नहीं होता, परन्तु प्रारब्ध के सामर्थ्य से यदि इस प्रकार की ईप्सा जागृत होती है, तो पञ्चदशी

---

१. पं. द, ७/१५६
२. गन्धर्वपत्तने किञ्चिन्नैन्द्रजालिकनिर्मितम्।
जानन् कामयते किन्तु जिहासति हसन्निदम्॥ (पं.द. ७/१३७)

इस इच्छा को रक्ति विहीन एवं परवश होकर भोगने का उपदेश देती है-

प्रारब्धकर्मप्राबल्याद् भोगेष्विच्छा भवेद्यदि।
क्लिश्यन्नेव तदाप्येष भुङ्क्ते विष्टिगृहीतवत्॥
(पं.द. ७/१४३)

पञ्चदशी भोग से मिलने वाली तृप्ति को भी मान्यता देती है, पर यह तभी सम्भव है, जब भोग विवेकपूर्वक हो। यदि भोग अविवेकमूलक है, तो वह तृप्ति के बजाय उपभोग की ईष्णा का वर्धक बनता है।[1]

प्रश्न उठता है कि, जिस तत्त्ववेत्ता पुरुष मे संसारासारपूर्वक विवेकोद्दीपन हो चुका है, क्या उसमे प्रारब्ध कर्म भोगेप्सा उत्पन्न करने मे समर्थ हैं? पञ्चदशी इसका उत्तर 'अस्तु' मे देना चाहती है। यह प्रारब्ध को तीन रूपों मे प्रतिष्ठा देती है-

१. इच्छा-प्रारब्ध
२. अनिच्छा प्रारब्ध एवं
३. परेच्छा = प्रारब्ध।[2]

इच्छा-प्रारब्ध :

व्यक्ति जिस प्रारब्ध-वशात् जानकर भी निषिद्ध कर्मों का सेवन करता हुआ, अनर्थ की सृष्टि करता है, इसे इच्छा प्रारब्ध के अन्तर्गत रखा गया है।[3] इच्छा प्रारब्ध प्राणी की प्रकृति बनकर उसे कर्म करने हेतु प्रबाधित करता है। प्रकृति का तात्पर्य है, जीव के द्वारा पूर्व (जन्मो) मे किये गये ऐसे शुभाशुभ संस्कार, जो इस जन्म मे व्यक्त हुये हैं। ये ऐसे संस्कार हैं कि, व्यक्ति इनके वशीभूत रहता ही है। अतः इनका निरोध अशक्य है। इसी बात का अभिधान गीता का यह पद्य भी करता है-

---

१. विवेकेन परिक्लिश्यन्नल्पभोगेन तृप्यति।
अन्यथाऽनन्तभोगेऽपि नैवतृप्यति कर्हिचित्॥ (पं.द. ६/१४६)
न जातु कामः कामानुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥ (वही, ७/१४७)

२. इच्छाऽनिच्छा परेच्छा प्रारब्धं त्रिविधं स्मृतम्॥ (वही, ७/१५२)

३. अपथ्यसेविनश्चोरा राजदाररताऽपि।
जानन्त एव स्वानर्थमिच्छन्त्यारब्धकर्मतः॥ (वही, ७/१५३)

सदृशं चेष्टते त्वस्याःप्रकृतेर्ज्ञानवानपि।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति॥
(गीता ३/३३)

अनिच्छा प्रारब्ध :

जिस प्रारब्ध के कारण मनुष्य न चाहता हुआ भी अच्छे-बुरे कार्य करता रहता है, वह अनिच्छा प्रारब्ध है। अर्जुन के द्वारा भगवान् कृष्ण से यह पूछे जाने पर कि 'मनुष्य अनभिलषित होकर भी विवशतः किसके द्वारा प्रेरित होकर पापाचरण करता है।'[१] इसके उत्तर मे प्रभु कृष्ण काम को ही मानव का परम शत्रु निरूपति करते हुये अनिच्छा प्रारब्ध को इसका प्रेरक बतलाते है। श्रीकृष्ण के अनुसार अपने पूर्वजन्मोपार्जित कर्मों के परिणति रूप स्वभाव के कारण, मोह के वशीभूत प्राणी न चाहता हुआ भी विवश होकर पापादि कर्मों का कर्ता बनता है।[२]

परेच्छा-प्रारब्धः न अनिच्छा और न ही इच्छा से अपितु, दूसरों के कल्याण अथवा अनुग्रह हेतु जो कर्म किये जाते हैं। वे परेच्छा-प्रारब्ध की परिधि मे आते हैं।[३] इस प्रकार के कर्मों के आपादन मे जीवों को सुख-दुःख का अनुभव होता है। वे इन कर्मों मे दोष-दर्शन भी करते हैं, पुनरपि इस प्रकार के कर्मों से निवृत्त नहीं हो पाते।

जीवन्मुक्त मे इच्छा हो सकती है या नहीं- इस प्रकरण मे आचार्य विद्यारण्य 'किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत्' श्रुति-वाक्य का सङ्केत करते हुये, 'मुक्त मे इच्छा का अभाव रहता है'- इसके इस तात्पर्य से अपनी असहमति व्यक्त करते हैं। इनकी सम्मत्ति मे·यहां श्रुति ज्ञानी मे

---

१. अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पुरूषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय! बलादिव नियोजितः॥ (गीता ३/३६)

२. स्वभावजेन कौन्तेय! निबद्धः स्वेन कर्मणा।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात् करिष्यस्यवशोऽपि तत्॥ (वही, १८/६०)

३. नानिच्छन्तो न चेच्छन्तः पारदाक्षिण्यसंयुताः।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात् करिष्यस्यवशोऽपितत्॥ (पं.द. ७/१६२)

इच्छा हैन्य के बजाय इच्छा बाध का बोधक है।[१] भर्जित बीज जिस तरह अङ्कुरोत्पादन का सामर्थ्य नही रखता, तद्वत् जीवन्मुक्त ज्ञानी की इच्छाओं मे किसी प्रकार की संस्कारोत्पत्ति का सामर्थ्य नहीं रहता। इसका कारण यह है कि, इच्छायें/कामनायें तभी संस्कारोत्पादन मे शक्त बन पाती हैं, जब इनसे इनके धारक का वास्तविक संश्लेष रहता है। इच्छाओं के प्रति मिथ्या-भाव जागृत हो जाने पर, इच्छायें भुने हुये बीज के सदृश किसी प्रकार का परिणाम उत्पन्न करने मे असमर्थ हो जाती हैं।[२] जिज्ञासा उठती है कि, इस स्थिति मे (अर्थात् निष्फला होने के कारण) इच्छा की कोई उपयोगिता सिद्ध होती हुयी नहीं दिखती। पर ऐसी बात नहीं, इन्हें नितान्त फल-शून्य नहीं माना जा सकता। ये अनागत मे भले ही किसी प्रकार का फल न दे सकें, परन्तु वर्तमान मे ज्ञानी को अल्पभोग प्रदान करती हैं।[३]

चूंकि, जीव प्रारब्ध के वशीभूत, सुख, दुःख, लाभ, हानि का भोक्ता बनता है, अतः प्रारब्ध आत्म-ज्ञान का विरोधी मान्य है। पञ्चदशी प्रारब्ध को आत्म-बोध का विरोधी नहीं मानती। ये दोनो एक दूसरे के विरोधी तब बनते, जब दोनो का विषय एक होता। विषयों के पार्थक्य के कारण इनमे विरोध का प्रश्न ही नहीं उठता। आत्म प्रबोध सांसारिक प्रपञ्च को मिथ्या सिद्ध करते हुये आत्मा के शुद्ध रूप को अपना विषय बनाता है। प्रारब्ध का सम्बन्ध आरब्ध हुये कर्मों के फल भोग से है। प्रपञ्च को मिथ्या समझा जाना एवं प्रारब्ध कर्मों के फल-भोग एक साथ सम्पादित हो सकते है, अतः इनमे विरोध को अवकाश कहां? यदि इनमे पारस्परिक विरोध होता, तो मिथ्या-बोध के बाद भी (प्रारब्धकृत) कर्मों का फल-भोग

---

१. कथं तर्हि किमिच्छन्नित्येवमिच्छा निषिध्यते।
नेच्छानिषेधः किन्त्विच्छाबाधो भर्जितबीजवत्॥ (पं.द. ७/१६३)
'किमिच्छन्' इत्यनेन वाक्येन कथमिच्छाभावो वर्णित इत्यर्थः। नानेन इच्छाभावोऽभिधीयते, किन्तु सत्या अपि तस्याः समर्थप्रवृत्तिजनकत्वं नास्तीति बोध्यत इति परिहरति-'नेच्छा निषेध इति।' (अवलोक्य ७/१६३ की पददीपिका)

२. भर्जितानि तु बीजानि सन्त्यकार्यकराणि च।
विद्वदिच्छा तथेष्टव्याऽसत्त्वबोधान्न कार्यकृत्॥ (वही, ७/१६४)

३. दग्धबीजमरोहेऽपि भक्षणायोपयुज्यते।
विद्वदिच्छाप्यल्पभोगं कुर्यान्न व्यसनं बहु॥ (वही, ७/१६५)

सम्भव न रहता। परन्तु इसके सम्भाव्य होने से अर्थात् विश्व के मिथ्यात्व ज्ञान के अनन्तर भी जीवात्मायें प्रारब्ध जन्य फलों का भोग करते हुये दिखते हैं। विरोध की स्थिति मे प्रारब्धीय भोगों के रहते ब्रह्म-ज्ञान की उत्पत्ति नहीं हो सकती थी और ब्रह्म-ज्ञान होने के बाद प्रारब्धजात कर्मों का भोग भी नहीं हो सकता था।

एक जिज्ञासा उदित होती है कि, ब्रह्म-बोध के पश्चात् प्रारब्ध-भोग करने वाला जीव क्या मनुष्येतर रूप वाला हो जाता है। सामान्यरीति से विचार करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि सम्भवतः उसमे मानवत्व से विशेष रूप का उदय हो जाता होगा। इस विषय मे ज्ञातव्य यह है कि, आत्म-ज्ञानी जीव प्राप्य का लाभ करके तत्त्वतः गरिमा मण्डित अवश्य हो जाता है, परन्तु व्यवहारतः वह एक (शरीरान्तःकरणयुक्त) जीव ही रहता है। इस हेतु पञ्चदशी का अभिधान यह है कि, जब तक प्रारब्धज देह आदि ज्ञानी के पास हैं, तब तक उसे जीवत्व से मुक्ति नहीं मिल पाती-

यावदारब्धदेहं स्यान्नाभासत्वविमोचनम्।। (पं.द. ७/२४३)

इसको रज्जु मे सर्प भ्रम के लौकिक उदा. द्वारा इस तरह अवगत किया जा सकता है- रज्जु मे सर्पाज्ञान के निवृत्त होने पर भी लोगों मे सर्प-भय से कम्पनादि की स्थिति कुछ देर तक बनी रहती है। जीव मे भी विवेक जागृत हो जाने के बाद प्रारब्ध भोग-पर्यन्त शरीर, इन्द्रियादि से वेष्टित जीवत्व बना रहता है। यही कारण है कि, प्रारब्ध-भोगावस्था मे विवेकी को (भी) मर्त्यशील होने का भ्रम हो जाता है। इसके लिये तत्त्वज्ञान दृढ़ रखना अपेक्षित होता है, क्योंकि इस प्रकार के भ्रम का विनाश तत्त्वबोध से ही सम्भव है।

यदि यह कहा जाय कि तत्त्वज्ञ पुरुष प्रारब्ध को शीघ्र भोगने का प्रयास करके, आशु विदेह मुक्ति की लब्धि कर ले। परन्तु ऐसा सम्भव नहीं। विवेकी भी प्रारब्ध को स्वेच्छा से नहीं भोग सकता। पञ्चदशी का अभिमत है कि, इसका धीरे-धीरे ही भोग हो पाता है-

एवमारब्धभोगेऽपि शनैः शाम्यति नो हठात्। (पं.द. ७/२४५)

भोग के अनन्तर प्रारब्ध का क्षय हो जाता है। इसके पश्चात् शरीर का पात हो जाने पर जीवात्मा को विदेह-मुक्ति की आप्ति हो जाती है।

आचार्य विद्यारण्य विदेह मोक्ष-हेतु जीवन्मुक्ति को आवश्यक निरूपित करते हैं। अगर यहां यह कहा जाय कि, जीवन्मुक्ति के बिना भी विदेह मुक्ति की प्राप्ति क्यों नहीं हो सकती ? पञ्चदशी की मान्यता मे जीवन्मुक्ति के विना प्राणी को स्वर्ग-सुख आदि की आप्ति सम्भव है, पर विदेह-मुक्ति की नहीं। स्वर्ग-सुख का कभी न कभी क्षय निश्चित है और ऐसी स्थिति मे पुनर्जन्म भी होना है।[1] जीवन्मुक्ति के बाद मिलनेवाली विदेह-मुक्ति शाश्वत है, इसमे पुनर्जन्म के लिये कोई अवकाश नहीं। पञ्चदशीकार का स्पष्ट कथन है कि 'आत्मा को सम्यक् जानने वाले विवेकी का शरीर नष्ट होने पर पुनः जन्म नहीं होता।'[2]

इस तरह प्रारब्ध कर्मों के भोगानन्तर जीवन्मुक्त को जो मोक्ष प्राप्त होता है, वह विदेह मोक्ष है। जीते जी भी मुक्त रहना नितान्त अपेक्ष्य है।

---

१. जीवन्मुक्तिरियं मा भूज्जन्माभावे त्वहं कृती।
तर्हि जन्मापि तेऽस्त्वेव स्वर्गमात्रात्कृती भवान्॥ (पं.द. ४/५२)

२. एक एवात्मा मन्तव्यो जाग्रतस्वप्नसुषुप्तिषु।
स्थानत्रयव्यतीतस्य पुनर्जन्म न विद्यते॥ (वही, ७/२१४)

अष्टम-परिच्छेद

महावाक्य :

अद्वैतवेदान्त मे जीवात्मा तथा ब्रह्म की एकता के सूचक कतिपय औपनिषद-श्रुत्यंशों को 'महावाक्य' की संज्ञा दी गयी है। पञ्चदशी का स्पष्ट उद्गार है कि, तत्त्वबोध के लिये जिज्ञासु को प्रथमतः वेदान्त-शास्त्र एवं गुरू को शरण्य बनाना चाहिये।[१] तत्त्व-प्रबोध के अनन्तर इनकी उपयोगिता भले ही क्षीण हो जाये।

पञ्चदशी के 'पञ्चम प्रकरण' का नाम ही 'महावाक्य प्रकरण' है। इसमे चार महावाक्यों का उल्लेख है-

१. 'प्रज्ञानं ब्रह्म'
२. 'अहं ब्रह्मास्मि'
३. 'तत्त्वमसि' एवं
४. 'अयमात्मा ब्रह्म'

इनमे प्रथम ऐतरेय उपनिषद् (५।३) का वाक्य है। द्वितीय बृहदारण्यक श्रुति (१/४/१०) की पङ्क्ति है। तृतीय छान्दोग्योपनिषद् (६/७/८) के शब्द-निचय हैं और चतुर्थ का सम्बन्ध माण्डूक्योपनिषद् (२) से है।[२]

ये चारों उपनिषद्-श्रुतियां (लक्षणया) जीव एवं ब्रह्म मे ऐक्य का निर्वचन करती हैं। इन वाक्यों मे प्रयुक्त प्रज्ञान, अहम्, त्वम् तथा आत्मा - इन पदों का ब्रह्म अथवा तत् के साथ ऐकरूप्य किस तरह प्रतिष्ठित होता है, इस पर दृष्टि पात के पूर्व प्रथमतः प्रज्ञानादि एवं ब्रह्म शब्दों

---

१. अवलोक्य - पं.द. ४/४१, १०/२५, इत्यादि।
२. विशेष : यह महावाक्यचतुष्टय चतुर्वेदों का प्रतिनिधित्व करता है। ऐतरेय श्रृक्, बृहदारण्यक शुक्त यजुर्वेद, छान्दोग्य साम तथा माण्डूक्य अथर्ववेद की उपनिषदें है। इस तरह पञ्चदशी प्रत्येक वेद के एक-एक वाक्य को अपने 'महावाक्य विवेक-प्रकरण' का आलोच्य बनाती है।

का अर्थावलोकन अपेक्षित है। 'प्रज्ञानं ब्रह्म' मे जो अन्तःकरणोपहित चैतन्य चक्षु द्वारा रूप द्रष्टा है, कर्ण द्वारा शब्दों का श्रोता है, वाक् द्वारा शब्दों का प्रयोक्ता है तथा रसना द्वारा स्वादास्वाद का ज्ञाता है - वह प्रज्ञान संज्ञक जीव चैतन्य है।[१] ब्रह्मा से लेकर समस्त सृष्टि के पदार्थों मे जो अद्वितीय चैतन्य व्याप्त है, अथवा ब्रह्मा से लेकर जो सारे जात पदार्थों का हेतु है, वह ब्रह्मचित् है।[२]

बृहदारण्यक श्रुति के 'अहं ब्रह्मास्मि' मे विद्यासम्पादनार्हता वाली (मानवादि) शरीरों मे बुद्धि के साक्षी रूप मे स्फुरित होने वाले देश-कालादि से आच्छन्न पूर्ण परमात्मा ही अहम् (अर्थात् जीव चैतन्य) के रूप मे बोध्य है।[३] इसमे प्रयुक्त ब्रह्म शब्द देशकालाद्यतीत पूर्णप्रकृतिक परमात्मा का व्यञ्जक है। 'अस्मि' यह क्रिया शब्द 'अहम्' और 'ब्रह्म' की समानाधिकरणता के द्वारा एकता का ज्ञापक है।[४]

साम-श्रुतिके 'तत्त्वमसि' का तत् पद नामरूपात्मक सृष्टि से रहित मात्र एक अद्वितीय सत् (ब्रह्म) का बोधक है। इसका 'त्वम्' पद स्थूलादिशरीरत्रय से भिन्न (साक्षि रूप) चैतन्य का विवेचक है। 'अस्मि' की भांति यहां कि 'असि' क्रिया दोनो की परामर्शज अखण्डता का द्योतक है।[५]

आथर्ववेदीय माण्डूक्य श्रुति के 'अयमात्मा ब्रह्म' का आत्म-शब्द अहङ्कार, प्राण, मन, इन्द्रिय तथा देहादि के अधिष्ठान (साक्षी) रूप चैतन्य

---

१. येनेक्षते शृणोतीदं जिघ्रति व्याकरोति च।
स्वाद्वस्वादू विजानाति तत्प्रज्ञानमुदीरितम्॥ (पं.द. ५/१)

२. चतुर्मुखेन्द्रदेवेषु मनुष्याश्वगवादिषु।
चैतन्यमेकं ब्रह्मातः प्रज्ञानं ब्रह्ममय्यपि॥ (वही, ५/२)
टीकाकार रामकृष्ण इस पद्य की टीका मे ब्रह्म के जग द्धेतुत्व का निर्वचन निम्न शब्दों मे करते हैं - 'उत्तमेषु देवादिषु, मध्यमेषु मनुष्येषु, अधमेषु अश्वगवादिषु देहधारिषु आकाशादिभूतेषु च, जगज्जन्मादिहेतुभूतं' यदेकं चैतन्यमस्ति तद्ब्रह्मेत्यर्थः।' (देखें, प. द. ५।२ की टीका)

३. परिपूर्णः परमात्माऽस्मिन् देहे विद्याधिकारिणि।
बुद्धेः साक्षितया स्थित्वा स्फुरन्ब्रह्ममितीर्यते॥ (पं.द. ५/३)

४. अस्मीत्यैक्य परामर्शस्तेन ब्रह्मभवम्यहम्॥ (वही, ५/४)

५. एकता ग्राह्यतेऽसीति तदैक्यमनुभूयताम्॥ (वही, ५/६)

का अर्थ देता है एवम् इस प्रतीयमान जगत् का अधिष्ठान स्वयं प्रकाशरूप तत्त्व ब्रह्म-पद से ज्ञेय है। यहां प्रयुक्त 'अयम्' पद आत्मा की स्वयंप्रकाशरूपता (प्रत्यक्षता) का ज्ञापन करता है।[१]

पञ्चदशी के महावाक्य-विवेचन-प्रकरण मे उपर्युक्त महावाक्य-चतुष्टयी का अर्थ-बोध इसी रूप मे प्रस्तुत है। प्रथम महावाक्य का अर्थ वाच्यार्थ रूप मे ही अङ्गीकार्य है। पर उत्तर के तीनों वाक्यार्थ लक्ष्यार्थ रूप हैं।[२]

सम्प्रति यह चर्च्य है कि, ये महावाक्य किस प्रकार अपने वाच्यार्थ से लक्ष्यार्थ रूप ऐक्य का बोध कराने मे समर्थ बनते हैं। महावाक्यों मे प्रयुक्त प्रमुखतः दो पद हैं। इनमे से एक जीव-चित् का अर्थ देता है और दूसरा ब्रह्म (ईश्वर) चैतन्य का। जीव चैतन्य के प्रतिपादक प्रज्ञान, अहम्, त्वम् तथा आत्मा शब्द हैं। जब इन पदों का अभिधा से अर्थ लिया जाता है, तो इनका अभिप्राय अन्तःकरणोपहित चैतन्य से होता है। यह शरीर, इन्द्रिय, मन आदि के द्वारा विविध प्रकारक कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व से सम्पृक्त रहता है।[३]

पञ्चदशी (७/७१ मे) 'त्वम्' पद को इस रूप मे व्यक्त करती है-

'अन्तःकरणसम्भिन्नबोधः स त्वं पदाभिधः॥

इसी प्रकार 'तत्' शब्द स्वाभिधाऽर्थ मे परोक्षत्वविशिष्टमायोपहित सर्वज्ञत्वादिलक्षणोपेत अङ्गीकृत होता है-

मायोपाधिर्जगद्योनिः सर्वसत्वादिलक्षणः।
पारोक्ष्यशबलः सत्याद्यात्मकस्तत्पदाभिद्यः॥ (पं.द. ७/७२)

---

१. स्वप्रकाशापरोक्षत्वमयमित्युक्तितो मतम्। (वही, ५/७)

२. 'मनुष्यादिशरीरे बुद्धेर्बुद्ध्युपलक्षितस्य सूक्ष्मशरीरस्य साक्षितयाऽविकारित्वेनावभासकतया स्थित्वाऽवस्थाय स्फुरन् प्रकाशमानोऽहमितीर्यते, लक्षणया 'अहं' पदेनोच्यत इत्यर्थः।' (द्रष्टव्य, पं. ५/३ की पददीपिका टीका)
'स्वतः परिपूर्णः स्वभावतो देशकालाद्यनवच्छिन्नः परमात्माऽत्र ब्रह्मेत्यनेन पदेन वर्णितः, लक्षणयोक्त इत्यर्थः। (वही, ५/४ की पददीपिका) इसी प्रकार ५/५ एवं ५/६ पददीपिका भी अवलोकनीय है।

३. 'तथा चोक्तानुक्तैः सकलेन्द्रियैः अन्तःकरणवृत्तिभेदैश्चोपलक्षितं यच्चैतन्यमस्ति तदेवात्र 'प्रज्ञानम्' इत्युच्यत इत्यर्थः।' (वही, ५/१ की पददीपिका)

प्रश्न उत्थित होता है कि, शाङ्कर वेदान्त को जो अभेदवाद अभीष्ट है, वह महावाक्यों मे प्रयुक्त प्रज्ञानादि तथा तदादि शब्दों के (ऊपर अभिहित) अभिधेयार्थ से क्या सम्भाव्य है? इसका उत्तर होगा, कथमपि नहीं। ऐसा क्यों? ऐसा इसलिये, क्योंकि (इस अर्थ के अनुसार) इनका स्व-रूप पृथक्-पृथक् बोध्य है। दोनो की इस पृथकता के मूल मे वैशिष्ट्योद्भासक उपाधियों का प्रभाव है। जहां इस प्रकार का पार्थक्य होगा, वहां एकता संस्थापित नहीं हो सकती। इसीलिये अद्वैत वेदान्त जीव तथा ब्रह्म के ऐक्य संस्थापनार्थ, इन पदों के वाच्यार्थ की अपेक्षा लक्ष्यार्थ का संश्रय लेता है। लक्ष्यार्थ द्वारा वह जीव एवं ब्रह्म मे तादात्म्य संस्थिर करता है। यहां प्रयुज्यमाण लक्षणा के प्रति दार्शनिको ने अनेक प्रश्न उठाये हैं। इसीलिये अद्वैत-परम्परा मे भी अभिधा के द्वारा ऐक्य संस्थापन की चेष्टा की गयी। किन्तु लक्षणा द्वारा जीव तथा बह्म की अभेद-सिद्धि अद्वैतवेदान्त को प्रामुख्येण अभिप्रेत रही। यही कारण रहा कि, शाङ्कर मत के लब्ध प्रतिष्ठित आचार्यों ने लक्षणा के प्रति उठायी जाने वाली पूर्वपक्षीय संशीतियों का निराकरण करते हुये, इसे प्रतिष्ठा दी। आचार्य विद्यारण्य भी लक्षणा को सैद्धान्तिक मान्यता देनेवाले आचार्यों मे अग्रगण्य हैं।

जिज्ञासा आविर्भूति होती है कि, तत् तथा त्वमादि का वह लक्ष्यार्थ क्या होगा, जो दोनों की एकरूपता का निदर्शन है। उभय-गत उपाधिविरहित जो शुद्ध चेतना है, वही लक्ष्यार्थ है। यह उभयत्र एक रूपा है। 'अहंब्रह्मास्मि' एवं 'तत्त्वमसि' महावाक्यों के अर्थाभिव्यञ्जन मे पञ्चदशी प्रणेता ने अहम्-त्वम् एवं ब्रह्म-तत् के लक्ष्यार्थ द्वारा जिस चिति को मान्यता दी है, वह अहमादि तथा ब्रह्मादि मे अर्थात् सर्वत्र विद्यमान अभिन्न शुद्ध चैतन्य है।

अंशत्याग, अत्याग तथा त्यागात्याग की दृष्टि से लक्षणा त्रिविधात्मिका है-

१. जहल्-लक्षणा

२. अजहल्लक्षणा और

३. जहदजहल्लक्षणा

जिस लक्षणा मे पद के मुख्यार्थ से (पूर्णतः) पृथक् अर्थ की प्रतीति हो, वह जहल्लक्षणा है। इसमे पद अपने वाच्यार्थ का त्याग करके दूसरे अर्थ की प्रतीति कराता है। लक्षण-लक्षणा का प्रथित उदा. 'गङ्गायां घोषः'

को यहां भी उदाहृत किया जा सकता है। 'गङ्गायां घोषः' का 'गङ्गाशब्द' जल-प्रवाह रूप अपने मुख्यार्थ की परित्यक्ति करके तीर-रूप अन्य अर्थ का द्योतन करता है। अद्वैतवेदान्त की प्रमाणशास्त्रीय परम्परा मे जहल्लक्षणा का लक्षण इस तरह दिया गया है - 'तत्र शक्यमन्तर्भाव्यं यत्रार्थान्तरप्रतीतिस्तत्र जहल्लक्षणा।'[१]

'विषं भुङ्क्ष्वेति' - इसका एक उपयुक्त उदाहरण बतलाया गया है।[२] 'विषंभुङ्व' यह वाक्य अपने अभिधार्थ - 'विष का भक्षण करो' से पृथक् 'शत्रु के गृह-भोजन निवृत्ति रूप' अर्थ का बोध कराता है।

अहजल्लक्षणा मे वाच्यार्थ के त्यागे विना (अर्थात् मुख्यार्थ के अन्तर्भावित रहने पर) भी लक्ष्यार्थ का प्रत्यायन होता है।[३] काव्य शास्त्रियों द्वारा उदाहृत उपादान लक्षणा के 'शोणोधावति', 'श्वेतो धावति' मे यह द्रष्टव्य है। इन उदाहरणों मे 'शोण' और 'श्वेत' पद के अभिधाजन्य अर्थ - 'लाल' एवं सफेद के रहते हुये भी इनके द्वारा लक्ष्यार्थ -रक्तवर्ण का घोड़ा दौड़ता है तथा सफेद घोड़ा दौड़ता है' की प्रतीति सम्भव होती है।

जहदजहल्लक्षणा मे पद अथवा पदों के मुख्यार्थ के अंश विशेष का परित्याग एवम् अंश-विशेष को ग्रहण करके अर्थ निकाला जाता है। इसके द्वारा मुख्यार्थज विरुद्धांशता को छोड़कर अविरुद्धांशता का ग्रहण सम्भव होता है। उदाहरणार्थ 'सोऽसौ मोहनः'। इसमे 'सः' शब्द का 'वह' और 'असौ' का 'यह' अर्थ होता है। 'मोहन' के साथ अन्वित होकर इनका अर्थ होगा - 'वह यह मोहन' अथवा 'वही यह मोहन'। यहां वह (सः) यह से भिन्न अतीतकाल के मोहन का अर्थ देता है। इसी तरह यह (असौ) वह (सः) से पृथक् वर्तमानकालिक अथवा एतत्कालिक मोहन के अर्थ का बोधक है। मोहन एक है, किन्तु 'सः' और 'असौ' विशेषणो के कारण दो भिन्न रूपों मे दृष्टि-गोचर होता है। परन्तु जब 'सः' तथा

---

१. दृष्टव्य, वेदान्तपरिभाषा, आगमपरिच्छेद, पृ. २२५

२. यथा 'विषं मुङ्क्ष्वेति'। अत्र स्वार्थं विहाय शत्रुगृहे भोजननिवृत्तिर्लक्ष्यते। वही, पृ. २२५-२२६

३. 'यत्र शक्यार्थमन्तर्भाव्यैवार्थान्तर प्रतीतिस्तत्राजहल्लक्षणा, यथा शुक्लो घट इति। अत्र हि शुक्लशब्दः स्वार्थं शुक्लगुणमन्तर्भाव्यैव तद्वति द्रव्ये लक्षणया वर्तते।' वही, पृ. २२८

'असौ' पद अपने कालिक रूप मुख्यार्थ (विरुद्धांश) का त्याग करके लक्षणा द्वारा मोहन रूप (अविरूद्धांश) एक अर्थ का ज्ञापन कराते हैं, तो ऐसी लक्षणा जहदजहल्लक्षणा के नाम से जानी जाती है। उपर्युक्त उदाहरण मे तत् (सः) एवम् अदस् (असौ) पद अपने कालात्मकवैशिष्ट्य परक वाच्यार्थांश का परित्याग (जहत्) कर देते हैं, पर उभय कालिक मोहनत्वांश का त्याग नहीं (अगहत्) करते हैं। इसलिये यहां लक्ष्यार्थ की सिद्धि जहद्-अजहद् लक्षणा के द्वारा होती है।

'अहं ब्रह्मास्मि' एवं 'तत्त्वमसि' प्रभृति महावाक्यों मे अद्वैताचार्यों ने जहदजहल्लक्षणा को प्रतिष्ठा दी है।[१] आचार्यों की दृष्टि मे इन महावाक्यों मे जीवात्मब्रह्मैक्य बोधरूपलक्ष्यार्थ न तो जहल्लक्षणा से सम्भव है और न ही अजहल्लक्षणा से ही। जहल्लक्षणा यहां प्रतिष्ठेय नहीं है, क्योंकि यह लक्षणा वहीं होती है, जहां मुख्यार्थ मे विरोध होने के कारण मुख्यार्थ को छोड़कर, विरोध-समाप्त्यर्थ अन्य लक्ष्यार्थ की उपपत्ति करायी जाय। औदाहर्येण पूर्वोक्त 'गङ्गायां घोष' – इसमे गङ्गाशब्द का मुख्यार्थ घोषनिवासरूप अर्थ का विरोधी है, अर्थात् मुख्यार्थ से प्राप्त जल-प्रवाह पर घोष-संस्थान असम्भव है। अतः गङ्गाशब्द स्वीय घोष-विरूद्ध प्रवाह रूप मुख्यार्थ का परित्याग करके तीर रूप लक्ष्यार्थ का प्रत्यायन कराके, मुख्यार्थज विरोध का अपनयन करता है।

यदि यहां यह कहा जाय कि, तत्त्वमस्यादि महावाक्यों मे भी उपर्युक्त लक्षणा स्वीकार्य हो सकती है – तदादिवाच्य परोक्ष सर्वसत्वादि विशिष्ट परमात्मा तथा त्वमादिपदवाच्य अल्पज्ञापरोक्षत्वादिदिशिष्ट जीवात्मा – दोनो अपनी इन पृथक् विशेषताओं के कारण एक दूसरे से भिन्न दिखते हैं। इसलिये इन्हें अभिन्न सिद्ध करने के लिये तदादि मे त्वमादि की एवं

---

१. विशेष : शाङ्कर परम्परा महावाक्यों मे जहदजहल्लक्षणा द्वारा जीव तथा ब्रह्म की एकता को परिनिष्ठित करती है। वेदान्तपरिभाषाकार 'तत्त्वमसि' इस वाक्य के 'तत्' तथा 'त्वम' पद के द्वारा इसका सङ्केत इस तरह से करते हैं – 'तत्पदवाच्यस्य सर्वज्ञत्वादिविशिष्टस्य त्वंपदवाच्येन अन्तःकरणविशिष्टेनैक्यायोगाद् ऐक्य सिद्धार्थस्वरूपे लक्षणेति साम्प्रदायिकाः।' देखें, वेदान्तपरिभाषा, आगमपरिच्छेद, पृ. – २२९.

त्वमादि मे तदादि की जहत्प्रकृति का लक्षणा सम्भाव्य है।[1] इसके द्वारा दोनो का विरोध समाप्त होकर एकार्थकता की प्रतीति शक्य है। परन्तु यह अभिधान उचित नहीं, क्योंकि जहल्लक्षणा तभी होती है, जब मुख्यार्थ मे विरोध हो और (इस कारण से) मुख्यार्थ का त्याग हो। तत् एवं त्वमादि पदों के वाच्यार्थ का प्रमुखांश चैतन्य है। चैतन्य तदादि तथा त्वमादि-उभयात्मक पदों के मुख्यार्थों मे समाहित है। ऐसी स्थिति मे यहां मुख्यार्थ मे विरोधाभाववश मुख्यार्थ त्याग को अवकाश नहीं मिलता है। अतः महावाक्यों मे अभीष्टार्थार्थ जहल्लक्षणा प्रतिषेध्य है।

अगर यहां यह शङ्का की जाय कि, तदादि एवं त्वमादि के पूरे मुख्यार्थ मे भले ही नहीं, किन्तु अंश में विरोध तो है, इसलिये जहल्लक्षणा द्वारा यहां अर्थ-प्रतीति अनुचित नहीं लगती। परन्तु यह शङ्का भी तथ्य-हीन है, क्योंकि अंशार्थ परित्याग से जहल्लक्षणा सिद्ध होती नहीं। जहां तक वाच्यार्थ के आंशिक विरूद्धता की बात है, वह तो अद्वैत के सिद्धान्त-पक्ष को मान्य ही है। इसके परिहार हेतु (ही) जहदजहल्लक्षणा को मान्यता दी जाती है।

जहल्लक्षणा के ही सदृश महावाक्यों की अभीष्टार्थ-सिद्धि 'अजहल्लक्षणा' द्वारा भी नहीं हो पाती। 'अजहल्लक्षणा' मे यद्यपि मुख्यार्थ के त्याग बिना ही दूसरे अर्थ की प्रतीति करायी जाती है, परन्तु जहल्लक्षणा की भांति मुख्यार्थ मे विरोध यहां भी रहता है। विरोध के अपाकरणार्थ यहां भी लक्षणा का प्रयोग विहित होता है। पूर्व प्रस्तुत 'शोणो धावति' मे ही देखें, यहां 'शोण' का अभिद्याऽर्थ धावति' क्रिया के अभिधाअर्थ का विरोधी है, क्योंकि

---

१. विशेष : 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों में जहल्लक्षणा की सम्भावना इस तरह भी व्यक्त की जा सकती है — यथा 'गङ्गायां घोषः' मे गङ्गा शब्द स्वार्थ का हान करके तीरार्थ को लक्षित करता है, तद्वत् तदादि और त्वमादि शब्द क्रमशः अपने परोक्ष तथा अपरोक्ष धर्म का त्याग करके एक-दूसरे के चैतन्यार्थ को लक्षित कर सकते हैं। किन्तु 'गङ्गायां घोषः' सदृश जहल्लक्षणा के उदाहरणो के आधार पर महावाक्यों में यह लक्षणा सिद्ध नहीं होती। वस्तुतः 'गङ्गायां घोषः' मे तीर पद के न होने के कारण गङ्गा शब्द की लक्षणा से उसकी प्रतीति करायी जाती है। परन्तु 'तत्त्वमसि' प्रभृति वाक्यों मे तदादि और त्वमादि पदों के प्रस्तुत होने से उनके अर्थ की प्रतीति स्वयं होती है, अतः यहां इस प्रकार के लक्षणा का कोई औचित्य ही नहीं बनता।

लाल रङ्ग दौड़ सकता नहीं। इस विरूद्धता को दूर करने के लिये 'शोण' पद का लक्षणा द्वारा 'शोणविशिष्ट अश्वादि' अर्थ लिया जाता है। जहां तक 'तत्त्वमसि' —आदि वाक्यों मे इस लक्षणा का प्रश्न है, वह यहां अङ्गीकार्य नहीं है, क्योंकि तदादि तथा त्वमादि के मुख्यार्थांश—अपरोक्षत्वादि एवं परोक्षादि विशिष्ट—चैतन्य मे कोई विरोध नहीं है, किन्तु परोक्षत्व एवम् अपरोक्षत्व के कारण विरूद्धता रहती है। ऐसी स्थिति मे विरूद्धांश का परित्याग अपेक्ष्य रहता है। इसके बिना अद्वैतमताभिमत तदादि तथा त्वमादि का ऐक्य संस्थापन हो ही नहीं सकता। इस तरह महावाक्यों मे अजहल्लक्षणा को भी प्रतिष्ठा नहीं दी जा सकती।

चूंकि, 'तत्त्वमसि' प्रभृति श्रुतिवाक्यों मे एकार्थ बोध न तो जहत् और न ही अजहत् लक्षणा द्वारा सम्भव हो पाता है, इसलिये शाङ्कर आचार्यों ने इनके अर्थावबोध हेतु जहदजहल्लक्षणा को सिद्धान्ततः स्वीकार किया। जहदजहल्लक्षणा का रूप 'सोऽयंदेवदासः' इस लौकिक उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। इस वाक्य मे आगत 'सः' (तत्) एवम् 'अयम्' (इदम्) पद देवदास शब्द के साथ अन्वित होकर 'वही यह देवदास' इस प्रकार अर्थ व्यक्त करते हैं। यहाँ 'तत्काल विशिष्ट देवदास' तथा 'एतत् कालदिविशिष्ट देवदास' — ये तात्पर्य 'सः' और 'अयम्' के साथ देवदास शब्द के इस प्रयोग मे स्पष्ट दिखलाई पड़ते हैं। यहां तत्कालविशिष्ट देवदास तथा एतत्कालविशिष्ट देवदास मे—दोनो कालों मे विद्यमान देवदास रूप अर्थांश मे कोई विरोध नहीं दृष्टिगत होता, क्योंकि देवदास तो उभयत्र रहता ही है। विरोध मात्र तत्काल तथा एतत् काल मे है। अतः यहां तत् तथा ईदम्' से सम्बद्ध कालिक विरूद्धांशता का त्याग (जहत्) एवमु अविरूद्ध देवदत्तपिण्डत्व रूप अर्थ के ग्रहण (अजहत्) वाली लक्षणा जहदजहल्लक्षणा है। इसके द्वारा उस तथा इस काल मे स्थिर देवदास की अभिन्नता अदोषतः सिद्ध होती है।

ऊपर अभिहित लौकिक उदाहरण की तरह 'तत्त्वमसि' तथा 'अहं ब्रह्मास्मि' आदि महावाक्यों मे भी जहद्-अजहद्-लक्षणा प्रभावी है। 'तत्त्वमसि' एवम् 'अहं ब्रह्मास्मि' मे तत् और ब्रह्म चैतन्य परोक्षत्वादि-विशिष्ट चैतन्य है। 'त्वम्' एवम् 'अहम्' अपरोक्षत्वादि विशिष्ट चित् हैं। इस उभयप्रकारक चैतन्यों मे परोक्षापरोक्षरूप पारस्परिक विरूद्धता है। इसका परित्याग करके, इनमे जो चिद्रूपता है, उसको विना छोड़े जहदजहल्लक्षणा द्वारा दोनो का

अखण्डचैतन्य बोध रूप अर्थ स्फुट होता है।

महावाक्यों के तदापि पदों मे लक्षणा के एक अन्य रूप को भी स्थिर करने की बात सोची जा सकती है। लक्षणा के इस रूप को स्वीकृत किये जाने पर 'जहदजहल्लक्षणा' की आवश्यकता नहीं रह जाती। इस लक्षणा के अनुसार तदादि पद अपनी चिदंशता का त्याग किये बिना परोक्षत्वादि विशिष्टता को छोड़कर त्वमादि रूप के अपरोक्षत्वादि विशिष्टचैतन्य का बोध करा सकते हैं। इसी तरह त्वमादि भी अपनी चैतन्यांशता को त्यागे विना अपरोक्षत्वादि विशेष को छोड़कर लक्षणा द्वारा परोक्षत्वादि विशिष्ट चैतन्य का ज्ञान कराने मे सक्षम हैं। परन्तु यह लक्षणा इसलिये असङ्गत है, क्योंकि यहां तदादि तथा त्वमादि पदों द्वारा दो वार लक्षणा करके अर्थ निकाला जाता है। तदादि एवं त्वामादि पद प्रथमतः त्याग की गयी स्वीय–परोक्षापरोक्ष–विशेषताओं को लक्षणा द्वारा सूचित करते हैं, साथ ही पुनः एक दूसरे के अर्थ को भी लक्षणा द्वारा बोधित कराते हैं। यह दोषपूर्ण है। इस प्रकार किसी पद की उभयात्मक लक्षणा महीं होती।

जहदजहल्लक्षणा की अपर संज्ञा भागलक्षणा भी है। पञ्चदशी भी महावाक्यों के बोधार्थ जहदजहद् या भाग-त्याग लक्षणा को मान्यता देती है। पञ्चदशी का स्पष्ट उद्घोष है कि, जिस प्रकार 'सोऽयं देवदत्तः' प्रभृति वाक्यों मे विरूद्ध भाग-त्याग तथा अविरूद्ध-भाग सङ्ग्रहण द्वारा भागत्याग लक्षणा स्वीकार्य है, उसी प्रकार 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों मे भी विरूद्धांश परित्याग और अविरूद्धांश (चिति) के के ग्रहण द्वारा भाग त्याग लक्षणा अङ्गीकार्य है –

तत्त्वमस्यादिवाक्येषु लक्षणा भागलक्षणा।
सोऽयमित्यादिवाक्यस्थपदयोरिव नापरा।। (७।७४)

ऊपर के श्लोक मे प्रयुक्त 'नापरा' शब्द द्वारा विद्यारण्य इस बात पर बल देते हैं कि, महावाक्यों मे भागत्यागलक्षणा के अतिरिक्त अन्य (जहत् अथावा अजहत्) लक्षणायें नहीं हो सकतीं।[१]

---

१. 'सोऽयं देवदत्त' इति वाक्यस्थयोः 'सोऽयम्' इति पदयोर्यथा जहदजहल्लक्षणावृत्तिराश्रिता नापका, न जहल्लक्षणा, नाप्यजहल्लक्षणा तद्वदत्रापीत्यर्थः। अवलोक्य प. द. की ७।७४ की पददीपिका।

जीव और ब्रह्म के वास्तविक तथा ऐक्य ज्ञान-हेतु महावाक्यों के वाच्यार्थ के वजाय लक्ष्यार्थ की अपेक्षा आचार्य विद्यारण्य इसलिये समझते हैं – 'तत्त्वमसि' इस वाक्य मे आगत 'तत् एवं त्वम्' के दो अर्थ हैं– एक वाच्यार्थ तथाद्वितीय लक्ष्यार्थ। सामान्यतया प्रश्न उठता है कि, जव इन पदों का वाच्यार्थ है, तो इनके लक्ष्यार्थ का क्या औचित्य है? इनके लक्ष्यार्थ की आवश्यकता यहां इसलिये पड़ती है, क्योंकि इनके वाच्यार्थ से जो अर्थ लिया जाता है, वह इनका वास्तविक अर्थ नहीं है। वाच्यार्थ के द्वारा 'तत्' एवं 'त्वम्' का जो अर्थ निकलता है, वह इनका औपाधिक या तटस्थ रूप है। उपाधियुक्तता किसी के सही रूप का परिचायक नहीं वन सकती। अतः इन पदों के वास्तविक अर्थ को अनावृत करने हेतु अभिधा के स्थान पर अन्य अर्थोद्भासक वृत्ति का आश्रय लिया जाना जरूरी हो जाता है, वह वृत्ति लक्षणा है।

यहां एक प्रश्न पुनः उत्थित होता है कि, महावाक्यों मे आये हुये तदादि तथा त्वमादि के अभिधा और लक्षणा द्वारा दो अर्थ करने से अद्वैताचार्यों का क्या प्रयोजन सिद्ध होता है, जिसके कारण वे लक्षणा को शरण्य वनाते हैं। वस्तु स्थिति यह है कि, अद्वैतवेदान्तियों को परमार्थतः ब्रह्म (सत्य) का एक ही रूप (लक्षण) इष्ट होने पर भी, सार्ष्टिक प्रपञ्च की अपेक्षा से एक दूसरा रूप (लक्षण) भी स्वीकार करना पड़ता है। यह दूसरा रूप माया एवम् अविद्या की उपाधि द्वारा व्यक्त होता है। यह ब्रह्म का ताटस्थ्य रूप है। इसमे एवं वास्तविक रूप मे पृथक्ता स्वाभाविक है। ब्रह्म के संसारापेक्षी अथवा मायाऽविद्योपहित लक्षण का वोध तत्त्वमस्यादि महावाक्यों के तदादि तथा त्वमादि पदों के मुख्यार्थ द्वारा होता है। तदादि एवं त्वामादि के मुख्यार्थ रूप मे वोध्य ब्रह्म दो रूपों मे (भिन्न-भिन्न औपाधिक वैशिष्ट्यों के कारण) एक दूसरे से भिन्न दृष्टि-गत होता है। अतः मुख्य-अर्थ के द्वारा अद्वैतमतेष्ट ब्रह्म सत्य का अद्वितीयत्व या जीव-ब्रह्माभिन्नत्व सिद्ध होता नहीं दिखता। इसलिये शाङ्कर आचार्य अभिधा के अतिरिक्त लक्षणा का आश्रय लेकर इसके द्वारा ब्रह्म की अद्वितीयता तथा जीवात्मब्रह्मैक्य की सिद्धि करते हैं। लक्षणा मे भी यह सिद्धि भागत्याग लक्षणा द्वारा ही सम्भाव्य है।

'तत्त्वमसि' के तत् और त्वम् मे, मायोपहित जगत् का कारण सर्वज्ञ तथा परोक्ष चित्, तत् का वाच्यार्थ है। इसी प्रकार अन्तःकरणोपाधि से

उपहित अहम्-प्रत्यय एवं विषय के रूप मे जो चैतन्य है, वह त्वम् का वाच्यार्थ है। वाच्य द्वारा प्राप्त ये दोनों अर्थ भिन्नोपाधि तथा पृथक् विशेषणो से विशिष्ट होने के फलस्वरूप परस्पर भिन्नता लिये हुये हैं। प्रश्न उठता है कि तत् एवं त्वं पद वाच्य इस प्रकार के लक्षणो वाले ब्रह्म तथा जीव मे क्या एकता स्थिर हो सकती है? उत्तर होगा कथमपि नहीं। यदि यह कहा जाय कि, इन भेद परक वैशिष्ट्यों के बावजूद चूंकि, चैतन्यात्मकता उभयत्र विद्यमान है, अतः दोनो मे ऐक्य सम्भाव्य हैं। परन्तु यह इसलिये नहीं अङ्गीकार्य है, क्योंकि इस प्रकार के भिन्न विशेषताओं के रहते दोनों मे एकता संस्थापित नहीं हो सकती। इनका ऐक्य स्थिर करने हेतु विशेषताओं का त्याग परमापेक्षित है। पञ्चदशी के अनुसार अद्वितीय लक्षणी सत्य मे प्रत्यक्षत्व तथा परोक्षत्व तथा द्वैत एवं पूर्णता क्रमशः एक दूसरे के विरोधी होने के कारण एक साथ नहीं रह सकते। महावाक्यों के ब्रह्म तथा जीव वाचक पदों मे इस प्रकार की स्थिति दिखलाई पड़ती है। अतः ये एक दूसरे से अभिन्न नहीं स्वीकृत किये जा सकते। इनकी एकता बोध के लिये यह आवश्यक हो जाता है कि, इनका इस तरह से अर्थ प्रत्यायित हो, जिससे प्रत्यक्षता तथा परोक्षता अन्तराय उपस्थित न कर सकें। इसके लिये भागत्याग लक्षणा ही समर्थ है।[1]

पञ्चदशी 'तत्' एवं 'त्वम्' काऔपाधिक भेद, इनके वाच्यार्थ मे इस तरह भी व्यक्त करती है –

'जो ब्रह्म चराचर प्रपञ्च का तमोगुण प्रधानमायोपाधि से उपादान और सत्त्वगुण प्रधान माया की उपाधि से निमित्त हेतु बनता है, वह 'तत्' पद का मुख्यार्थ है।[2] वही ब्रह्म जब मलिन (रजस् एवं तमो मिश्रित) सत्वप्रधान माया अथवा अविधा की उपाधि से युक्त होकर प्रतीत होता है, तब यह 'त्वम्' पद के मुख्यार्थ के रूप में बोध्य होता है।[3] 'तत्' और 'त्वम्'

---

१. प्रत्यक्परोक्षतैकस्य सद्वितीयत्वपूर्णता।
विरूध्येते यतस्तस्माल्लक्षणा सम्प्रवर्तते॥ (पं. द. ७।७३)

२. जगतो यदुपादानं मायामादाय तामसीम्।
निमित्तं शुद्धसत्त्वां तामुच्यते ब्रह्म तद्गिरा॥ (वही, १।४४)

३. यदा मलिनसत्त्वां तां कामकर्मादिदूषिताम्।
आदत्ते तत्परं ब्रह्म त्वं पदेन तदोच्यते॥ (वही, १।४५)

पद वाच्य ब्रह्म तथा जीवात्मा की अखण्डता मे बाधक इनकी ये उपधियां हैं। जहदजहल्लक्षणा द्वारा ईश्वर-ब्रह्म एवं जीव-ब्रह्म की ऐक्यविरोधिनी ऊपर कथित उपाधि त्रयी – तमोगुण प्रधान माया, सत्त्वगुण प्रधान माया तथा मलिन सत्त्वप्रधान माया–को छोड़ने पर दोनो मे व्याप्त अखण्ड सच्चिदानन्द ब्रह्म रूप लक्ष्यार्थ आलोकित होने लगता है।[१]

नैष्कर्म्यसिद्धि का एक प्रथित पद्य है –

सामानाधिकरण्यञ्च विशेषणविशेष्यता।
लक्ष्यलक्षणसम्बन्धः पदार्थप्रत्यगात्मनाम्।। (नै. सि. ३।३)

इसके अनुसार 'तत्त्वमसि' प्रभृति वाक्यों की अखण्डता न केवल लक्षणा (लक्ष्यलक्षण सम्बन्ध), प्रत्युत पूर्व समानाधिकरण्य और विशेषण-विशेष्य सम्बन्ध के द्वारा भी संसिद्धय है।

उपदेशसाहस्त्री मे तत् एवं त्वम् का समानाधिकरण्य इस प्रकार निरूपित है –

निर्दुःखवाचिनायोगात्त्वं शब्दस्य तदर्थता।
प्रत्यगात्माभिधानेन तच्छब्दस्ययुतेस्तथा।। (१।१८।४)

पञ्चदशी 'तत्त्वमसि' तथा 'अहं ब्रह्मास्मि' मे प्रयुक्त तदादि पदों का लक्ष्यार्थ प्रस्तुत कर 'असि' और 'अस्मि' के द्वारा क्रमशः 'तत्' एवम् 'अहम्' और 'ब्रह्म' मे समानाधिकरण्य सम्बन्ध उल्लेख करती है। इन दोनों क्रिया पदों के द्वारा जीवात्मा तथा परमात्मा का ऐक्य प्रतिष्ठित होता है।[२] नैष्कर्म्यसिद्धि के कथन को मान्यता देते हुये विद्यारण्य ने समानाधिकरण्य का बोध रूप अर्थ उपयुक्त माना है–

---

१. त्रितयीमपि तामुक्त्वा परस्परविरोधीनीम्।
अखण्डं सच्चिदानन्दं महावाक्येन लक्ष्यते।। (पं. द. १।४६)

२. एतद्वाक्यगतेन 'अस्मि' इति पदेन पदद्वयसामानाधिकरण्यलभ्यं जीव ब्रह्मणोरैक्यं परामृशात...।' (द्रष्टव्य, प. द. ५।४ की पददीपिका।) 'एतद्वाक्यस्थेन 'असि- इति पदेन 'तत्त्वं' पदसामानाधिकरण्यलब्धं पदार्थद्वयैक्यं शिष्यं प्रति प्रत्ययाय्यत...।' (वही ५।६ की पददीपिका।)

नैष्कर्म्यसिद्धावप्यमेवाचार्यैः स्पष्टमीरितम्।
सामानाधिकरण्यस्य बाधार्थत्वमतोऽस्तु तत्॥ (पं. द. ८।४४)

इसके अनुसार 'अहं ब्रह्मास्मि' इस वाक्य मे अबाध सामानाधिकरण्य द्वारा जीव तथा ब्रह्म की एकता सिद्ध नहीं हो सकती, क्योंकि जीव मरणशील है और ब्रह्म अमरणशील। इस तरह दो विरूद्ध प्रकृति के पदार्थों मे मुख्य (अबाध) समानाधिकरणात्मक तादात्म्य संस्थिर नहीं किया जा सकता। अतः जब अबाध सामानाधिकरण्य द्वारा ऐक्य स्थिर नहीं हो पाता, तो बाध सामानाधिकरण्य से इसकी स्थिरता सम्भव हो पाती है। ऊपर के महावाक्य मे 'अहं' जीव-भाव के बाधा रूप अर्थ सङ्ग्रहण (अर्थात् जीवत्व के बाध-बोध) से ब्रह्म के साथ उसके अभेद भाव का भाव जागृत हो जाता है। बाध सामानाधिकरण्य मे यथा 'स्थाणुरेष पुमान्' मे पुरुष का साक्षात्कार होते ही पुरुष का स्थाणुभाव समाप्त हो जाता है, तथैव 'अहं ब्रह्मास्मि' मे जीव मे ब्रह्मविषयिणी बुद्धि के समुदय पर उसकी कर्तृत्वादि विशिष्ट अहं बुद्धि निवर्तित हो जाती है।[1] सामानाधिकरण्य का यह बाध रूप लक्षणा के द्वारा बोध्य ब्रह्म और जीव की एकता मे अपेक्षित नहीं होता, क्योंकि यहाँ उभय पक्ष मे शुद्ध चिति का अभेद्य रूप प्रस्फुरित रहता है। इसीलिये 'विवरणप्रमेयसङ्ग्रह' मे त्वं शब्द के लक्ष्यार्थ कूटस्थ तथा ब्रह्म के अभेद निरूपण मे इसका निरसन किया गया है।[2]

'तत' एवं 'त्वम्' अथवा 'अहम्' और 'ब्रह्म' आदि महावाक्यीय पदों के बीच विशेषण और विशेष्य सम्बन्ध की भी स्थापना निम्नानुसार की जा सकती है – 'विशेषण के द्वारा जिस पदार्थ का अन्यों से व्यावर्तन होता है, ऐसा पदार्थ विशेष्य हुआ करता है। 'तत्त्वमसि' मे त्वंपद वाच्य अल्पज्ञत्वादिविशिष्ट चैतन्य, तत् शब्द वाच्य सर्वज्ञत्वादिविशिष्ट चैतन्य से पृथक् नहीं है, जब इस प्रकार का ज्ञान होता है, तब त्वं पदार्थ मे विद्यमान भेद का निवर्तन करने वाला तत् पद विशेषण के रूप मे रहता है और त्वं पदार्थ विशेष्य के रूप मे। इसी प्रकार जब तत् पद वाच्य सर्वज्ञत्वादि

---

१. योऽयं स्थाणुः पुमानेष पुंधिया स्थाणु धीरिव। ब्रह्मास्मीति धियाऽशेषप्यहं बुद्धिर्निवर्त्यते॥ (पं. द. – ८।४३)

२. शोधितस्त्वंपदार्थों यः कूटस्थो ब्रह्मरूप्यताम्।
तस्य वक्तुं विवरणे तथोक्तमितरत्र च॥ (वही, ८।४७)

विशिष्ट चैतन्य के त्वं पद वाच्य अल्पज्ञत्वादि विशिष्ट चैतन्य से अलग अप्रतीत होने का बोध होता है, तब त्वंपदार्थ तत्पदार्थगत भिन्नता का व्यावर्तक होने के कारण विशेषण बनता है एवं व्यावर्त्य होने के परिणामस्वरूप तत् पदार्थ विशेष्य रूप मे रहा करता है। इस तरह तत् एवं त्वम् एक दूसरे के विशेषण तथा विशेष्य बनकर चिदैक्यार्थ के बोधक सिद्ध होते हैं।'

'नैष्कर्म्यसिद्धि' तथा उत्तरकाल के कतिपय अद्वैतीय कृतियों मे प्रतिष्ठा आप्त करने के बावजूद यह सर्वमान्य सिद्धान्त नहीं रहा। आचार्य शङ्कर ने स्वयं महावाक्यों के सन्दर्भ में इसको विवेक सम्मत नहीं माना है।[१] शङ्कर ने 'उपदेश साहस्त्री' मे तत् तथा त्वम् के ऐक्य-ज्ञान मे अन्वयव्यतिरेक को प्रभावी अङ्गीकार किया है –

> अन्वयव्यतिरेकौ हि पदार्थस्य पदस्य च।
> स्यादेतदमहमित्यत्र युक्तिरेवावधारणे।। (उ. सा. १।१८।९८)

पञ्चदशी भी जीवात्मा के ब्रह्मरूपानुभूति-हेतु (अर्थात् स्व के साथ ब्रह्मैक्यबोधार्थ) अन्वय-व्यतिरेक सिद्धान्त को मान्यता देती है। स्वप्न, सुषुप्ति एवं समाधि–इन तीनो कालों मे अन्वय-व्यतिरेक द्वार से आत्म-चैतन्य की अखण्डता का बोध किया जा सकता है। स्वप्नावस्था मे अन्नमय कोश अथवा तज्जात स्थूल शरीर की अप्रतीति मे भी आत्मा की प्रतीति होना अन्वय है तथा स्वप्न दशा मे आत्मा के भात होने पर भी स्थूलदेह का भानाभावत्व व्यतिरेक है।[२] अन्वय-व्यतिरेक की यह स्थिति सुषुप्ति मे भी अवलोकनीय है। सुषुप्ति मे सूक्ष्म शरीर के भास न होने पर भी आत्मा का आभासित होना अन्वय है और आत्मा के भान होने पर सुषुप्ति का माना भाव व्यतिरेक है।[३] समाधि में भी सुषुप्ति की प्रतीति न होने पर

---

१. प्रतिलोममिदं सर्वं यथोक्तं लोकबुद्धितः।
अविवेकधियामस्ति नास्ति सर्वं विवेकिनाम्।। (उ. सा. १।१८।९५)

२. अभाने स्थूलदेहस्य स्वप्ने यद्भानमात्मनः।
सोऽन्वयो व्यतिरेकस्तद्भानेऽन्यानवभासनात्।। (पं. द. - १।३८)

३. लिङ्गाभाने सुषुप्तौ स्यादात्मनो भानमन्वयः।
व्यतिरेकस्तु तद्भाने लिङ्गस्याभानमुच्यते।। (वही, १।३९)

आत्म-तत्त्व का प्रतीत होना अन्वय है एवं सम्प्रति आत्मा की स्फूर्ति रहने के बावजूद समाधि की अस्फूर्ति इसका व्यतिरेक है।[१] अन्वय-व्यतिरेक द्वारा मोक्षाभिलाषी जीव जाग्रदादि अवस्थाओं से भिन्न अपने असङ्ग रूप का बोध कर पाता है।[२] अन्वय और व्यतिरेक से जीवात्मा एवं परमात्मा की एकता युक्ति द्वारा जान ली जाती है। इसी अखण्डता का बोध महावाक्यों के लक्ष्यार्थ द्वारा भी सम्भावित होता है।[३]

'तत्त्वमसि' प्रभृति श्रौत वाक्यों मे जीव और परमात्मा की अखण्डार्थता का प्रकाश लक्षणा के वजाय क्या संसर्ग (पदस्मारित आकाङ्क्षादियुक्तपदार्थान्वय अथवा पदनिर्दिष्ट पदार्थ के पारस्परिक सम्बन्ध) अथवा विशिष्टार्थ (विशेषण विशेष्य भाव) से सम्भव नहीं है? — यह पूर्वपक्षीय जिज्ञासा उदित होती है। पञ्चदशी 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों मे अखण्डार्थत्व, संसर्ग अथवा विशिष्ट रूप से व्यक्त होने वाले वाक्यार्थ द्वारा अशक्य निरूपित करती है—

संसर्गो वा विशिष्टो वा वाक्यार्थो नाम सम्मतः।
अखण्डैकरसत्वेन वाक्यार्थो विदुषांमतः॥

महावाक्यों मे संसर्ग द्वारा अखण्डार्थ बोध की असिद्धि विद्यारण्य के पूर्व तथा उत्तर वर्ती आचार्यों ने भी की है। वाक्यार्थ मे संसर्ग की अपेक्षा तब बनती है, जब वाक्य के तात्पर्य-निर्णयन मे कोई संशय रहता

---

१. सुषुप्त्य भाने तु समाधावात्मनोऽन्वयः।
व्यतिरेकस्त्वात्मभाने सुषुप्त्यनवभासनम्॥ (वहीं, १।४१)

२. विविञ्चता भोक्तृतत्त्वं जाग्रदादिष्वसङ्गता।
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां साक्षिण्यध्यवसीयते॥
(वही, ७।२१०)

विशेष :— पददीपिकाकार स्थूलदेहादि से भिन्न आत्मा की सर्वत्र व्याप्ति का प्रतिपादन निम्न शब्दों में करते है—'प्रत्यगात्मा अन्नमयादिभ्यो भिद्यते, तेषु परस्परं व्यावर्त्यमानेष्वपि स्वयमावृतत्वात्। यद्येषु व्यावर्त्यमानेष्वपि न, व्यावर्तते, तत्तेभ्यो भिद्यते, यथा कुसुमेभ्यः सूत्रं, यथा वा खण्डादिव्यक्तिभ्यो गोत्वमिति।' (देखें, प. द.१। ४१ की पददीपिका)

३. परापरात्मनोरेवं युक्त्या सम्भावितैकता।
तत्त्वमस्यादिवाक्यैः सा भागत्यागेन लक्ष्यते। (प. द. १।४३)

है। परन्तु जहां तात्पर्य निर्णीत हो, वहां इसकी आवश्यकता ही नहीं पड़ती है। 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्यों का तात्पर्य श्रुत्यर्थ निर्णायक षड्लिङ्गों उपक्रम-उपसंहार आदि-द्वारा निश्चित है। अतः यहां संसर्ग द्वारा अर्थ निकाले जाने की न तो जरूरत है और न ही इसका कोई औचित्य है।[१]

संसर्ग वाक्य मे अर्थ बोधक दो रूपों मे उत्पन्न करता है – एक पदों के असमानाधिकरण्य मे और दूसरा पदों के समानाधिकरण्य मे पदों के असमानाधिकरण्य मे प्रयुक्त पदों का अधिकरण (विभक्ति) पृथक्-पृथक् रहता है। इसके बावजूद आकाङ्क्षा, योग्यता एवम् आसक्ति से युक्त पदार्थों के अन्वय रूप संसर्गज वाक्यार्थ की उत्पत्ति होती है। उदाहरण के रूप मे 'दण्डेन वृषभमानय' या 'गां नय' – इन वाक्यों के 'दण्डेन, वृषभम् तथा 'आनय' एवं 'गाम् और नय पदों का' अधिकरण भिन्न-भिन्न है, किन्तु आकाङ्क्षादि रूप संसर्ग द्वारा ये पद वाक्यार्थ काबोध कराने मे शक्त हैं। समानाधिकरण्य संसर्ग के वाक्य मे प्रस्तुत पदों का अधिकरण समान रहता है। इस प्रकार के विशेषण-विशेष्यात्मक संसर्ग मे वाक्यार्थ विशिष्ट प्रकारक होता है। 'श्वेतं पुष्पम्' को इसके उदाहरण के रूप मे लिया जा सकता है। इस वाक्य मे 'श्वेतम्' विशेषण है और 'पुष्पम्' इसका विशेष्य है। दोनो समानाधिकरण्य हैं। श्वेत गुण विशिष्ट पुष्प इसका वाक्यार्थ है।

महावाक्यों के सामानाधिकरण्यात्मक होने के कारण, यद्यपि संसर्ग के असामानधिकरण्यगत वाक्यार्थ को इसमे अवकाश नहीं दिखता। किन्तु इसके अनन्तर भी आकाङ्क्षा तथा योग्यता की दृष्टि से विचार करने पर भी इन वाक्यों मे इसकी अनर्हता ही दृष्टि-पथ पर आती है। आकाङ्क्षा में एक पदार्थ को दूसरे पदार्थ की आकाङ्क्षा रहती है, जिसे पदों की अर्थ-प्रतीति मे अभिप्रेत प्रतीति के पर्यवसान का राहित्य कंहा गया है।[२] 'तत्त्वमसि' प्रभृति महावाक्यों के तदादि पदों मे इसका अभाव है। जिस

---

१. 'तत्त्वमसि वाक्ये तु संसर्गविषयकत्वे संशयात् तदविषयत्वतात्पर्यनिर्णयाच्च न संसर्गाव गाहित्वम्।' अद्वैततत्त्वसिद्धि -पृ०-७०

२. 'आकाङ्क्षा प्रतीतिपर्यवसानविरहः। (साहित्य दर्पण, २।७ का गद्य)

तरह 'गौरश्वः पुरूषः', पदों को निराकाङ्क्ष्य मानकर इनमे वाक्यत्व अस्वीकृत हुआ है, तद्वत् 'तत्त्वमादि' को भी निराकाङ्क्ष्य की ही श्रेणी मे रखा जा सकता है। आकाङ्क्षा की भाँति पदार्थों का पारस्परिक सम्बन्धत्व भी इनमे नहीं है। पदार्थों के पारस्परिक सम्बन्ध मे विरोधाभावत्व योग्यता है।[1] 'तत्त्वमादि' महावाक्यीय पदों मे परोक्षापरोक्षत्वादि का विरोध विद्यमान है, इसलिये इनमे योग्यता का भी अभाव है। अतएव आकाङ्क्षादि संश्रित संसर्गात्मक वाक्यार्थत्व यहाँ अनङ्गीकार्य है।[2]

जहां तक विशिष्ट वाक्यार्थ का प्रश्न है, वह भी यहां सम्भाव्य नहीं। विशेषण और विशेष्य का सम्बन्ध गुण तथा द्रव्य में होता है- यथा नीलमुत्पलम्' मे। इसमे 'नीलम्' गुण है और 'उत्पलम्' द्रव्य है। परन्तु 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्यों मे प्रयुक्त तदादि एवं त्वमादि - सब द्रव्य हैं। साथ ही इसलिये भी इनमे विशेषण - विशेष्य (अथवा गुण-गुणी) सम्बन्ध नहीं प्रतिष्ठेय है, क्योंकि ये परोक्ष-अपरोक्ष आदि विशेषताओं के कारण एक दूसरे से विरोध लिये हुये हैं।

इन सब बातों को ध्यान मे रखकर पञ्चदशीकार ने संसर्ग एवं विशिष्ट परक वाक्यार्थों का महावाक्यों में निषेध किया है। इस सन्दर्भ मे पददीपिका के वाक्य उद्धरणीय हैं - 'लोके गामानय' इत्यादौ पदैः स्मारितानाम् आकाङ्क्षादिमतां गवादिपदार्था- नामन्वयो वाक्यार्थत्वेनाङ्गीकृतः, यथा 'नीलं महत्सुगन्ध्युत्पलम्' इत्यादौ नीलत्वादि विशिष्टस्योत्पलस्य वाक्यार्थत्वं स्वीकृतम्, नैवमत्र महावाक्येषु संसर्गविशिष्टयोरन्यतरस्य वाक्यार्थत्वमभ्युपगम्यते, किन्तु अखण्डैकरसत्वेन स्वगतादिभेदशून्यवस्तुमात्ररूपेण वाक्यार्थो विद्वद्भिरभ्युपेयते, अतो लक्षणा आश्रयणीयेत्यर्थः।'[3]

ऊपर चर्चित भाग लक्षणा द्वारा 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों का

---

१. 'योग्यता पदार्थानां परात्परसम्बन्धे बाधाभावः।' (वही)

२. द्रष्टव्य, पं.द. ७/७५ की पददीपिका।

३. अखण्डार्थता को 'चित्सुखी' इस तरह विवेचित करती है - 'अपर्यायशब्दानां संसारागोचरप्रमिति - जनकत्वमखण्डार्थता' देखें, 'तत्त्वप्रदीपिका' १/१९ का गद्य।

अखण्डार्थ प्रबोध[१] जीव और ब्रह्म की औपाधिक दूरी को पूर्णतः समाप्त कर देता है। इस स्थिति मे बुद्धि इत्यादि का साक्षी प्रत्यगात्मा एवम् अद्वयानन्द लक्षण परमात्मा - दोनो के एकानन्द रूप में भासित होने की अनुभूति होती है।[२] सम्प्रति त्वमादि की अल्पज्ञतादिक ब्रह्मेतरता तथा तदादि का पारोक्ष्य (जीव-भैन्न) - उभय की निवृत्ति हो जाती है। जीवात्मा परमात्मा के पूर्णानन्द के साथ तादात्म्य स्थापित करके स्थिर रहता है।[३] यह तदादि तथा त्वमादि के लक्ष्यार्थ के चरितार्थ होने की स्थिति होती है।

---

३. प्रत्यग् बोधो य आभाति सोऽद्वयानन्दलक्षणः।
अद्वयानन्दरूपश्च प्रत्यग्बोधैकलक्षणः॥ (पं.द. ७/७६)

४. अवलोक्य, वही ७/७७ एवं
तदर्थस्य च पारोक्ष्यं यद्येवं किं ततः श्रुणु।
पूर्णानन्दैकरूपेण प्रत्यग्बोधोऽवतिष्ठते॥ वही, (७/७८)

नवम-परिच्छेद

परमार्थ :

परमार्थ दार्शनीक मीमांसा का सर्वोत्कृष्ट प्रतिपाद्य रहा है। परमार्थ का तात्पर्य वास्तविकता, सत्य या तत्त्व से है। किसी भी दर्शन कुल की मैमांसिक यात्रा की अन्तिम मञ्जिल परमार्थ है। दार्शनिक अपने दर्शन द्वारा जिसको परमसत्य अथवा सर्वश्रेष्ठ तत्त्व के रूप मे प्रतिष्ठा देना चाहता है, वह उसका परमार्थ है। परमार्थ का यह रूप न केवल भारत के दर्शन सम्पद्रायों मे प्रत्युत, विश्व-दर्शन-शाखाओं मे भी विद्यमान है। वस्तुतः सत्य तक पहुंचने के लिए दर्शन विद्या का उद्‌भव हुआ था। दार्शनिकों ने भौतिक-अभौतिक हर स्तर पर चिन्तन, मनन, अनुसन्धान, तर्क तथा अनुभव आदि के द्वारा सत्य को उद्‌घाटित करने का प्रयास भी किया। भारतीय दर्शन की वेदान्त शाखाओं मे परमार्थ औपनिषद सत्य/ब्रह्म पर केन्द्रित है। जिन वेदान्तीय मतों ने उत्पत्ति-विनाशशील तथा जड़ाजड़ात्मक वैश्व प्रपञ्च को अनुत्पन्न अथवा जादूगर के द्वारा उत्पन्न किये गये पदार्थों की भांति असत् नहीं अङ्गीकार किया, बल्कि परमार्थ या ब्रह्म के साथ संयुक्त करके देखने मे आस्था व्यक्त की। ऐसे वेदान्त-सम्प्रदायों का परमार्थ शुद्ध-अद्वैत से हटकर कोई न कोई विशेष अपने मे समाहित किये हुये है। वेदान्ताचार्य ब्रह्मीय सत्य को सर्व-परता तथा प्रशुद्धता का जो स्तर देना चाहते हैं, परिवर्तन क्षय आदि दोषों का निलय संसार, यदि उससे संयोजित कर दिया जाता है, तो इसमे इसकी स्थापना कठिन हो जाती है। यह असम्भव लगता है कि, (परम) सत्य न्यूनाधिक्य विशेष संवलित विश्व से जुड़ा भी रहे और जागतिक विशेषताओं से अछूता भी रहे। इसके साथ ही वेदान्ताचार्यों के सामने दार्शनिक समस्या यह है कि, अगर सत्य की निर्विकारता एवं शुद्धता के कारण विश्व को ब्रह्म सत् से अलग मान लिया जाता हे, तो जगत् एक पृथक् तत्त्व के रूप मे उद्‌भास्य होता है। ऐसी स्थिति मे ब्रह्म की पूर्णता सर्वाधारत्व, सर्वमयता इत्यादि असत्य सिद्ध होते हैं। इससे श्रुति-स्थापनाओं का भी विरोध होता है, क्योंकि श्रुतियों मे ब्रह्म मे परता के साथ वैशिष्ट्यों का भी उल्लेख हुआ है।

वेदान्त एवम् आगम संश्रयी दार्शनिक शाखाओं मे परमार्थ के रूप को लेकर प्रमुखतः दो प्रकार की चारधारायें व्यक्ति लेता हैं। एक ऐसी विचारसरणि है, जो विश्व मे दृश्यमाण उपकार, करूणा, दया, अहिंसा आदि गुणो से पूर्ण दैवी शक्तियों तथा संसार मे व्यक्त इनके रूपों (अवतारों) को महत्त्व देती हुयी, सत्य को अनन्त उदात्तताओं से विशिष्ट स्वीकार करती है। इस विचारधारा के अनुसार हरि, शिव, राम, सीता, कृष्ण, राधा, ब्रह्मा, दुर्गा, काली, नारायण - सब परमार्थ के रूप सिद्ध होते हैं। विशेष सत्यवादी अपने सत्य मे विविध प्रकार की विशेषताओं के साथ अविशेषात्मकता (परता, असङ्गता, अचिन्त्यता आदि) का भी दर्शन करते हैं। कतिपय दर्शन मत विशेष की तरह निर्विशेष को भी सत्य का गुण ही मानते हैं। सविशेष वादी वेदान्त दर्शन ब्रह्म मे विशेष एवम् अविशेष की एकसाथ (विना किसी विरोध की) सिद्धि-हेतु उसमे (भिन्नाभिन्नात्मक) शक्ति अङ्गीकार करते हैं, अथवा ब्रह्म मे अचिन्त्य सामर्थ्य को मान्यता देते हैं। इसके द्वारा सत्य सारे विशेषों को अपने मे समेटकर भी सबसे अलग अपना अस्तित्व बनाये रखता है। इनके अन्तर्गत भास्कर के भेदाभेद से लेकर चैतन्य के अचिन्त्य-भेदाभेद तथा आगम संश्रयी पाञ्चरात्र के परमार्थ को अभिगणित किया जा सकता है।

द्वितीय विचारधारा मे परमार्थ अद्वैत रूप है। इसके अनुसार विशेष उससे पृथक् नहीं है, अथवा विशेष है ही नहीं या असत् है। अद्वैत सत्य पर आग्रह रखने वाले वेदान्त एवम् आगम दर्शनों मे प्रमुखतः शाङ्कर अद्वैत के अतिरिक्त शैवागम जीवी शैव दर्शन सम्प्रदाय हैं। शाङ्करोत्तर वेदान्त मतों मे आचार्य वल्लभ भी ब्रह्म सत्य को 'शुद्धाद्वैत सत्य' के रूप मे परिनिष्ठा देते हैं। पर उनकी इस अद्वैतता का तात्पर्य विशेष राहित्य नहीं है, क्योंकि इनका ब्रह्म सर्वधर्ममण्डित तथा सृष्टि कर्तृत्वादि से युक्त है। सृष्टि उस लीला- धाम परमेश्वर की लीला है। यहां अद्वैतत्व का तात्पर्य ब्रह्म की मायेतरता है।[१]

---

१. 'शुद्धाद्वैतमार्तण्ड' की उक्ति है-
मायासम्बन्धरतिं शुद्धमित्युच्यते बुधैः।
कार्यकारणरूपं शुद्धं ब्रह्म न मायिकम्॥

जहां तक शाब्द दर्शन की बात है, वहां वाक्यपदीयकार ने जिस तत्त्व मे परमार्थ का दर्शन किया है, वह स्फोटलक्षणक शब्द है। परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी इस चतुर्विधात्मिका वाक् मे परा ही अद्वैतीय परमार्थ है।

आगमाश्रित शैव एवं शाक्त दर्शन कुलों मे अनेक कुल अपनी परमार्थीय सत्ता को अद्वैतं मे देखते हैं। पर इनका अद्वैत भी विशेष प्रकार का है। शैव दर्शन का एक प्राचीन सम्प्रदाय 'शिवाद्वैत' है, इसे 'शक्तिविशिष्टाद्वैत' के नाम से भी जाना जाता है। इसके सत्य शिव की अदृयता दो शक्तियों का तादात्म्य है। शिव सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्ट रूप है और जीवात्मायें स्थूलचिदचिद्विशिष्ट शक्ति के प्रकार हैं। उभय का ऐक्य रूप (अर्थात् दोनो प्रकार की शक्तियों का अपृथक् रूप) जो शिव तत्त्व है, वह शिवाद्वैतवादियों का परम सत्य है।

शैव सम्प्रदायों का एक महत्त्वपूर्ण दार्शनिक मत 'प्रत्यभिज्ञा' है। इसका सत्य प्रकाश-विमर्शात्मक परासंवित है।[१] प्रत्यभिज्ञा अपने परमार्थ को 'ईश्वराद्वैत' के रूप मे संस्थिर करता है। इसकी सम्मति मे सत्य मात्र कर्तृत्वादिशून्य ज्ञान नहीं, अपितु कर्तृत्वादिक्रिया तथा ज्ञान का अभेद्य रूप है। इसमे क्रिया एवं ज्ञानके पार्थक्य रूपी द्वैत का अत्यन्ताभाव है।

शाक्तदर्शनों मे 'क्रम दर्शन; काली मे परमार्थत्व का निरूपण करता है। काली सत्य मे समस्त वैश्व पदार्थ अभिन्न रूप मे निहित रहते है। वही इनको बाहर व्यक्ति, पृथक्-पृथक् अस्तित्व एवं पुनः स्व में विलीन करने का कार्य करता है। इस प्रकार वैष्टप प्रपञ्च का उससे भेदाभाव है।

कौल शाक्त दर्शन 'संवित्' को परम तत्त्व के रूप मे अङ्गीकार करता है। इसीकी संज्ञा त्रिपुरसुन्दरी है। इसे अनुत्तर शिव की स्वरूपात्मिका विमर्श शक्ति भी कहा गया है। शिव इसके विना कुछ भी करने मे शक्त नहीं है। शिव और शक्ति का अभेद है। इसलिये कौल दर्शन का परमार्थ शक्ति एवं शक्तिधर्ता के ऐक्य मे प्राप्य है।

ऊपर अभिहित शैव और शाक्त दर्शनों के परमार्थ मे दृष्ट अद्वैत शक्ति अथवा विमर्श प्रभृति रूपों के विशेष से विशिष्ट है। इतना अवश्य

---

१. 'चितिःप्रत्यवमर्शात्मका परावाक् स्वरसोदिता।' (प्रत्यभिज्ञाविमर्शिणी १/२०४)

है कि, ये विशेष परमार्थ से अभिन्न हैं। अतः इसके स्वलक्षण मे समाहित हैं। वस्तुतः इन आगमश्रयी दर्शन कुलों ने विशेष (द्वैत) को तथा इसे आविर्भूत करने के सामर्थ्य को सत्य का उसी तरह का स्व-रूप माना, जिस तरह निर्विशेष उसका स्व-रूप है। इनके अद्वैत का तात्पर्य है-'इन समस्त अर्हताओं से पूर्ण एक तत्त्व।'

एक बात यहां जिज्ञास्य बनती है कि, शैवागमों पर संश्रित इन दर्शनों के परमार्थ वैष्णवेदान्तों एवं वैष्णवागमों के परमार्थ से क्या पृथक् हैं ? क्या इनका अद्वैत वैष्णव दर्शनो मे परिलक्षित नहीं होता? इस सन्दर्भ मे यह ज्ञातव्य है कि, वैष्णव वेदान्तों और वैष्णवागमो मे परमसत्य अनन्त गुणो से पूर्ण है। इन गुणो मे ऐसे गुण भी सम्मिलित हैं, जो निर्गुण परमात्मा के भी लक्षण मे अङ्गीकार्य हैं। वैष्णवागमों के नारायण तथा वैष्णव दार्शनिकों के भगवान् विष्णु एवं प्रभु कृष्ण मे वे वैशिष्ट्य विद्यमान हैं, जो संसारापेक्षी और संसारेतर सत्ता में श्रुतियो ने निरूपित किये हैं। इसीलिये विष्ण्वाश्रित वेदान्तों मे भेदाभेद, विशुद्धाद्वैत तथा अचिन्त्य-भेदाभेद सदृश दार्शनिक दृष्टियों को सत्यार्थ प्रतिष्ठा प्राप्त है। ये दर्शन सम्प्रदाय ब्रह्म मे शक्तिद्वार से ऐसा सामर्थ्य स्वीकार करते हैं कि, वह भेद से सम्पृक्त होकर भी भेदातीत बना रहता है। कहने का अभिप्राय यह कि, इनके परमार्थ मे सार्ष्टिक-प्रपञ्चत्व एवम् इससे परता-उभ्यप्रकारक लक्षण आप्त हैं। शैव तथा शक्तिश्रित दर्शनमतों के अद्वैत पक्षधर सम्प्रदायों ने भी भेद को अभेद के साथ एक ही सत्य मे देखते हुये, अपनी वैचारिक गुरूता से भेद-विशिष्ट अद्वैत को पर सत्य का रूप सिद्ध किया। परन्तु ध्यातव्य यह है कि, जहां वैष्णव दार्शनिक प्रापञ्चिक सच्चाई को परमार्थ से संश्लिष्ट करके भी, परमार्थ को इससे पर भी देखने मे आस्थावान् हैं, वहीं शैवागमीय (अद्वैतवादी) दर्शन सार्ष्टिक अस्तित्व को परम सत्य के वास्तविक रूप मे ही देखना चाहते हैं।

समस्त उपनिषद्-श्रुति-श्रित वेदान्तमतों एवम् आगमजीवी वैष्णव शैव शाक्त दर्शन सम्प्रदायों मे परमार्थ को 'एकमेवाद्वितीयम्' के रूप मे प्रतिष्ठा शाङ्करवेदान्त मे मिली। सत्य की अद्वितीयता, इसकी शुद्धता, इसकी मुक्तता

इस दर्शन कुल का सिद्धान्त-सार है। स्वकीय अविशिष्टाद्वैत को सिद्धान्ततः संस्थिर करने मे, यद्यपि इस मत के आचार्यों को अनेक दार्शनिक उलझनो का भी सामना करना पड़ा है, परन्तु अपनी पटु तार्किक शक्ति, प्रखर वैदुष्य एवं श्रुतियों-स्मृतियों के साक्ष पर आचार्यों ने इस प्रकार की उलझनो को दूर करने में पर्याप्त सफलता अर्जित की है। ऐसी उलझनो मे माया/अविद्या का लक्षण, इनका ब्रह्म से सम्बन्ध तथा जगत् की नितान्त असत्यतता प्रभृति विषय समाहित हैं। माया शक्ति की अनिर्वचनीयता, अज्ञात काल से दिखलाई पड़नेवाले विश्व की अलीकता एवं सत्य की सर्वात्परता के प्रति शाङ्करोत्तरकालिक दार्शनिक मतों मे बड़ी प्रतिक्रिया दृष्टि-गोचर होती है।

शाङ्कर दर्शन मे यद्यपि, नित्यशुद्ध बुद्धमुक्तप्रकृतिक अद्वैत ब्रह्म परमार्थ है, पर यहां इसके अतिरिक्त किसी अन्य तत्त्व की सत्ता न होने के फलरूप (अन्यथा अद्वैत बाधित हो जायेगा) दृश्यमाण जगत् का आश्रय भी वही बनता है। इसके बावजूद वह वैश्व प्रपञ्च से अस्पृष्ट रहता है। नामरूपलक्षणक सांसारिक वस्तुओं से ब्रह्म सत् के संस्पर्शाभाव का कारण माया/अविद्या है। प्रतीयमान विश्व की अभिव्यक्ति मे प्रामुख्यरूपेण उसी की भूमिका है।

शङ्करवेदान्त अनादि, अनन्त तथा शुद्ध सत्ता को दो रूपों मे देखता है-

१. सृष्टि-निरपेक्ष एवं
२. सृष्टि-सापेक्ष

सृष्टि-निरपेक्ष रूप मे सत्य (सत्ता) मायिक अथवा आविद्यक सृष्टि से पूर्णतः दूर रहता है। इसके अनुसार जगत् का त्रैकालिक अभाव है। सत्यातिरिक्त जगत् का कोई अस्तित्व नहीं। विश्व का न उद्भव हुआ था, न इस समय (वर्तमान मे) इसका अस्तित्व है और न अनागत मे ही यह अस्तित्ववान् रहेगा। संसार की सत्ता को नितान्त अस्वीकृत किये जाने पर, अद्वितीय सत्ता का जो लक्षण परिलक्षित होता है, वही परमार्थ है। यह सत्य यद्यपि अज, अनादि, अनन्त, अचिन्त्य तथा अव्यपदेश्य है,

किन्तु माध्यमिक बौद्धों के शून्य से विरुद्ध सत्, चित् एवम् आनन्दरूप से भावात्मक है।[१]

पर सत्य जगत् के लिये इसलिये निरपेक्ष है, क्योंकि वह सादि तथा सान्त विश्व को न तो स्व-रूप से उत्पन्न कर सकता है, न इसे अस्तित्व प्रदान कर सकता है और न ही इससे उसका किसी प्रकार का सम्बन्ध बन सकता है। परमार्थ को असत्य-संसार से सर्वतोभावेन पृथक् रखने एवं तदतिरिक्त सत्ता-हैन्य-संस्थापन के प्रति शङ्कर के पूर्ववर्तीय अद्वैतीय ग्रन्थों मे योगवाशिष्ठ तथा माण्डूक्योपनिषद् कारिका उल्लेख्य हैं। इनमे सत् को असत् से संयुक्त करने एवम् असत् मे सत्ता दर्शन का खण्डन किया गया है। अनेक युक्तियों तथा दृष्टान्तों द्वारा इस बात की पुष्टि की गयी है कि, सत्य का असत्य से सम्बन्ध और असत्य का सत्यात्मक अस्तित्व, सिद्धान्ततः असम्भव है।

सत्य ब्रह्म अद्वितीय शान्त तत्त्व के रूप मे अस्तित्वधर है, इसके अलावा कोई नित्य तत्त्व है ही नहीं। यदि इससे अलग कोई वस्तु प्रतीत होती है, तो निश्चय ही वह मिथ्या है। मिथ्या पदार्थ की सत् पदार्थ से तादात्म्य की कल्पना तथ्य शून्य है- इन सभी बातों के प्रकाशनार्थ योगवाशिष्ठ एवं माण्डूक्योपनिषद्कारिका की कतिपय पद्य-पङ्क्तियां उद्धृत हैं-

---

१. विशेष : यद्यपि माध्यमिकों के शून्यवाद का तात्पर्य 'सत्ता का अभाव' लेकर इसकी निन्दा की गयी है। परन्तु कतिपय विद्वानो का यह मानना है कि, यदि शून्यवाद के सम्पूर्ण साहित्य पर दृष्टि डाली जाय, तो ऐसा नहीं लगता कि इनकी सम्मति मे शून्य का तात्पर्य सत्ता का निरास है। शून्यसे इनका अभिप्राय 'सत्ता की अवर्ण्यता' प्रतीत होता है। शाङ्कर वेदान्त भी सत्ता को वर्णनातीत स्वीकार करता है, किन्तु यह शून्यवादियों से पृथक् इसे सच्चिदानन्दात्मक मानता है। प्रश्न उठता है कि, सत्य जब वाणी मन सबसे पर है, तो उसे भाव रूप एवं चिदानन्दमय माना जाय, यह उपयुक्त नहीं लगता। शाङ्कर दर्शन इस हेतु श्रुतियों को प्रमाण मानता है। इसकी दृष्टि मे सत्य भले ही अचिन्त्य है, परन्तु अचिन्त्यत्व रूप मे भी वह कुछ है (शून्य नहीं है), वह जो कुछ है, वह चैतन्यानन्दमय है। चैतन्य और आनन्द का लौकिक दृष्टि से भी देखा जाय, तो कोई मूर्त रूप नहीं दिखता।

१.न जगन्नापि जगती शान्तमेवाखिलं स्थितम्।।
(यो.वा. ३।१३/५१)

२.न किञ्चिज्जायते शान्तान्न किञ्चित् प्रविलीयते।
स्वसत्तायां स्थितं ब्रह्म न बीजं न च कारणम्।।
(वही, ६/९७/१)

शुद्धानुभवमात्रं तत् तस्मादन्यन्न विद्यते।
(वही, २)

३.अजातस्यैव धर्मस्य जातिमिच्छन्तिवादिनः।
अजातो ह्यमृतो धर्मो मर्त्यता कथमेष्यति।।
(मा. का. ४/६)

४.न भवत्यमृतं मर्त्यं न मर्त्यममृतं तथा।
प्रकृतेरन्यथाभावो न कथञ्चिद् भविष्यति।।
(वही ४/७)

५.तेन जातो ततो जातमितीयं रचना गिराम्।
शास्त्रसंव्यवहारार्थं न राम परमार्थतः।।
(यो.वा. ४/४०/१७)

६.एवं न किञ्चिदुत्पन्नं दृश्यं चिज्जगदाद्यपि।
चिदाकाशे चिदाकाशं केवलं स्वात्मनि स्थितम्।।
(वही, ३/२१/२४)

७.जगन्नाम्ना न चोत्पन्नं न चास्ति न दृश्यते।
(वही, ३/७/४०)

सृष्टि सापेक्ष मे सत्य असत् प्रपञ्च का आधार अवश्य बनता है, परन्तु स्वरूपतः वह इससे अविकृत रहता है। माया / अविद्या द्वारा विकार रहित सत् के अधिष्ठान पर असत् पदार्थों की प्रतीत्यात्मक सर्जना की जाती है। द्यिमाया अथवा अविधा का अस्तित्व तथा उसका यह कार्य कब से है ? इसके उत्तर मे शाङ्कर मत का अभिधान है कि, ये अनादिकाल से प्रभावी हैं। माया द्वारा सृष्ट प्रपञ्च नाम रूप संज्ञक है। यह तत्त्वतः भले ही असत् है, किन्तु प्रतीति-काल मे सत् स्वीकार्य है। प्रतीति गत इस सत्यता को मान्यता देते हुये अद्वैत वेदान्त विश्व तथा विश्व की अभिव्यक्तिदायिनी शक्ति दोनो को विलक्षण (अनिर्वचनीय) अङ्गीकार करता है। यह ठीक उसी तरह मान्य है, जैसे शुक्ति मे प्रतीयमान रजतत्व भले ही मिथ्या है, पर जब तक उसका भास होता रहता है, तब तक उसे

मिथ्या नही कहा जा सकता।[१]

सत्य का असत्य-रूप मे भान वैवर्तिक है। इस प्रकार के भास के अपनयनार्थ विद्या अथवा ज्ञान की अपेक्षा पड़ती है। विधोदय होने पर अज्ञानज प्रतीतिं का क्षय हो जाता है। एतदनन्तर सत्य का रूप स्पष्ट झलकने लगता है।

जगत् की अपेक्षा मे भी परमार्थ ब्रह्म की निर्लिप्ता, इसकी शुद्धता एवं विश्व की असत्यात्मकता के प्रकरण मे भी अद्वैतीय आचार्यों के कतिपय वाक्य उद्धृत हैं-

१.मायेयं स्वप्नवद् भ्रान्तिर्मिथ्या रचितचक्रिका।

(यो.वा. ४/७४/४१)

२.स्वप्नमाये यथा दृष्टे गन्धर्वनगरं यथा।
तथा विश्वमिदं दृष्टं वेदान्तेषु विचक्षणैः।।

(मा.का. २/३१)

३.रिक्तं न विश्वशब्दार्थैरन्यद् ब्रह्मणि स्थितम्।
न तत् सत्यं न चासत्यं रज्जुसर्पभ्रमो यथा।।

(यो.वा. ३/४४/३३)

४. वैतथ्यं सर्वभावानां स्वप्न आहुर्मनीषिणः। (मा.का. २/१)

५.'मिथ्याज्ञानविजृम्भृतं नानात्वम्। (ब्र.सू.शां.भा. २/१/१४

६.काकोलूकनिशेवायं संसारोऽज्ञात्मवेदिनः। (बृह.भा.वा. १/४/३१३)

---

१. विशेष : शुक्ति मे रजत का दर्शन अथवा ब्रह्माधिष्ठान पर माया द्वारा जगत् का अभिव्यञ्जन - इनमे जो प्रतीत्यात्मक सत्यता दृष्टि-गम्य है, इसका कारण अधिष्ठानगत सत्य है। जिस प्रकार बिम्ब से प्रतिबिम्ब देखा जाता है, पर प्रतिबिम्ब मे दिखाई पड़ने वाली वास्तविकता का आधार बिम्ब रहता है, उसी प्रकार ब्रह्म सत्य पर परिकल्पित जगत् एवं शुक्ति मे दृष्टिगत रजत मे जिस सत्यत्व का हम दर्शन करते है, वह ब्रह्म तथा शुक्ति के कारण है। ज्योंही हमे आधार ब्रह्म अथवा शुक्ति (के वास्तविक रूप) का साक्षात्कार हो जाता है, त्योंही जगत् अथवा रजत गत सत्यता समाप्त हो जाती है। अगर यह कहा जाय कि ऐसा क्यों? ऐसा इसलिये, क्योंकि विश्व तथा रजत मे सत्य का आभास वस्तुतः सत्यं ब्रह्म एवं सीपी के कारण था। द्रष्टा जब ब्रह्म एवं शुक्ति के सत् रूप को देख लेता है, तब उसे इस बात का बोध हो जाता है कि, वह अविद्या/अज्ञान-वश ब्रह्म को विश्व अथवा शुक्ति को रजत मान लिया था। इस प्रकार अद्वैतवेदान्त की सम्मति मे दार्शनिक और लौकिक दोनो स्तरों पर यह बात स्पष्ट होती है कि, अज्ञान कितना चमत्कारी है कि, वह अपने प्रभाव से जो वस्तु जैसी नहीं है, उसका उस रूप मे प्रत्यायन करा देता है।

माया एवम् अविद्या के द्वारा ब्रह्मसंश्रय पर जिस प्रातिभासिक अथवा व्यावहारिक रूप मे सच दिखलाई पड़ने वाले विश्व की निर्मिति होती है, उसका सत्यत्व तभी तक रहता है, जब तक माया तथा अविद्या की सत्यता रहती है। यह स्थिति उसी प्रकार की रहा करती है, जैसे ऐन्द्रजालिकद्वारा सृष्ट पदार्थ तभी तक सत् दिखलाई पड़ते हैं, जबतक इन्द्रजाल असत् नहीं दिखता है।

शाङ्कर अद्वैत मे परमार्थ को चाहे जगत् के अजात रूप मे देखा जाय, अथवा जगत् के जात-द्वार से अवलोकित किया जाय - सर्वत्र यह अद्वितीय एवं सुशुद्ध रूप मे ही दृष्टि-गत होता है। यह किसी भी स्थिति मे उत्पत्ति, विनाश तथा परिवर्तन का आस्पद नहीं बनता। सत्तागतानर्हता तथा प्रतिभास-भाजनता-वशात् द्वैत को भले ही परमार्थ सत् पर आरोपित कर दिया जाता है, पर वस्तुतः द्वैत से उसका कुछ लेना देना नहीं।

पञ्चदशी 'माण्डूक्योपनिषद्कारिका' के वैतथ्य प्रकरण की ३२वीं कारिका को दो स्थलों पर उद्धृत करती हुयी, इसमे प्रतिपादित परमार्थ को परमार्थ के रूप मे प्रतिष्ठा देती है। यह कारिका निम्नप्रकारक है-

न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः।
न मुमुक्षर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता।।[1]

---

१. विशेष : परमार्थ प्रतिपादक यह कारिका पञ्चदशी मे दो स्थलों पर उद्धृत है। प्रथम 'चित्रदीपप्रकरण' मे, यह उस समय उद्धृत की गयी है, जब आचार्य सांख्य-योग दर्शन के पुरुष-बहुत्व, जगत्-सत्यत्व तथा ईश्वर की इन दोनो से भिन्नता को पूर्व पक्ष मे रखकर, उत्तरपक्ष मे इनकी अलीकता संस्थिर करना चाहता है। विद्यारण्य के धारणाऽनुसार इस प्रकार के भेदों के रहते जीव को मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती। जीव एवम् ईश्वर का पार्थक्य तथा प्रकृतिजात जगत् के अस्तित्ववान् रहते जीव-मोक्ष के पूर्व और मोक्षकाल मे भी प्रकृति के बन्धन एवम् ईश्वर के नियमन से मुक्त नहीं हो सकते। अतः जीव के मोक्षार्थ सांख्य-योग को भी अद्वैत वेदान्त की तरह प्रकृति का जीवात्मा से तादात्म्य तथा ईश्वर-जीव-भेद को अविवेकज अङ्गीकार करना चाहिये।
यदि यह कहा जाय कि, बन्धन और मोक्ष हेतु जीवात्माओं (आत्माओं) को भिन्न मानना ही होगा। इसका समाधान सिद्धान्त पक्ष की ओर से यह है कि, आत्मा का बन्धन तथा मोक्ष माया के कारण होता है। माया मे वह सामर्थ्य है कि, वह एक आत्मा को अन्तःकरणो- पाधियों से भिन्न-भिन्न व्यक्त करती है। इस प्रकार आत्मा का बन्धाबन्ध आविद्यक है तथा उसका पारमार्थिक रूप इन सबसे अलग है। आत्मा अथवा ब्रह्म का वही पारमार्थिक रूप इस कारिका मे उक्त है।
'कूटस्थदीप-प्रकरण' मे भी यही कारिका (८/७१) उल्लिखित है। यतीन्द्र विद्यारण्य जीव और ईश्वर तथा इनसे कृतसारी सर्जना को मायामय अथवा असत् बतलाते हुये, आत्मा को न्यूनाधिक्य, जन्म, मृत्यु, ईश्वर-सृष्ट समस्त भोग्यपदार्थों, भोक्तृत्व, कर्तृत्व, जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति आदि सबसे अछूता असङ्ग निरूपित करना चाहते हैं। प्रसङ्गानुसार उस कूटस्थ आत्मा का सही रूप परिचित कराने के लिये आचार्य द्वारा इस कारिका को उद्धृत किया जाता है।

इसके अनुसार विनाश, उत्पत्ति, बन्धन, मुक्ति के उपाय, मुक्तीच्छा तथा मुक्ति - ये आत्मा/ब्रह्म के वास्तविक लक्षण से असम्बद्ध हैं। अद्वय तत्त्व इनसे भिन्न है। नाश- उत्पत्ति एवं बन्धन-मोक्ष-ये सापेक्ष हैं। जिसकी उत्पत्ति होगी, उसी का विनाश भी होगा। इसी प्रकार जो नष्ट होता है, उसके पुनरूत्पन्न होने की बात भी प्रमाणित होती है। जो बद्ध है, वही बन्धन से मुक्त होना चाहेगा। जिसमे मोक्षेच्छा होगी, वह मुमुक्षु होगा। मोक्षेच्छु जीव को मोक्ष-प्राप्ति हेतु साधनो की आवश्यकता पड़ेगी। साधनो के द्वारा मोक्ष की आप्ति सम्भव होगी।

परमार्थ का यह रूप पूर्व मे चर्चित 'सृष्टि-निरपेक्ष' सत्य का रूप है। वस्तुतः परमार्थ तत्त्व पूर्ण शुद्ध नित्य एवम् असङ्ग है। वह सर्वदा सर्वथा मुक्त स्वभाव है। अतः उसके बन्ध-मोक्ष तथा उत्पत्ति-नाश आचीकार्य हैं। इस प्रकार मुक्ति तक पहुंचने का जो साधन प्रपञ्च है, वह इन सबके पर है।

शङ्का उठती है कि, परमार्थ का अन्य-सबसे भले ही कोई सम्बन्ध स्वीकार्य न हो, परन्तु मुक्ति से उसका सम्बन्ध मान्य है, बल्कि यह कहा जाय कि, वह मुक्ति रूप है। इस शङ्का का निराकरण यह है कि, संसार मे बन्धन के बाद मुक्ति-प्राप्ति की जो स्थिति देखी जाती है, अथवा अविद्या की उपाधि नष्ट होने पर जो मुक्तता दिखलाई पड़ती है, इसका अवकाश परमार्थ मे नहीं है। सत् को मुक्त तब कहा जा सकता था, जब वह बन्धन से युक्त रहता। चूंकि वह बद्ध नहीं है, अतः उसकी मुक्ति का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। पुनः संशीति उठायी जा सकती है कि, जब अज्ञानज बन्धन के सदृश इससे मिलने वाला मोक्ष परमार्थ मे गण्य नहीं है, तो अविधा-निवृत्ति के अनन्तर जीव का ब्रह्म साक्षात्कार एवं प्रारब्ध-मुक्ति के बाद मिलने वाले विदेह मोक्ष का रूपअपारमार्थिक सिद्ध होते हैं। पर इस प्रकार की शङ्का उचित नहीं। वास्विकता यह है कि, पूर्वोक्तकारिका मे परमार्थ को बन्धन तथा मुक्ति से परे बतलाकर कारिकाकार उसे एक स्थिर स्वभाव वाला निरूपित करना चाहते हैं। अज्ञानापनयन अथवा देह-पात के पश्चात् जो अद्वितीय तत्त्व जीव को आप्त होता है, उसका बन्धन तथा मोक्ष से कोई सम्बन्ध नहीं। वह तो परमार्थ है ही। अपरमार्थ है —उसको अविधा के वशीभूत और अविधा से मुक्त माना जाना।

अज्ञान परमार्थ तत्त्व मे न कभी था, न है एवं न कभी रहेगा।

अद्वैत परम्परा मे स्वयं प्रकाश परमार्थ अविद्यादि अन्धकारों से वैसे ही अस्पृष्ट माना जाता है, यथा भगवान् भास्कर का प्रकाश घनादि-आच्छादन से। यदि कोई व्यक्ति मेघाच्छादन के कारण दिनेश को नहीं देख पाता, तो इसका तात्पर्य यह नहीं कि मेघ से सूर्य आच्छादित हो गया, अपितु घन, के द्वारा उसकी दृष्टि आवृत कर ली जाती है, जिसके कारण वह सूर्य का दर्शन नहीं कर पाता है। सीमित मेघ भला सूर्य का आवरक कैसे बन सकता है ? सूर्य आकार से इतना बड़ा है और मेघ से इतना दूर है कि, इसके ऊपर मेघ के आवरण की बात पूर्णतः अज्ञानमय है। घनाच्छन्न दृष्टि वाला व्यक्ति जब इस स्थिति मे सूर्य को देखता है, तो उसे लगता है कि अभ्र से ढ़कने के कारण सूर्य इसे दिखलाई नहीं पड़ रहा है। पर बादल हटते ही वह सूर्य को देखने मे सक्षम हो जाता है। घन दूर होने के बाद द्रष्टा को जो सूर्य दृष्टि-गोचर होता है, वही सूर्य घनाच्छन्न मे भी रहता है। इस तरह घनावरण से आभेश का कोई सम्बन्ध नहीं बनता, वह आवरण एवम् अनावरण दोनो कालों मे एक ही रहता है। मेघ को दृष्टि का अवरोधक अवश्य माना जा सकता है, क्योंकि द्रष्टा की दृष्टि को वह आवृत करने मे समर्थ है। दिनकर की ही भांति परमार्थतः ब्रह्म सत्य का माया/अविद्या के आवरण या इसकी निवृत्ति से कोई सम्बन्ध नहीं है। वह सतत अखण्डैकरूप है। अतः प्रबद्ध की तरह उसे मुक्त भी कहा जाना उचित नहीं।

पूर्व मे इस बात का सङ्केत किया गया है कि, अद्वैत वेदान्त का परमार्थ 'एकमेवाद्वितीयम्' है। 'एकमेवाद्वितीयम्' की अद्वैताचार्यों ने अनेकशः व्याख्या की है। योगवाशिष्ठकार ने अनादि, अनन्त, भेदशून्य एवम् अखण्ड्य सत्य को एक रूप मे प्रतिपादित किया है।[१] आचार्य शङ्कर एक और अद्वितीय पद को समानाधिकरण अङ्गीकार करते हुये एक तथा अद्वितीय को सत् से अपृथक् प्रतिष्ठित करते हैं।[२] अद्वैत अविद्या के कारण भास मे आता है, ब्रह्म सत्य मे इसका अस्तित्व नहीं है, अतः इसका द्वैत पूर्णतः सिद्ध है।[३] आचार्य मण्डनमिश्र 'एकमेवाद्वितीयम्' इस श्रुति वाक्य का लक्ष्यार्थ

---

१. 'सर्वमेकमनाद्यनन्तमविभागमखण्डितम्।' (यो. वा. ३/८४/२६)
२. छा. उ. शां. भा० ६/२/१
३. 'अविद्यया हि द्वितीयः प्रविभज्यते, सा च शान्तान्न। अत एकः। अद्वैतो द्रष्टव्यस्य द्वितीयस्याभावात्।' (वही, ४/३/३२)

ब्रह्म मे समस्त प्रकार के भेदों का निषेध बतलाते हैं।[१]

वार्तिककार सुरेश ने सत्य को अविभाग, अव्यय, अज तथा विभु निरूपित करते हुये इसमे द्वैत साहित्य को सर्वप्रमाणो से असिद्ध माना है। इनकी धारणा मे द्वितीयाभावत्व से आत्मा की अद्वितीयता स्वयं सिद्ध है।[२]

आचार्य मधुसूदन सरस्वती 'अद्वितीयम्' मे 'बहुब्रीहिः का उल्लेख करते हुये 'एकमेवाद्वितीयम्' के तीनो पदों का तात्पर्य भेदत्रयनिषेध तथा इसके द्वारा ब्रह्मेतर पदार्थों का वैतथ्य बतलाते हैं-ः अद्वितीयम्, न विद्यते द्वितीयं यत्रेति बहुबीहेरेवादरणीयः। तदेवं सद् रूपे ब्रह्मणि पदत्रयेण भेदत्रयनिषेधात् तद्भिन्नमिथ्यात्वे पर्यवसितम्।'[३]

'सदेव सौम्येदमग्र आसीदेवकमेवाद्वितीयम्' (छा ६/२/१) इस औपनिषद वाक्य को मान्यता देते हुये पञ्चदशी सत्य को अद्वैत ही मानती है। पूरी पञ्चदशी मे ब्रह्म की अद्वितीयता पर प्रबल आग्रह दिखलाई पड़ता है। पञ्चदशीप्रणयनकार पञ्चभूतों, पञ्चकोशों तथा माया एवम् अविद्या के प्रभाव से जात अन्य समग्र द्वैत सर्जन की तात्त्विक असत्ता आलोकित करते हुये अद्वैत सत्य मे पूर्ण आस्था व्यक्त करते हैं।

पञ्चदशी 'एकमेवाद्वितीयम्' मे प्रयुक्त तीनो (एक, एव एवम् अद्वितीय) को ऐक्य, अवधारण तथा द्वैत निषेध का अभिधायक मानती है। साथ ही इनके द्वारा वह अद्वितीयपरमार्थ मे क्रमशः स्वगत, सजातीय और विजातीय भेदों का राहित्य भी ज्ञापित करती है।[४]

---

१. 'एकमेवाद्वितीयम्' इत्यवधारणाऽद्वितीयशब्दाभ्यां तस्यैवार्थस्य पुनः पुनरभिधानात् सर्वप्रकार भेदनिवृत्तिपरता।' (ब्रह्मसिद्धि पृ. ६)

२. 'आत्मनोऽप्य द्वितीयत्वमात्मादेव सिध्यति।' (नै.सि. २/८९)

३. द्रष्टव्य, 'न्यायामृताद्वैतसिद्धिः', 'एकमेवार्थद्वितीयमिति श्रुत्यर्थ विचारः, प्रथम परिच्छेद।'

४. तथा सद्वस्तुनो भेदत्रयं प्राप्तं निवार्यते। ऐक्यावधारणद्वैतप्रतिषेधैस्त्रिभिः क्रमात्॥ (पं. द.२।२१)

वस्तुत्वसामान्यादनात्मनीव सद्रूपात्मवस्तुन्यपि प्रसक्तं स्वगतादिभेदत्रयम् ऐक्याधारणद्वैत प्रतिषेधाभिधायकैः 'एकमेवाद्वितीयम्' (छा. ६।२।१) इति त्रिभिः पदैः क्रमेण निवार्यते।' (पं. द.-२।२१ की पददीपिका।)

विशेष : लोकीय वस्तुओं मे भेद-त्रय स्वगत, सजातीय एवं विजातीय का दर्शन होता है। उदा. वृक्ष मे स्कन्ध, पत्ते, पुष्प-आदि उत्पन्न होते हैं। ये वृक्ष के अलग-अलग अवयव हैं। वृक्ष से इनकी भिन्नता वृक्ष के स्व-गत भेद का परिचायक बनती है। इस प्रकार का वैशिष्ट्य दुनिया की अन्य वस्तुओं मे भी द्रष्टव्य है। एक वृक्ष का अन्य वृक्षों से भेद सजातीय भेद है। वृक्ष का वृक्षेतर अन्य पदार्थों - मृत्तिका, जल, पर्वत आदि से भैन्न विजातीय भेदान्तर्गत गण्य है। अद्वैतसत् इन तीनो से रहित निर्विभागप्रकारक वस्तु है।

सत् ब्रह्म मे इस भेद-त्रय को लेकर पूर्वपक्षीय विचिकित्सायें उठती हैं। नामरूपोत्पादन मे ब्रह्म (मायोपहित ब्रह्म) का हेतुत्व माना जाता है। इस स्थिति मे नाम तथा रूप को ब्रह्म का अवयव माने जाने पर ब्रह्म मे स्वगत भेद की सिद्धि स्वीकार्य है। पर ब्रह्म के सन्दर्भ मे यह शङ्का अर्थ शून्य है, क्योंकि नाम-रूप सृष्टि के बाद आते हैं। ब्रह्म सृष्टि के पहले से ही कालातीत रूप मे विद्यमान है। अतः अज पदार्थ के ये (बाद के) जात पदार्थ अवयव बनने की पात्रता नहीं रखते। इसलिये ब्रह्म को आकाश के सदृश निरंश बतलाया गया है।[१]

जहां तक सत्य मे सजातीय भिन्नता की बात है, वह भी सम्भाव्य नहीं, क्योंकि सत् एक ही है। इसके अतिरिक्त इसका कोई सजातीय है ही नहीं। अतः इसमे सजातीय भैन्न का (नितान्त) अभाव है।

एक प्रश्न उठता है कि, सत् संसार की हर वस्तु मे रहता है। ऐसी स्थिति मे हर वस्तु मे पृथक् विद्यमान सत्ता (सद् रूप) क्या भेद का ज्ञापक नहीं? इसका उत्तक अद्वैत- मतानुसार यह है कि, सत्य एक ही है। उसके भिन्न-भिन्न वस्तुओं से अलग-अलग दिखलाई पड़ने का कारण इन वस्तुओं की पृथक्-पृथक् उपाधियां है।[२] आकाश उपाधियों के कारण जेसे घटकाश, मठाकाश, जलाकाश आदि रूपों में दृष्टि-गोचर होता है, वैसे ही सत्य भी औपाधिक होने पर भिन्न-भिन्न प्रतीत होता है।

सत्य मे विजातीय भिन्नता को भी मान्यता इसलिये नहीं दी जा सकती, क्योंकि इसकी प्रतियोगित्वार्हता किसी मे नहीं है। असत्य इसका विजातीय अवश्य है। किन्तु यह अस्तित्व शून्य है। अतः सत्य के साथ इसका विजातीय भेद अशक्य है।[३]

पञ्चदशी सत्य की प्रकृति एक मानती है। सत्य से इतर अन्य समस्त सांसारिक पदार्थ द्विस्वभावक है।[४] इन दो स्वभावों मे, जो माया

---

१. न तयोरूद्भवस्तस्मान्निरंशं सद्यथावियत्॥ (पं.द. २/२३)

२. सदन्तरं सजातीयं न वैलक्षण्यवर्जनात्।
नामरूपोपाधिभेदंविना नैव सतो भिदा॥ (वही, २/२४)

३. वही, २/२६

४. एकस्वभावे सत्तत्वमाकाशो द्विस्वभावकः। (वही, २/६१)

अथवा अविद्या जन्म स्वभाव है, वही जागतिक वस्तुओं का स्व-भाव है और यह असत् है। इस स्वभाव के हट जाने पर जो शिष्ट रहता है, वही सत्ता है। यह स्वभाव दुनिया की हर वस्तु का एक जैसा या एक ही है। परमार्थ के एकत्व तथा अद्वितीयत्व का संसार एवं वैज्ञानिक विवेचन पञ्चदशी के द्वितीय तथा तृतीय प्रकरण मे अवलोक्य है। द्वितीय मे ब्रह्माधिष्ठान पर माया द्वारा उत्पादित आकाशादि महाभूतों के मायिक रूप की असत्यता के द्वार से इनके सत्य का विवेक विवेचित है। तृतीय प्रकरण मे अविद्या के प्रभाव से अन्नमयादिपञ्चकोशोपाधि से उपहित आत्मा अथवा ब्रह्म के रूप का आलोक, इन कोशों के स्व-गत मिथ्यात्व के माध्यम से प्रस्तुत हुआ है। इसी प्रकार 'द्वैत प्रकरण' मे द्वैत-मीमांसा के द्वार से अद्वैत तत्त्व को महती प्रतिष्ठा प्राप्त है।

इतना ही नहीं, परमार्थ तत्त्व के ऐक्य तथा अद्वितीयत्व प्रतिपादन के प्रति पञ्चदशी रचनाकार पूर्णतः सचेष्ट हैं। इसके प्रत्येक प्रकरण की मनीषा का उद्देश्य ही सत्य की अद्वितीयता का ज्ञापन दिखलाई पड़ता है। तत्त्वविवेक मे एक ही संविद् की त्रैकालिक सत्यता तथा पञ्चमप्रकरण मे उक्त श्रौत महावाक्यों मे जीव-ब्रह्माभैन्न का प्रतिपादन - सत्य की एकरूपता के व्यञ्जक हैं। चित्रदीपप्रकरण मे ब्रह्म की चैतन्य, अतर्न्यामी, सूत्रात्मा और विराट् - इन चार अवस्थाओं तथा कूटस्थ, ब्रह्म, जीव और ईश - चित् की इस चतुर्विधा का आलोचन तथा सत्ता के प्रातिभासिक और व्यावहारिक रूप का उद्भासन - इन सबको सार्थकता आत्मा की कूटस्थता एवम् अद्वितीय ब्रह्म-बोध मे ही निहित है। इसी तरह 'तृप्तिदीप' का परोक्षापरोक्ष ब्रह्म-बोध, जीवात्मब्रह्मैक्य, अद्वैतीय मुक्ति तथा परमार्थसाक्षात्कर्ता का नित्यतृप्ति-लक्षण एवम् 'अष्टमप्रकरण' मे कूटस्थ की अमायिकता', जीवेश्वरत्व का मायात्व और इनके साथ सम्पूर्ण जगत् के वैतथ्य आदि का चित्रण - ये सब अद्वैतीय परमार्थ के ही पोषक हैं। नवम् प्रकरण (नाटकदीप) का अपरोक्ष ज्ञान, निर्गुणोपासना तथा दशमप्रकरण (नाटकदीप) के अद्वयानन्दात्मक मोक्ष, कूटस्थ/साक्षी तत्त्व का दीपवत् प्रकाशशीलत्व एवं द्वैतोपशमनान्तर आत्म-परमार्थ का ही अवशेष - इन सबसे सत्य के अद्वैत रूप को ही पुष्टि मिलती है। एकादश से पञ्चदश प्रकरणो मे, ब्रह्मानन्दादि त्रिविध आनन्द, ज्ञाता, ज्ञान तथा ज्ञेयरूप द्वैत से पृथक् अद्वैत तत्त्व का प्रतिष्ठापन, अद्वैत मे ही वास्तविक सुखरूपता, द्वैत-प्राक् मात्र अद्वैत का

अस्तित्व, ब्रह्मज्ञान का परमानन्द रूप ब्रह्म मे अवस्थान, परमार्थ ब्रह्म मे ही विज्ञानन्दत्व का उद्गीरण तथा द्वैताभाव मे ब्रह्मानन्द का स्फुरण - एकादश प्रकरण के विवेचित विषय हैं। इनके साथ 'द्वादशप्रकरण' की आत्म सत्य की ही सर्वातिशायिनी प्रियास्पदता, त्रयोदश प्रकरण की शक्ति एवम् उसके कार्य की अनिर्वचनीयता, विवर्त की सैद्धान्तिकता, सच्चिदानन्द ब्रह्म सत् की ही सृष्टि के चेतना चेतन वस्तुओं मे व्याप्ति, चतुर्दश प्रकरण के आत्माद्वैतबोधानन्तर अन्य सभी वस्तुओं मे भोग्येच्छा-प्रशान्ति, कृतकृत्यता एवं प्राप्यप्राप्तित्व के लक्षण तथा पञ्चदशप्रकरण मे अखण्डरसात्मक ब्रह्मानन्द की विषयानन्दांशता, समस्त सुखों मे ब्रह्मसुख का ही प्रतिबिम्बन, सत्ता, चैतन्य तथा सुख ब्रह्म की प्रकृति एवम् उपाधि रहित प्रकाशरूप अद्वैतानन्द को भूमानन्द के रूप मे अभिधान - ये सारे निर्वचन रूप अद्वैतीय परमार्थ के ही पक्षधर हैं।

पञ्चदशी अपनी तात्त्विक मीमांसा की प्रस्तुति विभिन्न श्रुतियों के व्याख्या-द्वारा से करती है। ब्रह्म, आत्मा, जीव, ईश्वर, शक्ति, अविद्या, द्वैत, अद्वैत इन सबका रूप यहां उपनिषद्-श्रुतियों के द्वारा प्रस्फुटित होता है। आचार्य जीव, ईश्वर, माया, अविद्या तथा समस्त दृष्ट प्रपञ्च का तात्त्विक संश्रय एक मात्र ब्रह्म मे देखता है। यह न केवल आचार्य विद्यारण्य, प्रत्युत समग्र शाङ्कर वेदान्त का शास्त्रीय सिद्धान्त है। पञ्चदशी मे माया, अविद्या, शक्ति, जगत् एवं परसत्ता के मायिक तथा आविद्यक—ईश्वर, अन्तर्यामी, विराट्, सूत्रात्मा और चिदाभास प्रभृति व्यावहारिक / प्रतिभासिक-पदार्थों की प्रचुर समीक्षा है। एक जिज्ञासा उठती है कि, पञ्चदशीकार सृष्टि की अपेक्षा से सृष्टि-प्राक् सत् तत्त्व ब्रह्म मे एवं जीवात्मा की अपेक्षा से कूटस्थ चैतन्य मे सत्य दर्शन के पक्षपाती हैं। ऐसी स्थिति मे वे माया तथा अविद्या के चमत्कार से सत्तात्व आप्त किये हुये पदार्थों की अति विस्तार से चर्चा करना क्यों चाहते हैं? इसका कारण यह है कि, आचार्य उपनिषदों और अन्यत्र भी प्रतिपादित इनके स्वरूप का पर्यालोचन करके वास्तविकता को अनावृत करना चाहता है।[१] इसके द्वारा इनकी अतात्त्विकता का दृढ़ीकरण

---

१. आचार्य विद्यारण्य की सम्मति मे तत्त्व और अतत्त्व का निर्णय परमावश्यक है। विना इसके अज्ञान का विनाश नहीं होता। तत्त्व की अनिर्णीत स्थिति रूप भ्रम ही तो जगत् है।—द्रष्टक पं. द. - ८।५३

विद्यारण्य का प्रयोजन परिलक्षित होता है। पञ्चदशीकार इस बात का ध्यान भी दिलाते रहते हैं कि, अद्वैतानुभव के लिये द्वैत-मिथ्यात्व-भावना का स्थैर्य परमावश्यक है।

उपनिषदों का परम तत्त्व ब्रह्म पञ्चदशी का भी परमतत्त्व है। यह न केवल पञ्चदशी, अपितु समूची वेदान्तपरम्परा का सर्वश्रेष्ठ तत्त्व है। ब्रह्म का समौत्कृष्ट्य तथा उसका पूर्ण सत्यत्व अद्वैतीय मान्यता मे ही सन्निष्ठ है—इस बात पर आचार्य विद्यारण्य का आग्रह है। द्वैत के अभाव मे रहने वाला अद्वैत निम्नप्रकारक है—अचल, गम्भीर (अनवगाह्य), तेजस् एवं तमो रहित, व्याप्त, अव्याख्येय तथा अनभिव्यक्त।[१] इसी तरह अप्रमेयता[२], सर्वबाधाऽबाधता[३] और श्रुतितात्पर्यनिर्णायक षड् लिङ्गों द्वारा निर्णीत 'यतो वाचो निवर्तन्ते' प्रभृति औपनिषद परिपोषित असङ्गता[४]— ये स भी अद्वैत समर्थक लक्षणो मे मान्य हैं। पर इन निषेधात्मक लक्षणो के रहने के बावजूद अद्वैत शून्यत्व नहीं। पञ्चदशी शून्यता का दर्शन अद्वैत परमार्थ के वजाय द्वैत मे करती है। चूंकि, सत् (अद्वैत) के अतिरिक्त द्वैत को उत्पन्न करने वाली शक्ति तथा तदुत्पन्न द्वैत-प्रपञ्च की कोई सत्ता स्थित नहीं होती, अतः इनका अस्तित्व शून्यवत् है।[५]

पञ्चदशी परमार्थ को एक देखने मे जितनी आस्थावती है, उतनी ही उसकी आस्था परमार्थ के भाव-दर्शन मे भी है। सत्, चिद् एवम् आनन्द को वह परमार्थ ब्रह्म का स्व-गत रूप मानती है।[६] ब्रह्म के ये रूप परमार्थतः अनौपाधिक रूप मे प्रकट होते हैं।

---

१. तदा स्तिमितगम्भीरं न तेजो न तमस्ततम्।
अनाख्यमनभिव्यक्तं सत्किञ्चिदवशिष्यते॥ (पं. द. – २।४०)
पददीपिका इसको निम्नानुसार व्याख्यायित करती है – 'स्तिमितं निश्चलं गम्भीरं दुखगाहं मनसा विषयीकर्तुमशक्यं, न तेजः तेजस्त्वानधिकरणं, न तमः तमसो विलक्षणम् अनावरण- स्वभावं, ततं व्याप्तम्, अनाख्यं व्याख्यातुमशक्यम्, चक्षुरादिभिरप्य–विषयीकृतं, सत् शून्यविलक्षणम्...' (वही, २।४४)

२. अप्रमेयमनादि चेत्यत्र श्रुत्येदमीरितम्। (पं. द. – ७।९५)

३. शक्येषु बाधितेष्वन्ते शिष्यते यत्तदेव तत्॥ (वही, ३।३०)

४. असङ्गं ब्रह्म मायावी सृजत्येष महेश्वरः॥ (वही, ६।१९५) 'षड्विधैर्लिङ्गैः श्रुति तात्पर्यावधारणे सति ब्रह्मासङ्गं मायावी सृजत्येष महेश्वरः।' (वही, ६।१९५ की पददीपिका)

५. द्रष्टव्य, वही – २।४९, ५१

६. सत्ता चितिः सुखं चेति स्वभावा ब्रह्मणस्त्रयः।
मृच्छिलादिषु सत्तैव व्यज्यते नेतरद्द्वयम्॥ (वही, १५।२०)

ऊपर वर्णित अचल आदि लक्षणो मे परमार्थ का जो रूप दृष्टि-गत होता है, वह प्रायः निषेधात्मक है। अतः सच्चिदानन्दात्मक भावात्मक लक्षण के साथ क्या इसकी अन्विति हो सकती है—यह प्रश्न उठता है। यह असन्दिग्ध है कि उपर्युक्त सत् के लक्षण निषेधपरक हैं। अस्तिमितता, अवगाहता, तेजस्तमोमयता, वाच्यता एवम् अभिव्यक्ति— ये द्वैत के लक्षण हैं। इनसे सत्य को पृथक् करने के लिये यह आवश्यक हो जाता है कि, उसमे इनका निषेध किया जाय। पर इनके निषेध का यह तात्पर्य नहीं लिया जाना चाहिये कि सत्य का अनिषेध्य रूप नहीं है। पञ्चदशी के द्वितीय प्रकरण की चालीसवीं कारिका मे स्तिमितता तथा गम्भीरता आदि के द्वारा सत्य के नञात्मक लक्षणो मे व्याप्त ततम् शब्द का भी प्रयोग हुआ है। व्याप्ति को हम निषेधपरक नही मान सकते। व्याप्त वही होगा, जिसका कोई भाव-परक रूप हो। परमार्थ मे अङ्गीकृत अस्तित्व, चिति तथा आनन्द इसके अनिषेधात्मक लक्षण हैं। इन रूपों मे श्रुतियों ने इसे जाना है एवं मुक्तों द्वारा सत्यानुभूति भी इन्हीं रूपों मे होती है। इस प्रकार चूंकि, परमार्थ मे निषेधात्मकता का तात्पर्य उसमे अस्तित्व की भाव-शून्यता के वजाय, अपरमार्थीय विशेषों का राहित्य है, अतः सत्य मे निषेध लक्षणो के साथ सच्चिदानन्दत्व की अन्विति सम्भाव्य है।

पिछले अध्यायों मे प्रसङ्गानुसार इस बात की चर्चा की गयी है कि, मुक्ति का सच्चा रूप वह है, जिसमे जीवात्मा को 'सोऽहमस्मि' अथवा 'अहं ब्रह्मास्मि' रूप मे ब्रह्म-तत्त्व का अपरोक्ष साक्षात्कार होता है। यदि यह पृच्छा की जाय कि, जीव को अपरोक्ष साक्षात्कार (बोध) किस रूप मे होता है, तो इसका उत्तर होगा अद्वैत रूप मे। इस प्रकार अद्वैत वेदान्त की दार्शनिक यात्रा का अन्तिम पड़ाव इसी अद्वैत के प्रकाश मे ही विद्यमान है। सत्य की इस अन्तिम मञ्जिल तक पहुंचने हेतु जिज्ञासु को माया, अविद्या, ईश, जीव संसार की विविध मञ्जिलों का गुरू, शास्त्र, विवेक, उपासना, योग आदि के संवाहन द्वार से अतिक्रमण अपेक्षित होता है। जिज्ञासु पथिक इनविविध मञ्जिलों का आलोकन करता हुआ, जब इनके रूपग अयथार्थ मे दृढ़ आश्वस्त हो जाता है, तो परमार्थ की मञ्जिल उसे सुलभ हो जाती है।

यहां एक जिज्ञासा जन्म लेती है कि, सत्य तक पहुंचने के लिये माया, अविद्या, विश्व आदि का ज्ञान क्यों जरूरी है? वास्तविकता यह है

कि, माया आदि के सही रूप के बोध होने से ही संसारी जीव के परमार्थ-दर्शन का मार्ग प्रशस्त होता है। जीवात्मा इनके वास्तविक रूप को जानकर इनसे अनुराग नहीं करता। उसको इनके प्रति वितृष्णा जागृत हो जाती है। इस वितृष्णा से सत्याप्ति की अनुरक्ति उसमे उदित होती है। पञ्चदशी इस बात का सङ्केत कई जगह करती है कि, जीव मे संसारग पदार्थों के प्रति ज्यों-ज्यों मिथ्याभाव दृढ़ होता जाता है, त्यों-त्यों परमार्थ का साक्षात्कार उसे सुलभ होता जाता है। माया तथा इसके विकारों के प्रति असद्भाव का दार्ढ्यं परमार्थ-लब्धि की सशक्त भूमि है।[१] यहां यह भी ध्यातव्य है कि, जिस प्रकार माया एवम् इसके कार्यों की असत्ता को सत्य का रूप स्फुट होता है, उसी प्रकार सत्य-दर्शन की दृढ़ता से माया और तज्जात वस्तुओं का मिथ्यात्व भी दृढ़ होता है। जिस तरह जगे हुये व्यक्ति को स्वप्न मिथ्या दिखलाई पड़ता है, उसी तरह ब्रह्म ज्ञानी को माया की सब रचना असत् दृष्टि-गत होती है।[२] अतएव माया, अविद्या आदि अपरमार्थीय वस्तुओं के वास्तविक बोध की परमार्थावबोध मे महत्ता सिद्ध होती है।

इस प्रकार पञ्चदशी के परमार्थ को जब हम समग्रता के परिप्रेक्ष्य मे देखते हैं, तो पाते हैं कि पञ्चदशी अपने परमार्थ को द्वैत से पूर्णतः दूर रखना चाहती है। इसकी संदृष्टि मे द्वैत ही अद्वैत-दर्शन का बाधक है। चूंकि द्वैत के मूल में अविद्या है, माया है। माया/अविद्या सत्य को अनावृत नहीं होने देती। पञ्चदशी की पूरी दार्शनिक मीमांसा इस हेतु समर्पित है कि किस प्रकार से असत् द्वैत का सद्द्वैत से विवेक हो सकता है।

पञ्चदशी निर्माता स्वकीय परमार्थ-प्रतिष्ठापन मे युक्ति, श्रुति तथा पूर्ववर्ती आचार्यों की मान्यताओं को समेटते हुये सिद्धान्ततः तीन बातों को प्रतिष्ठा देते है—

१. द्वैत की अवास्तविकता
२. मात्र अद्वैत का सत्यत्व एवं
३. सदद्वैत की भावरूपता।

---

१. द्वैतावज्ञा सुस्थिता चेद्वर्धते धीः स्थिराभवेत्। (पं. द. - २।१०२)
२. अद्वितीयब्रह्मतत्त्वे स्वप्नोऽयमखिलं जगत्। (वही, ६।२११)

(१) द्वैत की अवास्तविकता –

हम यह जानते ही हैं कि, शाङ्करवेदान्त परम्परा मे द्वैत सृष्टि को असत् स्वीकार किया गया है। पञ्चदशी भी इस स्वीकृति का सम्पोषण करती है। प्रश्न उत्थित होता है कि, शाङ्कर दर्शन भले ही द्वैत-सर्जन को असत्तात्मक मानता है। पर इसके अतिरिक्त वेदान्त के ही अन्य मत द्वैत को सत् प्रकृति की विकृति अथवा परेश की माया शक्ति का कार्य मानकर इसमें वैतथ्याभाव देखते हैं। इनके साथ ही सांख्य-योग, पूर्वमीमांसा एवं न्यायवैशेषिक प्रभृति वेदाश्रयी दर्शन भी सृष्टि के मिथ्यात्व मे आनास्था रखते हैं। जिस तरह अद्वैतवेदान्ती श्रुतियों के साक्ष एवं युक्तियों के सङ्ग्रहण से अपने पक्ष का प्रस्थापन करते हैं, वैसे ही द्वैतवादी भी तर्क तथा श्रौत वाक्यों द्वारा अपने सिद्धान्त को परिपोष देते हैं। पञ्चदशी पूर्ववर्ती आचार्यों की बातों को पुष्ट करती हुयी द्वैत प्रपञ्चके मिथ्यात्व का कारण यह निश्चित करती है कि, यह सादि और सान्त है। अविर्भाव एवं तिरोभाव से इसका अस्तित्व जुड़ा हुआ है। ऐसी वस्तु जो आदिमय तथा अन्तवान् होती है, वह सत्यार्हता नहीं रखती। वह सत्यता क्या ? जिसमे त्रैकालिक सत्तात्व नहीं। सृष्टि एवम् इसके हेतु को सत् का स्तर देने वाले दर्शन सम्प्रदाय परमात्मा के अन्तर्लक्षण से इनको संयुक्त करके इन्हें अवास्तविक नहीं मानते। किन्तु यदि संसार की वस्तुओं के स्वरूप गत याथार्थ्य पर दृष्टि-पात किया जाय, तो यह तथ्य सामने आता है कि, वैश्व वस्तुयें उत्पन्न होती हैं, उनमे परिवर्तन होता है और एक समय विनाश को प्राप्त हो जाती हैं। इस प्रकार हम वैश्व पदार्थों की सत्ता को भले ही रज्जु मे अहि-भ्रम अथवा वन्ध्यापुत्र की भांति अस्तित्व हीन न स्वीकार करें, परन्तु उत्पत्तिशील एवं नश्वरधर्मी इनको अङ्गीकार करना ही होगा।

इसके बावजूद यदि इस प्रकार का संशय उठाया जाय कि, जो विश्व पता नहीं कब से आविर्भूत होकर प्रत्यक्ष का विषय बना हुआ है, जिसको अद्वैतवेदान्त भी अनादि अविवेक का परिणाम मानता है, जिसके अज्ञातकालिक रूप को देखकर अद्वैतेतर दार्शनिक मत (उत्पत्ति एवं विनाश के रहते हुये भी) इसको परमसत्ता से सम्बद्ध मानते हैं। – इसे असत्य कहा जाना क्या सच्चाई को झुठलाना नहीं है ? इस प्रकार का विचार क्या अद्वैत-मोह के अन्तर्गत स्वीकार्य नहीं है? इस सन्दर्भ मे वस्तुस्थिति यह है कि, जगत् के अस्तित्व को (जन्म-भङ्गप्रकृतिक होने पर भी) पूर्णतः

अस्वीकृत नहीं किया जा सकता। यही कारण था कि, शाङ्कर दार्शनिकों ने भी इसकी व्यावहारिक/प्रातिभामिक सत्ता को मान्यता दी। पर यह निर्विवाद है कि, अद्वैत चिन्तन को सत्य का जो रूप अभीष्ट है, वह जागतिक पदार्थों मे नहीं है। जहां तक अज्ञात-काल से इसके विद्यमान रहने की बात है, वह ठीक है। किन्तु यहां यह भी ध्यान मे रखना है कि, विश्व अनादि काल से एक जैसा ही नहीं है, अपितु उत्पत्ति, परिवर्तन एवं विनाश की परम्परा को समेटते हुये वैचित्र्य तथा वैविध्य के द्वार से यह अपना परिचय प्रस्तुत करता आ रहा है।

यहां पुनः संशीतिपरक यह बात रखी जा सकती है कि, यह ठीक नहीं कि सांसारिक पदार्थ अपरिवर्त्य एवं सततशील नहीं। उदा. के रूप में सूर्य, चन्द्रमा, आकाशमण्डल के अनेक ग्रह तथा आकाश आदि पता नहीं कितने समय से एक जैसे हैं और हमेशा रहने वाले हैं। परन्तु इन व्रस्तुओं के विष्रय मे इस प्रकार का अभिधान उपयुक्त नहीं, क्योंकि इनका अस्तित्व भले ही चिरकाल तक रहने वाला हो, पर अनन्त नहीं। इसी प्रकार इनमे होने वाले परिवर्तन का दर्शन हमे भले ही नहीं होता, किन्तु परिवर्तन भी होता रहता है।

ब्रह्म मे बहुत्व के इच्छाऽऽगम अथवा उसके ईक्षणात्मक सङ्कल्प—को श्रुतियां द्वैतोद्भव का मूल मानती हैं। प्रश्न उठता है कि ब्रह्म चूंकि, समस्त ईक्षाओं से परे है। अतः उसमे सर्जनेच्छा कैसे उठ सकती है? वस्तुतः यह इच्छा उसमे तब जगती है, जब वह मायेश अथवा मायी के रूप मे जाना जाता है।[१] मायापति के नैकत्वाभिलाष को विस्तार माया के द्वारा ही मिलता है। माया अपनी अद्भुतता से मायी को ईश्वर एवं जीव रूप मे अभिव्यक्ति देकर विराट् से लेकर मोक्ष पर्यन्त सम्पूर्ण जगत् (जिसमे जाग्रगादि अवस्थायें, अन्नमयादि कोश तथा अन्य समस्त पदार्थ सम्मिलित है) के सृष्टि-सम्पादन मे समर्थ बनती है। ब्रह्म पर अधिष्ठित होने के

---

१. मायाधारी तत्त्व मे सृष्टि कर्तृत्व का सङ्केत श्वेताश्वेतरोपनिषद् (४।९) का यह वाक्य 'अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्।' और इसकी पुष्टि आचार्य विद्यारण्य भी 'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्' अपने इस उक्ति द्वारा करते हैं। वे इस प्रकार के तत्त्व मे ही ईक्षणात्मक सङ्कल्प का औचित्य मानते हुये, श्रुतियों के उल्लेख द्वार से इसका निर्वचन करते हैं — अवलोक्य, पञ्चदशी - ४।३ से ४।६ तक।

अनन्तर भी माया के ही कारण सांसारिक पदार्थों का अस्तित्व वितथता लिये हुये रहता है। इस तरह वैश्वपदार्थों की भांति इनकी प्रतीत्यात्मक-हेतु माया का रूप स्वयमेव असत् सिद्ध होता है। इस प्रकार यदि जागतिक नश्वरता अथवा असत्यता को देखकर जगत् की आभिव्यक्त हेतु माया को असत् माना जाता है, तो अद्वैत चिन्तन की द्वैत-मिथ्यात्व-स्थापना अयुक्ति-युक्त प्रतीत नहीं होती। पञ्चदशी–'विवेके सति जीवेन हेयो बन्धः स्फुटी भवेत्' (पं. द. - ४।१) का अनुष्ठान लेकर अपनी पूरी प्राकरणिक मीमांसा मे द्वैत के अयाथार्थ्य को उमीलित करती है।

२. मात्र अद्वैत का सत्यत्व –

जब सारा द्वैत मायोत्पाद्य होने के प्रतिफलस्वरूप सच्चाई का रूप नहीं ले पाता, तब जो इससे पर है तथा जिसकी सत्ता द्वैताभिव्यक्ति के पूर्व से है और द्वैत के तिरोभाव के बाद भी बनी रहती है एवं जिसको उपनिषद् 'सदेव सौम्येदमग्र आसीदेकमे वाद्वितीयम्' (छा. ६।२।१) के रूप मे परिनिष्ठा देती है, उस अद्वैत की ही सत्यता प्रमाणित होती है। यही वास्तविक तत्त्व भी है।[१] यदि यहां यह शङ्का की जाय कि, अद्वैत द्वैत के प्राक् तथा पश्चात् भले ही रहता हो, पर मध्य मे तो द्वैत की ही सत्ता दृष्टि-पथ मे आती है। किन्तु इस प्रकार की शङ्का इसलिये तथ्य शून्य मान्य है, क्योंकि मध्य मे भी अद्वैत ही अस्तित्ववान् रहता है। द्वैतावरण हटते ही इसके अस्तित्व का बोध होने लगता है। पञ्चदशी ने तत्त्वविवेक, पञ्चमहाभूत, पञ्चकोश एवं द्वैत आदि प्रकरणो मे द्वैत से विविक्त अद्वैत रूप के प्रति जिज्ञासुओं का ध्यान आकृष्ट किया है। इसका स्पष्ट मत यह है कि, द्वैत की असत्यता-वश, ईश्वर से लेकर महाभूतों तथा इनसे विकसित सम्पूर्ण प्रपञ्च के प्रति जिज्ञासु मे जब एक वार मिथ्या-भाव दृढ़ हो जाता है एवम् ऐसी स्थिति मे अद्वैतसत्याकाराकारित बुद्धि के समुदय के परिणति रूप जिज्ञासु को च्युत होने की जो आशङ्का नहीं रह जाती[२], इसका कारण अद्वैत की सत्यता है।

---

१. आचार्य गौड़पाद सत्य का दर्शन अज्ञात अथवा द्वैत परता मे करते हैं –
एतत् तदुत्तमं सत्यं यत्र किञ्चिन्न जायते। (मा. का. - ४।७१)

२. भूतभौतिकमायानामसत्त्वेऽत्यन्तवासिते।
सद्वस्त्वद्वैतमित्येषा धीर्विपर्येति न क्वचित्॥ (पं.द. २/९८)

अद्वैत मात्र की परमार्थता अन्य रूपों मे भी द्रष्टव्य है। दुनिया की हर वस्तु साक्षि-भासित है। जो भी वस्तु साक्षि-भास्य होगी, वह सत्य नहीं हो सकती। द्वैत का साक्षी अद्वैत है, इसलिये द्वैत मिथ्या एवम् अद्वैत नित्य है।[१] वैश्व द्वैत (प्रायः) मूर्तात्मक है तथा इदम्' रूप है। मूर्त वस्तुओं के अपनयनानन्तर यथा अमूर्त आकाश मात्र बचता है, तद्वत् इदं रूप वाच्य विश्व के प्रबाधन के बाद सदद्वैत मात्र अवशिष्ट रह जाता है।[२] 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' मे ज्ञान सत् (ब्रह्म) का लक्षण माना गया है। पर जब यह ज्ञान उपाधिद्वार से द्वैत रूप मे व्यक्त होता है, तब यह सत्य का चिल्लक्षण नहीं रह जाता। इसीलिये पञ्चदशीकार ज्ञातृत्व, ज्ञान एवं ज्ञेय के औपाधिक त्रित्व को सत्य से पृथक् निरूपित करते हैं।[३] पञ्चदशी सारे दार्शनिकविवादों यथा- ईश्वर का नानारूपत्व, जगत् का सत्यासत्यत्व, जीव का एकत्वानेकत्व, माया का मिथ्याऽमिथ्यात्व, ईश्वर तथा जीव का भेदाभेदत्व - का कारण सत्य के वास्तविक (अद्वैत) रूप का अज्ञान बतलाती है।[४] अद्वैतसत्य के साक्षात्कारानन्तर इन सबका रूपगत विवाद (याथर्थ्य ज्ञान के कारण) स्वयमेव समाप्त हो जाता है। अद्वैत सत्य-लब्धि के अनन्तर चूंकि, द्वैत का अस्तित्व अपने आप असत् दिखने लगता है, इससे यह सिद्ध होता है कि, पारमार्थ्य मात्र अद्वैत मे ही है। तत्त्व के वास्तविक रूप के साक्षात्कार करने के बाद एक परिवर्तन यह भी हो जाता है कि, जीव जिस असत् द्वैत मे सत्य-भाव के कारण अनुरक्ति रखता था, उसके प्रति इसके चित्त मे अराग उत्पन्न हो जाता है।[५]

---

१. सत्यत्वं बाधराहित्यं जगद्बाधैकसाक्षिणः।
बाधः किं साक्षिको ब्रूहि न त्वसाक्षिक इष्यते। (वही, ३/२९)

२. इदं रूपं तु यद्यावत्यक्तुं शक्यतेऽखिलम्।
अशक्यो ह्यनिदं रूपः स आत्मा बाधवर्जितः॥ (वही, ३/३३)

३. त्रयाभावे तुनिर्द्वैतः पूर्ण एवानुभूयते।
समाधिसुप्तिमूर्च्छासु पूर्णसृष्टेः पुरा तथा। (वही, ११/१६)

४. (क) अद्वितीयं ब्रह्मतत्त्वमसङ्गं तन्नजानते।
जीवेशयोर्मायिकयोर्वृथैव कलहंययुः॥ (वही ६/२१४)
(ख) अद्वितीयब्रह्मतत्त्वं न जानन्ति यदातदा।
भ्रान्ता एवाखिलास्तेषां क्वमुक्तिः क्वेहवासुखम्॥ (वही, २१७)

५. सच्चिदानन्दरूपेऽस्मिन् पूर्णे ब्रह्मणि वीक्षिते।
स्वयमेवावजानाति नामरूपे शनैः शनैः॥ (पं.द. १३/८७)

(३) अद्वैत का भावरूपत्व :

यह सर्वमान्य है कि शाङ्कर परम्परा की दृष्टि मे परमार्थ अद्वयात्मक है, तर्क-बुद्ध्या विचार करने पर यह प्रतीत होता है कि, सार्ष्टिक-प्रपञ्च से पर तथा अमूर्त रूप जो वस्तु होगी, वह भाव रूप नहीं हो सकती, उसका रूप अभावात्मक होगा। जो वस्तु अभाव-रूप होगी, उसे शून्य भी कहा जाना अनुपयुक्त न होगा। यही कारण रहा कि शाङ्कर वेदान्त को प्रतिपक्षी मतों ने शून्यवाद का पोषक माना। आचार्य शाङ्कर को प्रच्छन्न बौद्ध की संज्ञा भी दी गयी।

पर सत्य को जगत् से सम्बद्ध हर वस्तु के पर रखने का अद्वैतवेदान्तियों का उद्देश्य इसे शून्य या भावशून्य रखना नहीं है, अपितु उत्पत्ति तथा विनाशादि की सीमाओं से उसे दूर रखना है। वह शून्य अथवा शून्यवत नहीं है, इसे व्यक्त करने के लिये अद्वैताचार्यों ने श्रुति मान्य सच्चिदानन्दत्व को उसका स्वलक्षण स्वीकार किया। शाङ्करवेदान्त का सशक्त अभिधान है कि चूंकि, द्वैतोपशमानन्तर सत्य का भावात्मक अनुभव होता है, अतः इसे अभावलक्षणक माने जाने का कोई प्रश्न उठता ही नहीं।

पञ्चदशी भी परमार्थ आत्मा/ब्रह्म का स्व-रूप सत् (त्रिकालास्तित्व) चिद् तथा आनन्द मानती है। प्रकाश-भी-चैतन्य रूप मे परमार्थ का रूप बनता है। चैतन्य सत्य सतत स्वयंप्रभ है। चिज्जयोति रूप ब्रह्म परमार्थ असीम तथा आनन्द रूप भी है।[1] सत्य इन्द्रियादि से उत्पन्न ज्ञान का विषय न होने पर भी स्वीय स्वयंज्योतिरूपता के कारण अपरोक्ष भी रहा करता है।[2] परमार्थ स्वकीय आनन्दरूपता के कारण अखण्डैकरसानन्द भी कहा गया। पञ्चदशी अपने त्रयोदश प्रकरण को पूर्ण करते समय लोगों को ऐसे ही परमार्थ मे विश्रान्ति प्राप्त करने का उपदेश देती है, जो

---

१. निरूपाधिब्रह्मतत्त्वे भासमाने स्वयंप्रभे।
अद्वैत त्रिपुटी नास्ति भूमानन्दोऽत उच्यते॥ (पं.द. १५/३३)

२. अवेधोऽप्यपरोक्षोऽतः स्वप्रकाशोभवत्ययम्।
सत्यं ज्ञानमनन्तं चेत्यस्तीह ब्रह्मलक्षणम्॥ (वही ३/२८)

सच्चिदानन्दात्मक अद्वैत है।[१] इसी तरह अन्तिमप्रकरण की पूर्णाप्ति के अवसर पर स्वयं प्रकाशलक्षण तथा अद्वैत परमार्थ मे अपार आनन्द का निर्वचन करती है। अपने इन अभिधानो द्वारा पञ्चदशी मानो दो तथ्यों की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करती है - एक तो यह कि अद्वैत परमार्थ अनन्त प्रकाश चैतन्य तथा सुख का निलय है और दूसरा यह कि जीव का सर्वश्रेष्ठ प्रकाश, सर्वोत्कृष्ट तथा पूर्ण ज्ञान और वास्तविक सुख की प्राप्ति मात्र इस प्रकार के सत्य के लाभ मे ही विद्यमान है। अतः हमे अद्वैत वेदान्ताभीष्ट परमार्थ-लाभ-हेतु तत्पर होना चाहिये।

---

१. एवं च निर्जगद् ब्रह्म सच्चिदानन्दलक्षणम्।
अद्वैतानन्द एतस्मिन् विश्रामयन्तु जनाश्चिरम्॥ (प. द. १३/१०४)

दशम : परिच्छेद

(क) अध्यास
(ख) आभास
(ग) प्रतिबिम्ब एवम्
(घ) अवच्छेद।

अध्यास : अद्वितीय तत्त्व से नानाधर्मी जगत् की उत्पत्ति (तत्त्व के भिन्नप्रकृतिक होने के कारण) वस्तुतः असम्भव है। किन्तु इसकी सम्भवता अध्यास के द्वारा कल्प्य है। 'अध्यास' शब्द अधिपूर्वक आस् धातु (क्षेपे ग्रहणे वा) से घञ् प्रत्यय करके निष्पन्न होता है। इसके अनुसार किसी वस्तु पर इससे विपरीत स्वभावक किसी अन्य वस्तु का आरोपण या ग्रहण अध्यास है। उदाहरण के रूप मे भास्कर की तेज रश्मियों से श्वेत रूप मे दिखाई पड़नेवाली सैकत-संहति को जल के रूप मे जाना जाना। इस उदाहण मे दिनकर की किरणों से सित दृष्टि-गोचर होने वाली सिकताओं पर नीर का आरोपण अथवा इनका अम्बु के रूप मे ज्ञान अध्यास है।

अद्वैताचार्यों ने अध्यास पर कई प्रकार से विचार किया है। भाष्यकार शङ्कर ने अपने शारीरक मे अध्यास का प्रथमतः अधो लक्षण किया -

'स्मृतिरूपः परत्र पूर्वदृष्टावभासः।'

एतदनुसारेण 'पूर्व मे दृष्ट किसी पदार्थ का अन्य स्थान उताहो पदार्थ मे स्मृतिरूप मे अवभासित होना अध्यास है।' यहीं आगे आचार्य शङ्कर अध्यास को इस प्रकार परिभाषित करते हैं - 'अध्यासो नामातस्मिंस्तद्बुद्धिः।'यह परिभाषा 'जो वस्तु जैसी नहीं है, उसको वैसा समझना' - अध्यास

का निज रूप निश्चित करती है। शारीरककारोक्त अध्यास के उभय लक्षण विशेषाविशेष रूप मे एक दूसरे से बद्ध हैं। जो पदार्थ जैसा नहीं है, उसका तद्रूप समझने मे, समझे जाने वाले पदार्थ का अनुभव अनुभविता को होना आवश्यक है। इस अनुभव के आधार पर वह जो वस्तु जिस रूप में नहीं है, उसको उस रूप मे मान बैठता है। उसके इस मानने मे स्मृति प्रभावी रहती है। सादृश्ययादि के कारण द्रष्टा को वस्तु-विशेष मे किसी अन्य वस्तु की स्मृति उत्पन्न हो जाती है और इस प्रकार उसे वस्तु विशेष दूसरी वस्तु के रूप मे दिखलाई पड़ने लगती है। यह भास स्मृति पर निर्भर रहता है, अतः इसे स्मृति-रूप कहा जाना समीचीन है। ब्रह्म तथा जगत् के प्रकरण मे ब्रह्म मात्र एक सत् पदार्थ है। पर उसके अतिरिक्त (जो असत् है, ऐसी) अन्य वस्तुओं की भी प्रतीति होती है। ब्रह्म पर इन विविध वस्तुओं की प्रतीति का कारण अध्यास है। इसका लौकिक दृष्टान्त है - वक्र रूप मे पड़ी हुयी रस्सी की (मन्दालोक के कारण) सर्प के रूप मे प्रतीति। आचार्य शङ्कर इस वास्तविक रूप मे प्रतीत होनेवाले इस (भ्रम) को अनादि, अनन्त, नैसर्गिक एवं मिथ्या-प्रत्यय-रूप प्रतिपादित करते हैं।[१]

शाङ्करोत्तरवर्ती आचार्यों ने भाष्यकार के द्वारा प्रतिष्ठापित अध्यास के रूप को अपनी प्रातिभा विशेषताओं के साथ गम्भीरता-पूर्वक व्याख्यायित किया है। शङ्कर द्वारा आलोचित अस्मद्-युष्मद्-प्रत्यय के ऐक्य का आभास, अध्यास की नैसर्गिकता, मिथ्याप्रत्ययत्व, स्मृतिरूपता तथा परत्र पूर्वदृष्टावभास प्रभृति विषय आनन्तरकालिक अद्वैताचार्यों के मीमांस्य रहे हैं।

पञ्चदशी-रचनाकार यद्यपि अध्यास को स्पष्टतः कहीं परिभाषित करते हुये नहीं दिखते। किन्तु जीव-कूटस्थ, ईश्वर-ब्रह्म एवं ब्रह्म से उत्पाद्यमान प्रपञ्च तथा जीव की अनेकता के विवेचन प्रसङ्गों मे दृष्टान्तों के साथ इसका उल्लेख करते हैं। अध्यास के नाम से नहीं, परन्तु विपरीत भावना के रूप मे पञ्चदशीकार इसका लक्षण भी देते हैं, यथा-

'यद्यथा वर्तते तस्य तत्त्वं हित्वाऽन्यथा धीः। विपरीतभावना......।[२]' अर्थात् जो जैसा है, उसके उस रूप को छोड़कर उसमे अन्य प्रकार की

---

१. एवमयमनादिरनन्तो नैसर्गिकोऽध्यासो मिथ्याप्रत्ययरूपः।

२. अवलोक्य पं.द. ७/११०

बुद्धि का होना विपरीत भावना है। उदाहरण के रूप मे रज्जु अथवा शुक्ति मे उसके रज्जुत्व या शुक्तितत्व का त्याग करके अहि अथवा रजत-भाव का संस्थापित कर लेना। आत्मा तथा जगत् के प्रकरण मे भी यह बुद्धि-विपर्यय द्रष्टव्य है। आत्म-तत्त्व बुद्धि, मन, शरीरादि से भिन्न (सत्) पदार्थ है। जगत् इसके विपरीत मिथ्या-रूप है। परन्तु आत्मा को देहादियुक्त तथा जगती को सत् समझना यह विपरीत भावना है।[१] यतीन्द्र विद्यारण्य की यह विपरीत भावना आचार्य शाङ्कर का 'अतस्मिंस्तदबुद्धिः' लक्षणी अध्यास है।

पञ्चदशी मे अध्यास विक्षेपाध्यास, अन्योन्याध्यास एवं तादात्म्याध्यास रूप मे उल्लिखित हुआ है। प्रथमतः विक्षेपाध्यास क्या है, इस पर दृष्टि-पात किया जाय। अविद्या के आवरण तथा विक्षप शक्ति-द्वय[२] मे अविद्या से आवृत कूटस्थचिति मे स्थूल तथा सूक्ष्म शरीर से सम्पृक्त चिदाभास का आरोप विक्षेपाध्यास है।[३] अविद्या कूटस्थ तत्त्व पर इसका आरोपण आवरण के पश्चात् करती है। विक्षेप का तात्पर्य है - 'किसी वस्तु मे (उसकी प्रकृति से भिन्न) अन्य वस्तु का प्रत्यारोपण या उद्भावन।' लौकिक दृष्ट्या यथा शुक्ति मे रजत का आरोपण हो जाने पर द्रष्टा को सीपी मे चांदी का दर्शन होता है, तद्वत् अविद्या द्वारा चिदाभास के अध्यस्त होने पर कूटस्थ चिदाभास के रूप मे (ही) देखा जाता है। विक्षेपावस्था मे शुक्ति की इदन्ता (यह रूपता) तथा सत्यत्व जिस प्रकार अज्ञानज रजत मे दृष्टि-गोचर होता है, तथैव कूटस्थ तत्त्व का आत्मत्व, उसका वस्तुत्व देह-युक्त चैतन्य अर्थात् जीव मे दिखलाई पड़ता है। यथा चांदी के रूप मे दिखने वाली सीपी का पृष्ठवर्णी श्यामत्व तथा त्रिकोणत्व छिपा रहता है, तथा कायापृक्त चिति के रूप मे दृष्टि-गम्य जीव मे कूटस्थ की असङ्गता और अनादित्व तिरोहित रहा करता है।[४]

---

१. आत्मा देहादिभिन्नोऽयं मिथ्या चेदं जगत्तयोः।
देहाद्यात्मत्वसत्यत्वधीर्विपर्ययभावना॥ वही, ७/१११

२. विक्षेपावृत्तिरूपाभ्यां द्विधाऽविद्या व्यवस्थिता। वही, ६/२६

३. अविद्यावृतकूटस्थे देहद्वययुता चितिः।
शुक्तौ रूप्यवदध्यस्ता विक्षेपाध्यास एव हि॥ वही, ६/३३

४. अवलोक्य पं.द. ७/११०

'अहं' मे प्रतिभासमान चैतन्य अर्थात् अहन्तामय चिदाभास तथा इससे भिन्न कूटस्थ चिति मे भिन्नता है। जड़धर्मी अंहङ्कार एवं चेतनधर्मी कूटस्थ मे अविद्या के फलस्वरूप भेद का ज्ञान न होने से अभेद दिखलाई पड़ता है। इनकी यह अभिन्नता तादात्म्याध्यास का परिणाम है। यह शुक्ति-रजत के भ्रम स्थल मे 'इदम्' तथा रजत् के अभेद की भांति है, जो भिन्न होकर भी तादात्म्याध्यास के कारण एक प्रतीत होते हैं।[१] इस अध्यास के निरास के लिये आचार्य विद्योपार्जन की सलाह देता है। विद्या से अविद्या-कृत मिथ्या तादात्म्य समाप्त हो जाता है।[२] तादात्म्याध्यास के कारण (अर्थात् चिदात्मा तथा अहङ्कार के ऐक्य प्रतीति-वश) 'यह मेरा है' प्रभृति इच्छायें आत्मा मे उत्पन्न हुयी दिखती हैं। ये इच्छायें ही काम हैं। अहङ्कार तथा आत्म-चैतन्य की अनन्यतरता (अर्थात् ऐक्याध्यास) को 'ग्रन्थि' शब्द द्वारा भी अभिहित किया जाता है। तत्त्वज्ञान के द्वारा इस तादात्म्य की निवृत्ति के साथ यह ग्रन्थि समाप्त हो जाती है। ग्रन्थि-उच्छेद के बाद प्रारब्धकर्म-वशात् कर्मों को भोगता हुआ भी जीव बन्ध को आप्त नहीं करता।[३]

असङ्ग चित्त् कूटस्थ आत्म तत्त्व तथा बुद्धिस्थ चिदाभास अन्योन्याध्यास से अपने धर्मों को एक दूसरे के ऊपर आरोपित करके परस्पर अभिन्न दिखलाई पड़ते हैं। अन्योन्याध्यास के भ्रम का अधिष्ठान कूटस्थ चिति रहा करती है। विद्यारण्य के अनुसार 'स वा अयं पुरूषः सर्वासुपुर्षुपुरिशयः' (बृह. २/५/१८) श्रुति मे उक्त पुरूष अन्योन्याध्यस्त तत्त्व है। पृच्छा उत्पन्न होती है कि, जीव की अध्यस्तता मे कूटस्थ के अधिष्ठान की क्या आवश्यकता है? साथ ही विना आत्माधिष्ठान के क्या जीव का अस्तित्व सम्भव है? इन प्रश्नो का समाधान पञ्चदशी इस तरह करती है - जीव का अस्तित्व अध्यास की परिणति है। अध्यास बिना अधिष्ठान के सम्भव नहीं। अतः जीव के अस्तित्व हेतु, कूटस्थ की अधिष्ठानता अपेक्षित है।

---

१. अहन्तास्वत्वयोर्भेदे रूप्यतेदन्तयोरिव।
स्पष्टेऽपि मोहमापन्ना एकत्वं प्रतिपेदिरे॥ (वही, ६।५१)

२. अविद्यावृत्तितादात्म्ये विद्ययैव विनश्यतः।
विक्षेपस्य स्वरूपं तु प्रारब्धक्षयमीक्षते॥ (वही, ५३)

३. इच्छंस्तु कोटिवस्तूनि न बाधो ग्रन्थि भेदतः॥ (वही, २६२)

इसके साथ ही जीव-चैतन्य का बन्धन तथा मोक्ष भी चैतन्याधिष्ठान के अभाव मे सम्भाव्य नहीं। अधिष्ठान सहित जीव बन्धन को प्राप्त होता है और अधिष्ठान पर अध्यस्त भ्रमांश के अपनयनानन्तर उसे मोक्ष का लाभ मिलता है।[१]

आचार्य विद्यारण्य जीव एवं कूटस्थ तत्त्व के बीच अन्योन्याध्यास को इस तरह भी निरूपित करते हैं - कूटस्थ पर आरोपित बुद्धि मे पड़ने वाला कूटस्थ चिति का प्रतिबिम्ब प्राण तथा गात्रादि धारण करके जीव के रूप मे संज्ञित होता है। जीव मे कूटस्थ की तथा कूटस्थ मे जीव की प्रतीति ठीक उसी तरह बलवती रहती है, जैसे शुक्ति-रजत-भ्रम-स्थल मे 'यह रजत है', इसके यह मे रजत की, रजत मे यह की प्रतीति सशक्त रहा करती है। जीव तथा कूटस्थ की अन्योन्याध्यास स्थिति मे (अपरोक्ष) कूटस्थ के रूप का तिरोधान रहता है, मात्र जीव प्रतीत होता है। यह स्थिति उसी प्रकार की है, जैसे जलाकाश से आच्छन्न होने पर घटाकाश का अस्तित्व छिपा रहता है। केवल नीराकाश की ही प्रतीति हुआ करती है।[२] सीपी और रजत के दृष्टान्त मे रजत के आरोपित होने पर सीपी का अस्तित्व अदृष्ट रहता है, आरोपित रजत ही दृष्टि-गम्य रहा करता है।

जीव और कूटस्थ की भांति ईश्वर एवं ब्रह्म मे भी अन्योन्याध्यास के कारण एकरूपता परिलक्षित होती है। सच्चिदानन्द ब्रह्म अपने वास्तविक रूप से पञ्चमहाभूतों तथा इनसे विकसित विश्व का कारण नहीं बन सकता। अतः मायाबिम्बित चिदाभास अर्थात् ईश्वर (जिसे मायी भी कहा गया है) एवं मायातीत ब्रह्म के अन्योन्याध्यास से अर्थात् मायाबिम्बित चैतन्याभास (ईश्वर) का ब्रह्म मे और ब्रह्म का ईश्वर मे अन्योन्याध्यास होने पर जिस परमेश्वर की सत्ता प्रतीत होती है, वह सर्वज्ञादि विशेषों से विशिष्ट एवं जगत्-प्रपञ्च की उत्पत्ति का उपादान और निमित्त बनता है। श्रुतियों तथा अद्वैताचार्यों की स्थापनाओं मे ऐसी विशेषता वली सत्ता को ही विष्टप का हेतु कहा गया है। इसे परमात्मा शब्द के द्वारा भी अभिहित किया गया है।

---

१. भ्रमांशस्य तिरस्कारादधिष्ठानप्रधानता।
यदा तदा चिदात्माहमसङ्गोऽस्मीतिबुध्यते॥ पं.द. ७/८

२. जलव्योम्ना घटाकाशो यथा सर्वस्तिरोहितः।
तथा जीवेन कूटस्थः सोऽन्योन्याध्यास उच्यते। वही, ६/२४

पञ्चदशी अन्योन्याध्यास से आविर्भूत ब्रह्म एवम् ईश के अभेद को तण्डुल के माण्ड से अलिप्त तथा लिप्त पट्ट के सदृश बतलाती है। यह अनितरता मेघाकाश और महाकाश के ऐक्य के समान भी स्वीकार्य है। ब्रह्म आकाश (महाकाश) के सदृश निरूपाधिक है, जबकि ईश्वर माया रूप मेघोपाधि से उपहित है। अतः इनकी अनन्यता अध्यासज अविवेक के कारण दृष्टि मे आती है, अन्यथा तत्त्वतः ये एक दूसरे से अभिन्न हैं।

अद्वैतवेदान्त मे अध्यारोपापवाद मिथ्याज्ञान रूप अध्यास को समाप्त करने की एक सशक्त वैज्ञानिक पद्धति मानी जा सकती है। वस्तु मे अवस्तु का आरोप अध्यारोप है।[1] वस्तु से अवस्तु के भ्रम का हट जाना और उसका वस्तु-रूप मे बोध -अपवाद है।[2] गुरू के पास आत्मबोधार्थ जब अधिकारी प्रमाता जाता है, तो गुरू आदि मे मन, इन्द्रिय, बुद्धि, वर्ष्म - सबको आत्मा के रूप मे उपदिष्ट करता है। उसको जब वह विदित हो जाता है कि, अर्ह शिष्य के चित्त मे सबको आत्मा स्वीकार करने का भाव दृढ़ हो गया है, तो वह शरीर, मन, अहङ्कार आदि के अनात्मभाव को प्रतिपादित करते हुये आत्मा के सच्चे रूप का उपदेश शिष्य को देता है। देह की, मन की धी की - इस तरह (संसार के) अन्य सब की अनात्मकता का आख्यान करके आत्मा के सच्चित् स्वरूप का ज्ञान अपवाद है।

पञ्चदशी के विवेक प्रकरणो - तत्त्वविवेक मे संवित् के वास्तविक रूप की उद्दीप्ति, पञ्चभूत विवेक मे पञ्चभूतों की अपारमार्थिकता, मात्र अद्वैत की सत्यता, पञ्चकोश मे पञ्चकोशों का असत्यत्व, आत्मा की ही वास्तविकता तथा द्वैत-विवेक मे माया-अविद्या के संयोग से ईश्वरं एवं जीव द्वारा उत्पादित वैष्टप के मिथ्यात्व द्वार से अद्वैत मात्र के अमिथ्यात्व मे सत्यरूपावबोधार्थ अध्यारोपापवाद विधि का दर्शन किया जा सकता है।

उपनिषदों मे भी अध्यारोप और अपवाद की रीति से तत्त्वोपदेश

---

१. 'वस्तुन्यवस्त्वारोपोऽध्यारोपः।'
वेदान्तसार - महाप्रपञ्चनिरूपणम्।

२. 'अपवादो नाम रज्जुविवर्तस्य सर्पस्य रज्जुमात्रत्ववद्वस्तुविवर्तस्यावस्तुनोऽज्ञानादेः प्रपञ्चस्य वस्तुमात्रत्वम्।' वही अपवादः।

अवलोक्य है। पञ्चदशी ऐतरेयोपनिषद् के मन्त्रों मे अध्यारोप तथा अपवाद का दर्शन निम्नानुसार करती है - उपनिषद् 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीन्नान्यत्किञ्चनमिषत्' (ऐत. १/१/१) द्वारा ब्रह्म के पारमार्थिक लक्षण का सङ्केत करती है। 'स ईक्षत् लोकानुसृजा इति' (वही ४/१/२) को उपक्रमित करती हुयी 'तस्य त्रय अवस्थास्त्रयः.... (वही ४/३/१२) मन्त्र द्वारा परमात्मा मे जगत् के अध्यारोप का निर्वचन करती है। यहीं 'स जातो भूतान्यभिव्यैक्षत किमिहान्यं वावदिषत् (वही ४/३/१२) से अध्यारोप के अपवाद का अभिधान करके 'स एतमेव पुरूषं ब्रह्म ततमपश्यदिदमदर्शमिति' (यही ४/३/१२) द्वारा जीव-तत्त्व के ब्रह्मत्व का उपदेश किया जाता है।[1]

आभास :

जीव एवम् ईश्वर, जो जागतिक अस्तित्व के उद्भावक एवं विस्तारक हैं, इनकी सत्तात्मक अभिव्यक्ति के लिये अद्वैतवेदान्त आभास अथवा प्रतिबिम्ब (सिद्धान्त) का आश्रय लेता है। अनेक प्रकार के पूर्वपक्षीय दोषोद्भावन के अनन्तर भी अद्वैताचार्यों ने युक्तियों तथा उदाहरणों आदि के द्वारा इन्हें प्रतिष्ठा देने का प्रयास किया है।

आभास-वाद के समर्थन मे ब्रह्म-सूत्र के 'आभास एवच' (२/३/५०) के शाङ्कर भाष्य को उद्धृत किया जाता है, जिसमे जीव को सूर्य की प्रतिच्छाया के सन्निभ परात्मा का आभास उक्त है-

'आभास एव चैव जीवः परस्यात्मनो जलसूर्यकादिवत् प्रतिवक्तव्यः. ..... यथा नैकस्मिन् जलसूर्यके कम्पमाने जलसूर्यकान्तरं कम्पते, एवं नैकस्मिन् जीवे कर्मफलसम्बन्धिनि जीवान्तरस्य तत्सम्बन्धः।' (ब्र.सू.शां.भा. २/३/५०) आचार्य शाङ्कर ने जीव के इस आभास को अविद्या-जन्य बतलाया है।

भाष्यकार शङ्कर के बाद इनके अन्य अनुयायियों ने भी आभास की चर्चा की है। सुरेश्वराचार्य ने बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिक मे[2] आभास को आलोकित करते हुये दर्पण मे दृष्ट मुख को मुखाभास कहा है। वार्तिककार के अनुसार जिस तरह दर्पण मे स्थित मुखाभास ग्रीवास्थास्य से भिन्न रहता है, उसी प्रकार आत्मतत्त्व से आभासमय जीव का पार्थक्य है। मुकुर मे दिखलाई पड़ने वाला मुखाभास वस्तुतः मिथ्या है। मुखाभासवत्

---

१. द्रष्टव्य - पञ्चदशी ७/६८ एवम् इसकी पददीपिका।

२. द्रष्टव्य १/४/६०८

अविद्याऽऽभास जीव मृषात्मक है। यथा स्फटिक मे जपाकुसुम की अरूणिमा आभासित होती है, पर वह स्फटिक के परमार्थ से इतर है, तथा अविद्यो-पाधिविशिष्ट चिति का आभास जीव का जीवत्व है। यहां उपाधि और जीव दोनो मिथ्या हैं, सत्य है, मात्र चैतन्य। आचार्य सुरेश्वर कारण तथा कार्य के रूप मे आभास का आख्यान करते हैं। ये हैं- कारणाभास एवं कार्याभास।[१] कारणाभास अज्ञानगत होता है और कार्याभास अज्ञानज वस्तुज रहा करता है। कारणाभास का उपादान चैतन्य तथा कार्याभास का उपादान अविद्या है। कारण एवं कार्य के आभास मे प्रतीतिगत अवस्था का भैन्न है। ये पूर्वपर की प्रतीतियां हैं। एक ही चैतन्याभास अविद्या तथा अविद्योत्पन्न सांसारिक पदार्थों - दोनो को व्याप्त करके अपनी उभयात्मक प्रतीति का हेतु सिद्ध होता है।

प्रतिबिम्ब :

आभास के सदृक्ष शाङ्कर परम्परा मे प्रतिबिम्बवाद को भी स्थान मिला। शङ्करोत्तर अद्वैतवेदान्तियों मे पद्मपद्माचार्य एवं प्रकाशात्ममुनि इसके विशेष पक्षधर दृष्टि-गत होते हैं।

ब्र.सू. २/३/४६ तथा 'अतएव चोपमा सूर्यकादिवत्' (ब्र.सू. ३/२/१८) सूत्रों के भाष्यों मे प्रस्थानत्रयकार शङ्कर भी प्रतिबिम्ब का उल्लेख करते हैं।[२] इसके अनुसार जल मे प्रतिबिम्बित सूर्य के समान जीव ब्रह्म का रूप है। जल-गत अहस्करप्रतिबिम्ब जल के घटने बढ़ने पर वृद्धि और ह्रास को प्राप्त करता है। जल के चञ्चल होने पर इसमे भी चञ्चलता का दर्शन होता है। किन्तु नीर-प्रतिबिम्बित सूर्य की क्रियाओं से (बिम्ब) आदित्य रञ्च मात्र भी प्रभावित नहीं होता। तात्पर्य यह कि, प्रतिबिम्बाप्त दिवाकर का हिलना अथवा कम्पित होना या इसकी ह्रासाह्रास की स्थिति

---

१. वही ४/३/१३२०

२. (क) 'यथा चाकाशो घटादिषु गच्छत्सु विभाव्यमानोऽपि न परमार्थतो गच्छति, यथा. ... सूर्यप्रतिबिम्बे- कम्पमानोऽपि न तद्वान् सूर्यः कम्पते, एवमविद्या प्रत्युपस्थापिते बुद्ध्याद्युपहितं जीवाख्येऽंशे दुःखायमानोऽपि न तद्वानीश्वरो दुःखायते।.... तस्मान्नास्ति जैवेन परमात्मनो दुःखित्वप्रसङ्गतः।' शां.भा. २/३/४६

(ख) 'यत एव चायमात्मा चैतन्यरूपो निर्विशेषो वाङ्मनसातीतः...... चास्योपाधिनिमित्तामपारमार्थिकी विशेषवत्तामभिप्रेत्य जलसूर्यकादिवदित्युपमोपादीयते मोक्षशास्त्रेषु।..... वही, ३/२/१८

केवल इसी तक सीमित रहती है। बिम्बधर्मी भानु इससे पूर्णतः अस्पृष्ट रहता है। अम्बरमणिवत् ब्रह्म (बिम्ब) भी माया/अविद्या मे प्रतिबिम्बित (विशिष्ट) रूपों के प्रभाव से अछूता रहता है। साथ ही इनके क्रिया-कलापों से ब्रह्म नितान्त दूर रहता है।

दर्पण मे प्रतिबिम्बित वदन मे जो लघुता आदि के दर्शन होते हैं, इसका कारण बिम्बात्मक वदन नहीं, प्रत्युत दर्पण होता है। मुकुरस्थ वक्त्र की भांति अविद्या-प्रतिबिम्बित चैतन्य मलिनता की लब्धि करते हुये जीवत्व का अभ्युपगम करता है।[१] पञ्चपादिकाकार ईश्वर को ब्रह्म की माया मे तथा जीव को अविधा मे प्रतिबिम्बन का परिंणाम स्वीकार करते हैं। इसके अतिरिक्त कतिपय आचार्यों ने अविद्या मे पड़नेवाली ब्रह्मीय प्रतियातना (प्रतिबिम्ब) को ईश एवम् अन्तःकरणो मे आगत इसी प्रतिच्छवि को जीव के रूप मे अङ्गीकार किया है। माया और अविद्या का उपाध्यात्मक प्रतिमान भी ईश्वर एवं जीव का लक्षण है, यथा – 'एकैव मूलप्रकृतिर्विक्षेपप्राधान्येन मायाशब्दितेश्वरोपाधिः आवरणप्राधान्येनाविद्याऽज्ञानशब्दिता जीवोपाधिः।'[२] इस प्रकार अद्वैताचार्यों ने प्रतिबिम्ब को अनेक रूपों मे उद्भावित करते हुये नयी सम्भावनाओं के साथ प्रस्तुत किया है।

आभास तथा प्रतिबिम्ब की मान्यता मे जीव और परमेश के मिथ्यात्व का दर्शन आभास मे किया गया। यह मिथ्यात्मकता अनिर्वचनीय है। अतएव आभासित सत्ताओं (ईश और जीव) को न तो सत् एवं न ही असत् कहा जा सकता है। मिथ्यात्व के ही कारण (कतिपय) आचार्यों ने ईश्वर तथा जीव (चिदाभास) के अस्तित्व को आभास की अपेक्षा प्रतिबिम्ब के माध्यम से व्यक्त करना अधिक उपयुक्त समझा। प्रतिबिम्ब वाद के समर्थक अद्वैतियों की दृष्टि मे प्रतिबिम्बवाद मे प्रतिबिम्बित पदार्थों का बिम्ब से अभेद दृष्टि-गत होता है। उदाहरण के रूप मे ऐनक मे दृष्टि-गोचर होनेवाला आनन वास्तविक आनन से पृथक् नहीं है। यदि यह इतर स्वीकार्य है, तो इसे अर्थात् मुकुर को आस्याकार मे परिणत हो जाना चाहिये। पर ऐसा होता नहीं। साथ ही मुकुट पर बिम्बमुख का कोई चिह्न भी नहीं बनता, क्योकि अगर आनन से दर्पण चिह्नित होता, तो बिम्ब वदन के दूर होने पर भी इसके

---

१. यथा पञ्चपादिका के प्र.वि. मे उक्त है ' ह्यविद्यायां प्रतिबिम्बितं चैतन्यं जीवसंज्ञा लभते।

२. द्रष्टव्य, सिद्धान्तलेश संग्रह पृ. ८४

चिह्न से दर्पण को अङ्कित होना चाहिये। परन्तु यह देखने में नहीं आता। इस प्रकार बिम्बमुख से भिन्न दर्पण-मुख की सत्ता सिद्ध नहीं होती। मुकुर मे विद्यमान लपित-प्रतिच्छविवत् जीव-चैतन्य का अस्तित्व ब्रह्म से अपृथक् मान्य है।[१] प्रतिबिम्बवाद मे जीव-सत्ता के विषय मे यह भी कहा जाता है, जिस तरह जल-पात्र मे दृष्टि-गोचर सूर्य अथवा चन्द्र, पात्र से जल दूर कर देने पर सूर्य या चन्द्र मे समाहित हो जाता है, इसी तरह माया के प्रादेशिक अज्ञानो मे प्रतिबिम्ब-रूप मे दिखाई पड़नेवाले जीव अज्ञान-नाश के अनन्तर जीवत्व का परित्याग करके ब्रह्ममय हो जाते हैं। प्रबिम्बितरूप मे अस्तित्व धारण करनेवाले जीव के अज्ञानमय बन्धन की निवृत्ति के विषय मे आचार्य पद्मपाद का उद्गीरण है कि, विद्या द्वारा जीव के अज्ञानात्मक बन्ध का निवर्तन नहीं होता, क्योंकि जीव स्वरूपतः मुक्त है ही। विद्या द्वारा बिम्ब की अनभिव्यक्ति के हेतु का अपनयन होता है। ऐसा होने पर बिम्ब व्यक्त होने लगता है और बिम्ब (ब्रह्म) की प्रतिबिम्बात्मक रूप मे व्यक्ति स्वयं समाप्त हो जाती है।[२]

प्रतिबिम्ब मे ईश्वर एवं जीव की प्रतिमानाभिव्यक्ति मे अद्वैताचार्यों मे मत-वैभिन्न है। किन्हीं की दृष्टि मे अज्ञानोपहित बिम्ब चैतन्य ईश्वर तथा अन्तःकरण और इसके संस्कार से आच्छन्नाज्ञान मे प्रतिबिम्बित जीव है। कतिपय आचार्यों की मति मे अज्ञान मे प्रतिकृति वाला चित् ईश तथा शेमुषी-प्रतिच्छायावाला चैतन्य जीव है। आचार्य वाचस्पतिमिश्र की सम्मति मे जीव अज्ञान का आश्रय-भूत चैतन्य है। पर ईश्वर अज्ञान का विषयीभूत चित् है। प्रतिबिम्ब तत्त्वों के लक्षण मे आंशिक भिन्नता के बावजूद प्रातिबिम्बिक सत्ता हेतु माया/अविद्या सबको अभीष्ट है। आभास एवं प्रतिबिम्ब-उभयत्र आचार्यों का उद्देश्य है, किस तरह जीव तथा ब्रह्म का ऐक्य प्रतिपादित हो। आभास मे यह एकता जहदहल्लक्षणा द्वारा, पर प्रतिबिम्ब

---

१. 'तदहङ्कर्तुरनिदमंशो बिम्बादिव प्रतिबिम्बं न ब्रह्मणो वस्त्वन्तरं, किन्तु तदेव तत्, पृथगवभासविपर्ययस्वरूपतामात्रमिथ्या-इति दर्शयितुम्।'

(पं.पा. पृ. १०४)

२. 'प्रतिबिम्बस्य बिम्बाधिष्ठानत्वात् विद्यया बन्धात् विमुक्तो न भवतीत्यविमुक्तः, सदा मुक्तः, परमात्मा।'

(वही, पृ. २१७)

मे अजहल्लक्षणा द्वारा संसिद्धय है।

आभास एवं प्रतिबिम्ब दोनों वादों मे अनेक पूर्वपक्षीय शङ्कायें उत्थित होती हैं। अद्वैताचार्यों ने यद्यपि उत्तरपक्ष के माध्यम से इन संशीतियों को निराकृत करने का प्रयास किया है, पुनरपि ये सन्देह इन मान्यताओं के प्रति अनास्था का कारण बनती हुयी दृष्टि-पथ मे आती है। आभास और प्रतिबिम्ब मे न्यूनताओं का अनुभव करते हुये आचार्यों द्वारा 'अवच्छेद-वाद' को भी महत्त्व दिया गया। अवच्छेदवाद की स्पष्ट झलक आचार्य गौड़पाद की माण्डूक्योपनिषद् की भाष्यात्मक कारिकाओं मे देखने को मिलती है। गौड़पाद 'अद्वैताख्य-प्रकरण' मे आत्मा को आकाश को सम और विकृति-शून्य बतलाते हुये, इसकी अखण्डता तथा अद्वितीयता का निर्वचन करते हैं। यथा आकाश निःसीम है, तादृक् आत्मा भी असीम है। घटाकाश, जलाकाश आदि जो आकाश को सीमित करते हुये अथवा इससे आविर्भूत दिखलाई पड़ते हैं - ये सब कल्पित हैं। गगन की तरह आत्म-तत्त्व के सन्दर्भ मे भी यही निर्दुष्ट सिद्धान्त है कि, इसके ऊपर आरोपित चिदाभास आदि को कल्पना का प्रसव माना जाय। अन्तःकरणादिकों के आच्छादन के कारण एक ही आत्मा विभिन्न नामरूपात्मक अनेकता को प्राप्त किये रहता है।[१] लोक मे कलशाम्बर, मठाम्बर तथा कक्षाम्बर आदि महाडम्बर से तभी तक, पार्थक्य धारण किये रहते हैं, जब तक ये कलशादि के द्वार से व्यक्त होते रहते हैं। कलश इत्यादि के नाश होने के बाद ये सब महदम्बर रूप मे समाहित दिखलाई पड़ते हैं। अम्बर के सदृश बहुत से जीवों के रूप मे अस्तित्ववान् आत्मा भी गात्रादि अवच्छेदों से विरहित होने पर अद्वितीय अखण्ड रूप मे अनुभूत होता है।[२]

आचार्य शङ्कर के भाष्यों मे भी अवच्छेद समर्थक पङ्क्तियां अनेकशः विद्यमान हैं। इनके अनुसार आत्मा/ब्रह्म का कोई कारण नहीं है। अतः वह काल से अपरिच्छिन्न है। परिच्छेद का विषय बनने के लिये किसी भी वस्तु का कोई सजातीय, विजातीय अथवा स्वगत-भिन्न वस्तु

---

१. रूपकार्यसमाख्याश्च भिद्यन्ते तत्र तत्र वै।
आकाशस्य न भेदोऽस्ति तद्वज्जीवेषु निर्णयः॥ (मा.का. ३/६)

२. घटादिषु प्रलीनेषु घटाकाशादयो यथा।
आकाशे सम्प्रलीयन्ते तद्वज्जीवा इहात्मनि॥ (वही, ३/४)

का होना आवश्यक है। चूंकि, आत्मा से भिन्न कोई सजातीय आदि पदार्थ हैं नहीं, अतः यह समस्त परिच्छिन्नताओं से पर है।[१] देश, काल एवं वस्तु के परिच्छेद से युक्त, वस्तु किसी का कार्य होगी और अनित्य भी होगी।[२] चूंकि ब्रह्म मे परिच्छेद वैशिष्ट्य नहीं है। इसलिये वह नित्य है।

शङ्कर-पश्चात्वर्ती आचार्यों मे भी अवच्छेद सिद्धान्त को मान्यता प्राप्त है। शाङ्कर शारीरक के भाष्यकार वाचस्पति मिश्र जीव को न तो आत्मा से पृथक् और न ही उसका कार्य मानते हैं, बल्कि उसका ही स्वरूप स्वीकार करते हैं। आत्मा से अलग अवच्छिन्न रूप मे जीव की प्रतीति का कारण अविद्योपाधि है।[३]

आचार्य विद्यारण्य की तात्त्विकी प्रतिष्ठापना मे आभास, प्रतिबिम्ब तथा अवच्छेद वादत्रय सुलभ हैं। पञ्चदशी-प्रणेता ईश एवं जीव और इनसे सृष्ट जागतिक प्रपञ्च की सत्ता आभासात्मक बतलाते हैं। 'जीवेशाभासेन करोति माया चाविद्या च स्वयमेव भवति' (नृ.उ.ता.९)- श्रुति के इस अभिधान को समर्थित करते हुये विद्यारण्य माया एवम् अविद्या मे आभासित चैतन्य को ईश तथा जीव की संज्ञा देते हैं।[४] चूंकि, चैतन्य के माया एवम् अविद्या मे आभास के परिणति-रूप ईश्वर और जीव की सत्ता सिद्ध होती है, अतः इन्हें माया तथा अविद्या की कल्पना का परिणाम भी माना गया है। पञ्चदशीकार द्वारा निरूपित ईश-जीव का आभासगत रूप शाङ्कर परम्परा मे विशिष्ट प्रतीत होता है। इनके अनुसार आभासित ईश्वर के अस्तित्व मे ३ वस्तुयें विद्यमान हैं- अधिष्ठान (शुद्ध) चित्, माया एवम् माया मे भासमान चिदाभास। इसी तरह जीव की अभिव्यक्ति मे भी वस्तु-त्रय प्रभावी हैं। ये हैं -अधिष्ठान चिति, अविद्या और अविद्या मे पड़ा हुआ हुआ चिदाभास। जहां अद्वैत के अनेक आचार्य जीव को आत्मा का आभास मात्र मानकर, इसे मिथ्या बतलाते हैं, वहीं पञ्चदशी जीव की सत्ता को विशेष रूप मे प्रस्तुत करती हुयी इसके आभासज रूप को (केवल) असत्य स्थित करती

---

१. 'अस्यान्तः परिच्छेदा देशतः कालतो वस्तुतो वा न विद्यत इति।' (श्वे.शां.भा. १/९)

२. '.......देशपरिच्छिन्नं ...... सावयवमनित्यं कृतकं च स्यात्।' (मु.उप. शां. भा. ३/२/६)

३. 'न जीव आत्मनोऽन्यः, नापि तद्विकारः, किन्त्वात्मैवाविद्योपाधानकल्पितावच्छेदः।' (भामती १/४/२२)

४. अवलोकनीय - पं.द. ७/३ और ८/६०

है। पञ्चदशी की जीव-विषयिणी यह स्थापना जीव-मोक्ष की दृष्टि के अधिक तर्कसङ्गत दृष्टि-गत होती है। जीव के इस स्वरूप मे आभासिक जीवास्तित्व-हेतु चिदधिष्ठान होना परमापेक्ष्य है। इसके बिना अर्थात् चैतन्याधिष्ठान की रिक्तता मे चूंकि, जीव अस्थिर प्रकृतिक ही माना जा सकता है, अतः इसके मोक्ष की कल्पना नहीं की जा सकती।[१] मुक्ति-प्राप्ति-हेतु मुक्ति-लब्ध करनेवाले जीव का कुछ स्थायी स्वरूप होना चाहिये। स्वरूप का यह स्थैर्य आभासिक जीव को तभी मिल पाता है, जब वह चिदधिष्ठानमय हो। जीव स्वभासलक्षण मे अस्थिर तथा संसरणशील है। इस स्थिति मे वह मोक्ष का अधिकारी नहीं बन सकता। विद्यारण्य की इस मान्यता मे जीव के शाश्वत एवं प्रतीति-गत- उभय रूपों की एक साथ संस्थिति सिद्ध हो पाती है, जो आभास के विशेष प्रकार का उद्भासक है।

जीव के सन्निभ ईश्वर के अस्तित्व मे भी उपर्युक्त तीन वस्तुओं की एक साथ स्थापना द्वारा पञ्चदशी माया तथा इसमे पड़ने वाले चिदाभास को मिथ्या अवश्य मानती है, पर इसके द्वारा अधिष्ठान (जो ईश्वर का वास्तविक रूप है) की सत्यता ज्ञापित करना उसका अभिप्रेत है। असत् भ्रम के लिये सत् का आधार आवश्यक है। सीपी मे रजत अथवा रज्जु में अहि भ्रम तभी सम्भव हो पाता है, जब इन्हें सीपी या रज्जु का सदधिष्ठान मिला रहता है।

पञ्चदशी-निर्मितिकार चेतन तथा अचेतन - वैश्व के वास्तविक अधिष्ठान की अर्हता मात्र चैतन्य-तत्त्व मे अङ्गीकार करते हैं।[२] इनकी यह अङ्गीकृति तत्त्वतः मार्मिकता लिये हुये है। इसके अनुसार जहां असत् कल्पना के लिये सत्य का आधार अपेक्षित है, वहीं आधार-तत्त्व की व्यापकता तथा मात्र इसकी ही पारमार्थिकता का सिद्धान्त निर्दुष्ट है।

जीव के आभासिक लक्षण को यतीन्द्र विद्यारण्य भी पूर्ववर्ती आचार्यों की भांति भ्रमात्मक स्वीकार करते हैं।[३] शुद्ध आत्म-चित्ति पर जीव एवम् अन्य सांसारिक पदार्थों का आभासात्मक आरोप भ्रान्ति-जन्य है।[४] दर्पण

---

१. अधिष्ठानविमोक्षादौ जीवोऽधिक्रियते न तु।
केवलो निरधिष्ठानविभ्रान्तेः क्वाप्यसिद्धितः॥ (पं.द. ७/६)

२. जगद्भ्रमस्य सर्वस्य यदधिष्ठानमीरितम्।
त्रय्यन्तेषु तदत्र स्याद् ब्रह्म शब्दविवक्षितम्। (वही, ८/४९)

३. वही, ७/२१७

४. वही, ८/४६

मे दृष्ट मुखाभास मुख का अवास्तविक अथवा भ्रान्ति-परक रूप है। दृष्टान्त आस्याभास मे आस्य, ऐनक तथा आस्याभास-तीनो का प्रत्यक्ष अनुभव हम लोक मे करते हैं। दार्ष्टान्तिक आत्माभास मे भी आत्म-तत्त्व, अन्तःकरण एवम् आत्माभास की पुष्टि तर्क और आप्त-प्रमाण से होती है। 'रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव' (बृह. २/५/१९) वेदान्त-वाक्य आत्मा से चिदाभासों की उद्भूति का बोधक है। चिदाभास जाग्रत तथा स्वप्न मे उत्पन्न होने वाली भिन्न-भिन्न वृत्तियों मे व्याप्त रहता है। प्रश्न उठता है कि, चैतन्य से भासित अन्तःकरण की अहमादि वृत्तियां क्या दूसरे को भी भासित करने का सामर्थ्य रखती हैं? इसके उत्तर मे पञ्चदशी का कथन है कि, वृत्तियां तपते हुये लौह-पिण्ड के समान केवल स्व-स्व-रूप की भासक हैं।[१] ये दूसरों को भासित करने मे शक्त नहीं हैं। अन्तःकरण की वृत्तियों तथा इनकी विलीनावस्था - दोनो को अवभासित करनेवाला तत्त्व कूटस्थ है।[२] आत्मा चैतन्य शरीरेन्द्रियादि को दो रूपों मे प्रकाशित करता है - अविकृत कूटस्थ के रूप मे एवं बुद्धिस्थ चिदाभास के रूप मे। उसका यह भासन उसी प्रकार सम्भव है, जैसे नभीय सूर्य के भास से भासित भित्ति, दर्पण मे पड़ने वाले प्रकाश से भी प्रकाशित होती है। अनेक आदर्शो मे दृष्टि-गत होनेवाली (मण्डलाकारादि रूप को प्राप्त) कुड्डीय प्रभाओं तथा इनकी सन्धियों मे गगनीय भास्कर-प्रभा की अभिव्यक्ति होती रहती है, साथ ही यह सूर्य-आभा इनके साहित्य मे भी उपलब्ध रहा करती है। दिवाकर के इस प्रकाश की भांति कूटस्थ चिति चिदाभास-विशिष्ट अनेक बुद्धियों (बुद्धि-वृत्तियों) एवम् इनके अन्तरालों को भासित करती हुयी, इन वृत्तियों के अभाव सुषुप्ति इत्यादि को भी प्रकाशित करती रहती है। इस प्रकार दिवाकरीय दीप्ति के सदृश कूटस्थ चैतन्य बुद्ध्यादि मे भासित चैतन्य से अलग सत्तावान् है।[३]

यहां एक जिज्ञासा उठ सकती है कि, कूटस्थ चित् की आभासात्मक सत्ता (अर्थात् चैतन्याभास) भले ही अविद्यात्मक अन्तःकरण मे पड़ने वाले

---

१. स्वमात्रं भासयेत्तप्तं लौहं नान्यत् कदाचन।
एवमाभाससहिता वृत्तयः स्वस्वभासिकाः॥ (पं.द. ९/१९)

२. सन्धयोऽखिलवृत्तीनामभावाश्चावभासिताः।
निर्विकारेण येनासौ कूटस्थ इति चोच्यते॥ (वही, ८/२१)

३. वही, ८/२-३

चैतन्य के आभास से सत्ता धारण करती है, परन्तु चित्त् का प्रकाश होने के फलस्वरूप इसे कूटस्थ चैतन्य वत् अविकारी और सत् क्यों नहीं माना जा सकता? इसका समाधान पञ्चदशी के अनुसार इस प्रकार है- आभास से सत्ताधारी चैतन्य चूंकि, उत्पत्ति एवं विनाश धर्मा है, अतः इसे अविकृत एवं सत् की कोटि मे नहीं रखा जा सकता। सत् वही हो सकता है, जो इनसे पर इनके साक्षी रूप मे विद्यमान हो। यह वैशिष्ट्य कूटस्थ अथवा आत्म-चित्ति मे ही प्राप्त है।[1] आभास के रूप मे प्रतीयमान जीव उस वस्त्राभास के सदृश है, जो वस्तुतः वस्त्र न होकर भी वस्त्रवत् दिखलाई पड़ता है। आभासित वस्त्र मे जिस तरह नाना वर्णों की कल्पना सम्भव हो जाती है, तद्वत् जीव के मिथ्या रूप मे विविध प्रकार की वैश्व विशेषताओं का प्रकल्पन सम्भाव्य है। संसार का सम्बन्ध इसी जीव से है।

जिज्ञास्य है कि, जगत् मे स्थित मृत्तिका, काष्ठादि स्थावर पदार्थों मे पड़नेवाले चिदाभास क्या जीवत्व को प्राप्त कर सकते हैं, अथवा नहीं। इस प्रकरण मे पञ्चदशी का अभिधान है कि, चैतन्य का आभास अन्तःकरणादि से युक्त देह मे पड़ने पर ही जीवत्व सम्भव है, अन्यत्र जड़ वस्तुओं मे पड़ने से नहीं। यथा लोक मे चित्र मे दिखलाई पड़ने वाला शैल-इत्यादि का आभास वस्त्राभास नहीं बनता, तथा शरीरादि के अतिरिक्त वस्तुओं मे पतित होनेवाला चैतन्य-प्रकाश जीव-रूप नहीं धारण करता।[2] बुद्धि मे भासित चित् का आभास बुद्धि-रूप को आप्त कर लेता है, जिससे शेमुषी मे चिदाभास स्पष्टतः परिलक्षित होता रहता है।[3]

ब्रह्म-चैतन्य का माया से भास जिस ईश तथा जीव के अस्तित्व का ज्ञापक बनता है, वह मेघ एवं मेघस्थ जल (जल-बिन्दुओं) मे दृष्टि-गत होनेवाली आकाश की प्रतिच्छवि के समान है। अनन्त ब्रह्म का मेघ-माया

---

१. (क) द्विगुणीकृतचैतन्ये जन्मनाशानुभूतितः।
अकूटस्थं तदन्यत्तु कूटस्थमविकारतः॥ (पं.द. ८/२४)
(ख) वही, २५

२. चित्रस्थपर्वतादीनां वस्त्राभासो न लिख्यते।
सृष्टिस्थमृत्तिकादीनां चिदाभासस्तथा नहिं॥ (वही, ६/९)

३. साभासमेव तद्बीजं धीरूपेण प्ररोहति।
अतो बुद्धौ चिदाभासो विस्पष्टं प्रतिभासते॥ (वही, १५४)

मे अवभासन ईश्वर और जलकण-बुद्धि संस्कारों मे इसका भास जीवों की सत्ता का व्यञ्जक बनता है।[१] जिस प्रकार घन और उसके नीर मे प्रकाशित आकाश की सत्ता मूलाकाश के अतिरिक्त मिथ्या है, उसी प्रकार ब्रह्म मे इतर भासमान (ईश्वर एवं जीव की) सत्ता भ्रान्ति-मय है। माया का स्व-रूप पञ्चदशी इन्द्रजाल के सन्निभ अनिर्वचनीय मानती है। मायोत्पन्न जगत् भी तद्रूप है। चिदाभास भी जगन्मय होने के कारण मायाजात जड़जगत्वत् मिथ्या रूपात्मक है।[२]

पञ्चदशी एक चारू सन्देह उठाते हुये चारूत्वेन उसका निराकरण भी प्रस्तुत करती है। जो वस्तु असत् है, उसका भास या प्रतीति क्यों मान्य है? क्योंकि सत्ताहीन वस्तु का प्रतीत होना उपयुक्त नहीं। ईश्वर, चिदाभास तथा अन्य सांसारिक वंस्तुयें वस्तुतः मिथ्या हैं, पर व्यवहार मे इनकी प्रतीति होती है। ऐसा होता क्यों है? इस प्रतीति का हेतु मायात्व है। माया का वैशिष्ट्य है कि, जो पदार्थ जैसा नहीं है, उसका उस रूप मे प्रतीति करवा देना। परन्तु माया द्वारा प्रतीति-सत्तात्मक पदार्थ उसी तरह से असत् मान्य हैं, जैसे स्वाप्न पदार्थ।[३]

पञ्चदशी जीवास्तित्व के सन्दर्भ मे आभास के साथ बिम्ब-प्रतिबिम्ब-भाव का भी उल्लेख करती है। पर यहां आभास एवं प्रतिबिम्ब का स्वरूप एक जैसा है, अर्थात् इन दोनो मे भेद दृष्टि-गत नहीं होता। आचार्य विद्यारण्य का स्पष्ट अभिधान है-

ईषद्भासनमाभासः प्रतिबिम्बस्तथाविधः।[४]
बिम्बलक्षणहीनः सन्बिम्बवत् भासते स हि।। (प.द. ८/३२)

आभास तथा प्रतिबिम्ब की एकार्थता के ही कारण पञ्चदशी-प्रणेता शाङ्करभाष्यान्तर्गत 'आभास एव च'[५] ब्रह्म-सूत्र के भाष्य मे आभास के

---

१. पं. द. १५६
२. अवलोक्य, पं.द. ७/२१७ एवम् इसकी पददीपिका
३. भातीति चेद्भातु नाम भूषणं मायिकस्य तत्।
यदसद्भासमानं तन्मिथ्या स्वप्नगजादिवत्॥ (पं.द. २/००)
४. 'प्रतिबिम्बाङ्गीकारे चिदाभासः कथमङ्गीकृतः स्यादित्याशङ्क्य, प्रतिबिम्बाभासशब्दाभ्याम- भिधेयस्य अर्थस्य ऐक्यादित्याह.....' (द्रष्टव्य, पं.द. ८/३२ के पूर्व की रामकृष्ण टीका)
५. ब्र.सू. २/३/५०

लिये दत्त जलसूर्यक के दृष्टान्त को प्रतिबिम्ब के दृष्टान्तरूप मे प्रस्तुत करते हैं। मन की शान्त, घोर एवं मूढ़ (वैराग्य, क्षमा, उदारता, तृष्णा, स्नेह, राग, लोभ, सम्मोह, भय आदि) वृत्तियों मे ब्रह्म-चित्, प्रतिबिम्बित होता है। इसके फलस्वरूप ये वृत्तियां चैतन्याभास के रूप मे दृष्टि-गोचर होती हैं। ब्रह्म का आनन्द रूप (मात्र) शान्त-वृत्तियों मे प्रतिबिम्बित होता है, इसीलिये इनमे आनन्द की भी अनुभूति होती है। विचिकित्सा का उदय होता है कि, जब ब्रह्म के चैतन्य से शान्त (सत्त्वोत्पन्न), घोर (रजोगत) एवं मूढ़ (तमसोत्पादित) - तीनो वृत्तियां भासित होती हैं, तो आनन्द का प्रतिबिम्बन क्यों मात्र शान्त मे ही सम्भाव्य है? शान्तेतर वृत्तियों मे ब्रह्मानन्दत्व के प्रतिबिम्बाभाव का कारण पञ्चदशी निम्न मानती है। आनन्द का प्रतिबिम्बन वहीं सम्भव है, जहां प्रतिबिम्बित होनेवाला पदार्थ मलिनता से रहित हो। इस प्रकार की विशेषता सात्त्विक वृत्ति के अतिरिक्त राजस तथा तामस वृत्तियों मे नहीं लब्ध होती। अतः आनन्द का प्रतिबिम्बन इनमे नहीं हो सकता। प्रश्न उठता है कि, मलिनता के सद्भाव मे इनमें चित् का भासन कैसे होता है। पञ्चदशी की दृष्टि मे चैतन्य के प्रतिबिम्बन के लिये यदि शुद्धता किञ्चिन्मात्र हो, तो भी यह शक्य है, वह इन वृत्तियों मे लभ्य है। पर आनन्द के प्रतिबिम्बन हेतु नैर्मल्य का आधिक्य होना चाहिये, इसका इनमे अभाव रहता है। इसलिये आनन्द का प्रतिबिम्बन राजस-तामस- वृत्तियों मे सम्भव नहीं। इसको लौकिक उदाहरणो द्वारा इस तरह समझा जा सकता है - लोक मे अग्नि के औष्ण्य का सङ्क्रमण जल मे दिखालाई पड़ता है, किन्तु इसका प्रकाश जल मे सङ्क्रमित नहीं होता। अग्नि की इस उष्णता तथा इसके प्रकाश के सङ्क्रमणासङ्क्रण के सदृश ब्रह्म के चित् एवम् आनन्द का भासाभास घोर और मूढ़वृत्तियों मान्य है। जल से भिन्न काष्ठादि मे अग्नि की दाहकता एवं प्रभा - दोनो का सङ्क्रमण देखने मे आता है। काष्ठादि के समान शान्त वृत्ति मे ब्रह्म के चित् तथा आनन्द - उभय का प्रतिबिम्बन शक्य है। लोकानुभव से भी शान्त-वृत्ति मे सुखानुभूति की पुष्टि होती है। इसके विपरीत घोर और मूढ़ वृत्तियों मे सुखानुभव किसी को नहीं होता।[१]

---

१. न घोरासु न मूढ़ासु सुखानुभव ईक्ष्यते।
शान्तास्वपि क्वचित्कश्चित् सुखातिशय ईक्ष्यताम्॥ (पं.द. १५/१३)

आभास एवं प्रतिबिम्ब को एक ही अर्थ मे प्रयुक्त करते हुये विद्यारण्य ने बुद्धि वासनाओं मे आभासित अथवा प्रतिबिम्बित पदार्थ को चिदाभास के रूप मे प्रतिष्ठा दी है। धी-संस्कारों मे प्रतिबिम्बित चैतन्य का स्वरूप मेघ मे प्रतिबिम्बित अभ्र के सदृश है।[१] धाराधर मे पुष्कर- प्रतिबिम्बित रूप का बोध प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा नहीं होता। अनुमान द्वारा यह बोध्य अवश्य है। बुद्धि मे चैतन्य का प्रतिकृति-रूप भी घनाकाश की भांति अनुमान द्वारा जाना जाता है। बलाहकस्थ जल मे व्योम की प्रतिच्छवि है, यह इसके सजातीय घट-स्थित जल मे प्रतिबिम्बित आकाश के द्वारा (अनुमान से) ज्ञेय बनता है। बुद्धि-वासनाओं मे चित् का प्रतिबिम्ब पड़ता है, अनुमान द्वारा इसका ज्ञान इसलिये अङ्गीकार्य है, क्योंकि ये वासनायें भी बुद्धि-वृत्ति की तरह धी की विशेष अवस्थायें हैं। अतः चित् को प्रतिच्छाया से युक्त स्वीकार किया जाना निर्विवाद है। विज्ञानमय एवम् आनन्दमय कोश की बुद्धि भी क्रमशः आत्मा के चित् तथा आनन्द की प्रतिच्छाया से सम्पृक्त रहा करती है। चिदाभास-संश्लिष्ट बुद्धि विज्ञानमय रूप मे (जाग्रतावस्था मे) नख से शिख पर्यन्त व्याप्त रहती है। यही अन्तर्मुखी धी वृत्ति जीव के पुण्य-भोग-काल मे (पुण्यजन्य सुखानुभूति के समय) आत्मानन्द के प्रतिबिम्ब से युक्त रहा करती है।[२]

पूर्व मे शाङ्कर आचार्यों को मान्य आभास और प्रतिबिम्ब की चर्चा करते हुये इस बात का उल्लेख किया गया है कि, आभास मे ईश्वर तथा जीव का मिथ्यात्व एवं प्रतिबिम्ब मे इनके ब्रह्माभेद की स्थिति परिनिष्ठित होती है। पञ्चदशी चूंकि, आभास और प्रतिबिम्ब मे भेद नहीं करती, अतः इसकी मान्यता मे आभास अथवा प्रतिबिम्ब रूप मे अस्तित्ववान् जीव तथा ईश्वर का रूप एक जैसा ही है। जहां तक आत्मा या ब्रह्म से जीव एवम् ईश के भैन्नाभैन्न तथा सत्-असत् का प्रश्न है, वह अवश्य विचारणीय है। आभास उताहो प्रतिबिम्ब के रूप मे प्रतीत होने वाली सत्तायें अपने

---

१. (क) या बुद्धिवासनास्तासु चैतन्यं प्रतिबिम्बति।
मेघाकाशवदस्पष्टचिदाभासोऽनुमीयताम्॥ (पं.द. ६/१५३)
(ख) वही, १३/९१

२. कदाचित्कत्वतो नात्मा स्यादानन्दमयोऽप्ययम्।
बिम्बभूतो य आनन्द आत्माऽसौ सर्वदा स्थितेः॥ प. द, ३/१०

अधिष्ठान से भिन्न हैं। चैतन्य का माया एवम् अविद्या मे प्रतिबिम्बित चिदाभास क्रमशः ईश्वर तथा जीव का स्वरूप है। प्रतिबिम्बित (या आभासित) चित् सत् इसलिये नहीं हो सकते, क्योंकि ये माया/अविद्या के प्रतिफलित रूप हैं। माया अनिर्वचनीय सत्ता है। इसलिये इससे आभासित सत्तायें अनिर्वचनीय लक्षणी ही होंगी। प्रतिबिम्ब रूप मे दिखलाई पड़ने वाले चैतन्याभास आविर्भाव एवं विनाश जैसे दोषों के आस्पद बनते हैं। इनमे सर्वदा एकरूपता नहीं रहती। सदस्तित्व के लिये किसी वस्तु की व्यक्ति के पूर्व (अर्थात् कार्यरूप मे आविर्भूत होने के पहले), अभिव्यक्ति-काल मे (अर्थात् कार्य के रूप मे व्यक्त होने पर) तथा अभिव्यक्ति के उत्तर मे (अर्थात् कार्य रूप के विनष्ट होने पर) एक रूप होना चाहिये। मृत्तिका और घट के लौकिक उदाहरण मे यह वैशिष्ट्य मृत्तिका मे विद्यमान है।[१] चित्प्रतिकृतियां सङ्गत्व तथा विकृति-वशात् आत्म-तत्त्व से निम्न स्वीकार्य हैं।[२] यहां एक जिज्ञासा जन्म लेती है कि, माया एवम् अविद्या मे चित् तत्त्व का प्रतिबिम्बन क्या चैतन्याधिष्ठान के विना सम्भव है? इसका शमन पञ्चदशी 'कथमपि नहीं' इस वाक्य के द्वारा करना चाहती है। ऐसी स्थिति मे आभास/प्रतिबिम्ब रूप मे दृष्टि-पथ पर आने वाले चिदाभास को क्या पूर्णतः असत् कहा जाना निर्दुष्ट है? शायद नहीं, इसीलिये आचार्य विद्यारण्य की दृष्टि मे जीव और ईश्वर की सत्ता तत्त्वतः सत् है, परन्तु भासतः अविद्या तथा माया से सम्बद्ध होने के कारण असत् है। चिदाभासों का यही रूप विकृत्यात्मक अर्हता को भी आप्त करता है। माया/अविद्या की प्रतिबिम्बात्मक वशगता दूर होते ही चैतन्याभास रूप मे प्रतीत होने वाला, तत्त्व स्व-शुद्ध रूप मे स्फुट हो जाता है।

माया अथवा शक्ति का रूप विलक्षण (अचिन्त्य) है, इसकी चर्चा पिछले परिच्छेदों मे प्रसङ्गानुकूल की गयी है। शक्ति का वैलक्षण्य यह है कि, यह कारण पर श्रित रहकर कार्योत्पत्ति कराने मे शक्त बनती है,

---

१. व्यक्तकाले ततः पूर्वमूर्ध्वमप्येकरूपभाक्।
सतत्त्वमविनाशं च सत्यं मृद्वस्तु कथ्यते॥ (पं. द.-१३।४४)

२. ससङ्गत्वविकासाभ्यां बिम्बलक्षणहीनता।
स्फूर्तिरूपपत्वमेतस्य बिम्बवद् भासनं विदुः॥ (वही, ८।३३)

पर न तो इसमे कारण के और न ही कार्य के रूपग धर्म मिलते हैं।[१] चिदाभासों की सृष्टि मे माया अधिष्ठान चिति एवम् आभासित इन रूपों से अपना पार्थक्य बनाये रहती है। इस कारण चिदाभास मायामय होकर भी माया से इतर दिखलाई पड़ते हैं। प्रतिबिम्बग सत्ता की असत्ता तथा इनकी भिन्नता के प्रति पञ्चदशीकार पूर्णतः सजग हैं। इनकी सजगता का ही यह एक उदाहरण है कि, इनके द्वारा बुद्धि-भाव-भावित चैतन्याभास (पूर्णतः) बुद्धि रूप नहीं अङ्गीकृत किया जाता। बुद्धि इससे भिन्न है। यहां आचार्य श्रुतियों की आप्तता को आधार बनाकर बुद्धि-उपाधि-विहीन परमात्मा के जीव-शरीर-प्रवेश का समर्थन करता है।[१]

आभास और प्रतिबिम्ब के लौकिक उदाहरणो मे भी आभासगत अथवा प्रतिबिम्बगत सत्ता के सत्यासत्य की सङ्गति देखी जा सकती है। जल मे दृष्ट अम्बर अर्थात् जलाम्बर - अपने इस रूप मे असत् है, क्योंकि यह अम्बर के जल मे प्रतिबिम्बन से उत्पन्न होता है। जल के न रहने पर अम्बर का यह रूप उत्पन्न नहीं होता और उत्पन्न होने के बाद भी जल के दूर करं देने पर यह नष्ट हो जाता है। पर जलाम्बर का अधिष्ठानात्मक रूप (तात्त्विक रूप) सत् है, क्योंकि वह अम्बर ही है। जलाम्बर जलो- पाधि जन्य है, इसलिये असत् है, किन्तु जलोपाधि रहित अम्बर निरूपाधिक है, अतः वह सत् है। इस प्रकार हम देखते हैं कि, आकाश का जल-प्रतिबिम्बग रूप भले ही सच्छून्य है, परन्तु उसका विम्बात्मक रूप समन्मय है। जलाम्बर के सन्निभ मुखाभास एवं जलसूर्यक आदि लोक-दृष्टान्तों मे भी आभासीय रूप की असत्ता, किन्तु इनके अधिष्ठान रूप की सत्यता प्रमाणित होती है।

आभास तथा प्रतिबिम्ब की भांति अवच्छेद सिद्धान्त की भी झलक पञ्चदशी मे मिलती है। अवच्छेद की पोषक माण्डूक्योपनिषद्-भाष्यकारिकाओं मे आचार्य गौड़पाद ने आकाश का दृष्टान्त देते हुये ब्रह्म की असङ्गता, अखण्डता, विकारशून्यता एवम् अद्वितीयता आदि की सिद्धि की है। उपाधि से युक्त होने पर असीम आकाश घटाकाश, मेघाकाश प्रभृति रूपों मे ससीम प्रतीत होता है। पर वस्तुतः यह सीमातीत है। घटादि उपाधियों के नष्ट होते ही घटाकाश आदि की प्रतीति नहीं होती, सम्प्रति असीम आकाश

---

१. न पृथ्वादिर्न शब्दादिः शक्तावस्तु यथा तथा।
अत एव ह्यचिन्त्यैषा न निर्वचनमर्हति॥

(पं.द. १३/३१)

२. धीयुक्तस्य प्रवेशश्चेन्नैतरेये धियःपृथक।
आत्मा प्रवेशं सङ्कल्प्य प्रविष्ट इति गीयते॥ (पं.द. ८/३६)

का ही दर्शन होता है। घटाकाश इत्यादि औपाधिक वस्तुओं की तरह आत्मा अविद्यादि उपाधियों के कारण उत्पत्ति-विनाशधर्मा असीम और नाना रूपों मे दृष्टि-गत होता है। परन्तु उपाधियों से अप्रभावित रहने पर यह असीम एवम् अद्वितीय रूप में द्रष्टव्य है।[1] उपाधि के ही कारण इसका जन्म और मरण भी होता हुआ दिखलाई पड़ता है। पर यह इन सबसे पर अनादि एवम् अनन्त है। देखने मे यह आता है कि, आकाश के एक होने पर भी घड़े, सकोरे, सुराही आदि मे दृष्टि-गम्य आकाश की सीमा, आकृति तथा संज्ञा मे भिन्नता रहा करती है। किन्तु आकाश अपने वास्तविक रूप मे असीम, एक आकृति वाला है। खवत् आत्म तत्त्व भी एक एवं निर्विशेष है[2]। पर अन्तःकरण की सीमाओं के कारण वह विविध प्रकार की शरीर और इन्द्रियों वाला सिद्ध होता है।

पञ्चदशी गौड़पादाचार्य की भांति परमार्थतः आत्मा की अद्वितीयता प्रतिष्ठापित करती है। यह (जिसका पूर्व मे आलोकन किया गया है) आत्म-तत्त्व मे स्वगत, सजातीय तथा विजातीय-भेदों का निरास करती हुयी इसकी अद्वयता को इसका निज रूप मानती है।[3] पञ्चदशी की मान्यता मे आचार्य गौड़पाद के सदृश व्योम की भांति आत्मा अवयवरहित समस्त सीमाओं से पर है।[4] ब्रह्म (अथवा आत्मा) मे पञ्चदशी-प्रणेता देश, काल एवं वस्तु-गत परिच्छेद का अभाव बतलाते हैं। सर्व-व्यापक होने के परिणति रूप देश की सीमा इस तत्त्व को बांध नहीं सकती। 'नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मम्' (मुण्डक १/१/६) प्रभृति श्रुति वाक्य इसके निदर्शन हैं। नित्य होने के परिणामतः कालीय तथा सर्वात्मक होने के कारण वस्तुग परिच्छेद के बन्धन से आत्म (या ब्रह्म) नितान्त मुक्त है। 'नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानां' (कठ. ५/१३), 'सर्वं ह्येतत् ब्रह्म' (माण्डूक्य ०-२) और 'आकाशवत् सर्वगतश्नित्यः' (श्वे. ६/१२) श्रुतियां आत्मा अथवा ब्रह्म की

---

१. आत्मा ह्याकाशवज्जीवैर्घटाकाशैखिोदितः।
घटादिवच्च सङ्घातैर्जातावेतन्निदर्शनम्॥ मा.भा.का. ३/३

२. रूपकार्यसमाख्याश्च भिद्यन्ते तत्र तत्र वै।
आकाशस्य न भेदोऽस्ति तद्वज्जीवेषु निर्णयः॥ वही ३/६

३. एकमेवाद्वितीयं सत्सिद्धमत्र तु केचन। (पं.द. २/२६)

४. ....तस्मान्ननिरंशसद्यथा वियत्॥ वही, २/२३

इसी अपरिच्छिन्नता का बोधक हैं। ब्रह्म को देश, काल एवं वस्तु की परिधि मे प्रबद्ध करने का कार्य माया द्वारा कल्पित है। अतएव आत्मा या ब्रह्म के मायिक तथा आविद्यक प्रपञ्च- यथा ईश, जीव एवम् अन्य समस्त चेतनाचेतन सृष्टि - अवच्छेद विशिष्ट हैं। आत्मा का यह अवच्छेदीय अस्तित्व अवास्तविक है। कुम्भ के विनष्ट होने पर यथा कुम्भाकाश आकाश रूप मे दृष्टिगत होता है, तद्वत् माया का प्रभाव हटते ही ब्रह्म/आत्मा अपने अनवच्छिन्न लक्षण मे स्फुरित होने लगता है। ब्रह्म/आत्मा का यही अनवच्छेद रूप उसकी निजता है। आत्मा का परिच्छेद रहित रूप इसके परिच्छिन्नगत लक्षण अर्थात् कर्तृत्व, भोक्तृत्व, सुख-दुःख, पाप-पुण्य, सबसे अछूता रहता है। घटाकाश के दृष्टान्त मे घटाकाश के धूल, धूमादि मलिनताओं से युक्त होने पर भी घट से अपरिच्छिन्न आकाश इस प्रकार की मलीमसताओं से अदूषित रहा करता है। आकाश के सदृश आत्मा भी अपने शुद्ध रूप मे औपाधिक दूषणो से असंस्पृष्ट रहा करता है।

चित् तत्त्व परमार्थतः एक होकर भी अध्यास के कारण जिन चार रूपों मे प्रतीत होता है - ये हैं - कूटस्थ, ब्रह्म, जीव एवम् ईश्वर। नभ एक है, किन्तु विभन्न पदार्थों के अवच्छेद से वह घटाकाश, महाकाश, जलाकाश तथा मेघाकाश के रूप मे दृष्टि-गोचर होता है। पञ्चदशी अविद्या-कल्पित स्थूल एवं स्थूल शरीर के अधिष्ठान (कूट की तरह निश्चल अर्थात् अप्रभावित रहनेवाले) चैतन्य को कूटस्थ तथा कूटस्थ पर आरोपित बुद्धि मे पड़े चैतन्य के प्रतिबिम्ब को जीव के रूप मे स्थिर करती है।[१] ब्रह्म अपने वास्तविक रूप मे नहीं, प्रत्युत मायी रूप मे जगत् की उत्पत्त्यादि का हेतु बनता है। इस प्रकार ब्रह्म की वैश्व-प्रपञ्च-कारणता आपाततः सिद्ध होती है। विश्व के प्रति ब्रह्म की उपादानता तथा निमित्तता - ईश्वर के रूप मे स्वीकार्य है। अन्तरिक्ष की चतुष्टयी प्रतीति - कुम्भान्तरक्षि, महान्तरिक्ष, जलान्तरिक्ष एवम् अभ्रान्तरिक्ष, जो दार्ष्टन्तिक मे क्रमशः आत्मा,

---

१. कूटस्थे कल्पिता बुस्तित्र चित्प्रतिबिम्बकः।
प्राणानां धारणाज्जीवः संसारेण स युज्यते॥ (पं.द. ६/२३)

ब्रह्म, जीव और ईश के लिये प्रयोज्य हैं। अम्बर का चार रूपों मे अवभास कुम्भादि अवच्छेदों के कारण होता है। इनसे अनवच्छिन्न रूप मे अम्बर एक है, वही इसका वास्तविक लक्षण है। एक शङ्का उठती है कि, उपर्युक्त व्योम के चार रूपों मे कुम्भ-व्योम, जलव्योम तथा अभ्र-व्योम को भले ही व्योम का अवच्छिन्न रूप माना जाय, किन्तु महाव्योम को तो अवच्छेद रहित स्वीकार किया जाना समीचीन है, क्योंकि वह निरवच्छिन्न अथवा निरूपाधिक है। इस शङ्का का निराकरण यह है कि, महाव्योम कुम्भ-व्योम आदि की तरह किसी पदार्थ से अवच्छिन्न प्रतीत नहीं होता। साथ ही उसकी महत्ता जो अवच्छिन्न घट व्योम आदि के कारण प्रतीत होती है, इससे उसके अनवच्छेद रूप का कोई सम्बन्ध नहीं है। वह एक तथा इस प्रकार की विशिष्ट प्रतीतियों से अलग हैं।

अवच्छिन्न आकाश की तरह ऊपर कहे गये (शुद्ध) चित्ति का भी चार रूपों मे पृथक्-पृथक् भासना माया/अविद्या की अवच्छिन्नता के कारण सम्भव होता है। ऊपर कथित दृष्टान्त के महाकाश की भांति आत्मा, जीव तथा ईश्वर से इतर ब्रह्म की प्रतीति माया आदि अवच्छेदों के कारण सिद्ध होती है, अन्यथा सभी एक अद्वितीय तत्त्व-रूप हैं।

पञ्चदशी द्वारा प्रतिपादित आभास, प्रतिबिम्ब तथा अवच्छेद - तीनो मे परमार्थता मात्र शुद्ध आत्मा अथवा ब्रह्म मे परिनिष्ठित होती है। आभास या प्रतिबिम्ब, आहो अवच्छिन्न रूप मे दिखलाई पड़नेवाले चिदाभास एवम् अन्य सांसारिक पदार्थ मृषा हैं। इनके द्वारा व्यवहार (प्रतीति) मे दृष्टि-गम्य जीव, ईश और अचेतन जगत् मात्र व्यावहारिक अथवा प्रतीतिगत अस्मिता रखते हैं। श्रुतियों द्वारा उक्त तथा वेदान्ताचार्यों को अभीष्ट ये वाद प्रतीयमान वस्तुओं की असत्यता, प्रतीत होनेवाले पदार्थों का तात्त्विक अधिष्ठान, तत्त्वेतर वस्तुओं की आधिष्ठानिक सत्ता पर मायाजन्य रूप मे असत्ता तथा औपाधिकता एवं सत्यता का मात्र अनौपाधिकता मे अस्तित्व - प्रभृति तथ्यों के उद्भासक हैं। इन वादों के द्वारा शाङ्कर वेदान्त भिन्न-भिन्न युक्तियों तथा उदाहरणो के द्वार से मात्र एक तत्त्व (ब्रह्म/आत्मा) मे सत्य का दर्शन करना चाहता है। पञ्चदशी भी आभास, प्रतिबिम्ब एवम् अवच्छेद की चर्चा

करती हुयी, सत्य के प्रतीयमान रूपों की उदाहरणों के माध्यम से असत्ता सिद्ध करती है। प्रतीति-गत पदार्थों से इतर ब्रह्म की ही सत्यता की दीप्ति पञ्चदशी की तत्त्वमीमांसा का अभिप्रेत है।

□□

ग्रन्थ-विवरणी

संक्षिप्त ग्रन्थ

क्र.	नाम	लेखक	प्रकाशन
१.	पञ्चदशी [रामकृष्ण की 'पददीपिका' तथा सागर की तत्त्व-रञ्जनी के साथ]	विद्यारण्य श्री कृष्णानन्द	चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी, प्रथम संस्करण - १९८४

सन्दर्भीय ग्रन्थ

क्र.	नाम	लेखक
१.	अद्वैतसिद्धिः	मधुसूदन सरस्वती
२.	आचार्य सायण और माधव	आचार्य बलदेव उपाध्याय
३.	इष्टसिद्धिः	विमुक्तात्मा
४.	इण्डियन फिलासफी भाग-२	डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन
५.	उपनिषदें : [नृसिंह, छान्दोग्य, तैत्तिरीय, बृहदारण्यक, ईश, कठ, प्रश्न, माण्डूक्य, केन, ऐतरेय, श्वेताश्वेतर]	
६.	उपदेश साहस्त्री	आ. शङ्कर
७.	ऋक्-सँहिता	
८.	कव्याख्या	अच्युतराय
९.	चित्सुखी	चित्सुखाचार्य
१०.	छान्दोग्योपनिषद्भाष्यम्	शङ्कर
११.	तैत्तिरीयोपनिषद्भाष्यम्	शङ्कर
१२.	नैष्कर्म्यसिद्धिः	सुरेश्वर
१३.	न्यायामृताद्वैतसिद्धिः	
१४.	न्यायमकरन्दः	आनन्दबोध
१५.	पञ्चपादिका	पद्मपाद
१६.	पञ्चदशी ए क्रिटिकल स्टडी	डॉ. शकुन्तला पुञ्जानी
१७.	प्रत्यभिज्ञाविमर्शिणी	अभिनवगुप्त

१८.	प्रयोगपारिजातः	नरसिंह
१९.	प्रकटार्थविवरणम्	प्रकटार्थकार
२०.	ब्रह्मसूत्रम्	वादरायण
२१.	ब्रह्मसूत्रम् भाष्यम्	शङ्कर
२२.	ब्रह्मसूत्रभाष्यम्	मध्व
२३.	ब्रह्मसिद्धिः	मण्डनमिश्र
२४.	बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्य वार्तिकम्	सुरेश्वर
२५.	भामती [ब्रह्मसूत्र शाङ्कर भाष्य की टीका]	वाचस्पति मिश्र
२६.	भारतीय दर्शन	आचार्य बलदेव उपाध्याय
२७.	महाभारतम्	व्यास
२८.	महाभारततात्पर्यनिर्णयः	मध्व
२९.	माण्डूक्योपनिषद् भाष्यकारिका	गौडपाद
३०.	योगवाशिष्ठः	वाल्मीकि
३१.	रामचरितमानस	गो० तुलसीदास
३२.	विवरणप्रमेयसङ्ग्रहः	विद्यारण्य
३३.	विवेकचूडामणिः	शङ्कर
३४.	वेदान्तपरिभाषा	धर्मराजाध्वरीन्द्र
३५.	वेदान्तसारः	सदानन्द
३६.	शुद्धाद्वैतमार्तण्डः	गिरिधरराज
३७.	श्वेताश्वेतरोपनिषद् भाष्यम्	शङ्कर
३८.	सर्वदर्शनसङ्ग्रहः	माधवाचार्य
३९.	साहित्यदर्पणः	विश्वनाथ
४०.	सारसङ्ग्रहः [सङ्क्षेप शारीरक की टीका]	मधुसूदन सरस्वती
४१.	सिद्धान्तलेशसङ्ग्रहः	अप्पय दीक्षित
४२.	सिद्धान्तविन्दुः	मधुसूदन सरस्वती
४३.	श्रीमद्भगवद्गीता	व्यास
४४.	स्कन्दपुराणम्	व्यास

लेखक - परिचय

नाम - (डॉ०) रमाकान्त शुक्ल

जन्मस्थान - जनपद-भदोही (वाराणसी)

शिक्षा - (१) एम. ए. (संस्कृत) (इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद)
(२) पी-एच.डी. (रानी दुर्गावती विश्वविद्यालय, जबलपुर)

प्राध्यापन-अनुभव - २७ वर्ष

विशेष : - १९८१ (अगस्त की अन्तिम तिथि) से इन्दिरा कला संगीत विश्वविद्यालय, खैरागढ़ (छ.ग.) के संस्कृत-विभाग में ध्यापन-सेवा-रत।

सम्प्रति - प्रवाचक एवम् अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग, इन्दिरा कला संगीत विश्वविद्यालय, खैरागढ़ (छ.ग.)

न्यू भारतीय बुक कॉर्पोरेशन

शॉप नं. 18, 5574-ए, चौ. कांशीराम मार्किट, दुर्गा कॉम्पलेक्स,
न्यू चन्द्रावल, दिल्ली-110007 फोन : 23981294
E-mail : deepak_nbbc@hotmail.com